विदूषक

अनु० डॉ० चन्दूलाल दुबे

साहित्य भवन प्रा० लि०
इलाहाबाद

विदूषक

लेखक

डॉ० गोविन्द केशव भट

एम० ए० पी-एच० डी०

अनुवादक

डॉ० चन्द्रलाल दुबे

एम० ए० पी-एच० डी०

साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड

इलाहाबाद-3

संस्करण	प्रथम—१९७०
प्रकाशक	साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद-३
आवरण	शि० गो० पाण्डेय
मुद्रक	राधा मुद्रणालय २००, भारती भवन, इलाहाबाद
मूल्य	पन्द्रह रुपया

अपने पूज्य स्व० पिता के चरणों में भेंट जिनके
विनोद भाव के कारण हमारे दैनिक
पारिवारिक जीवन की ग्रीष्मऋतु
में भी आशा की चाँदनी
छिटकी रहती थी।

प्रस्तावना

बम्बई विश्वविद्यालय ने सन् १९४४ई० में 'संस्कृत नाटकों में विदूषक' शीर्षक विषय शोध-प्रबंध के लिए घोषित किया। इस कारण मेरा इस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। उस समय मैंने अंग्रेजी में जो शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया उसे 'विश्वनाथ नारायण मंडलिक स्वर्ण पदक तथा पारितोषिक" प्राप्त होने का सौभाग्य मिला।

इस शोध-प्रबंध का प्रकाशन होने के लिए मैंने कई वर्षों तक प्रयास किया किन्तु मुझे निराशा ही हाथ लगी। शायद इसी लिए मैं कुछ उदासीन हो गया था। किन्तु सन् १९५० ई० में मुझे भास-सम्बन्धी कुछ गवेषणा करने के हेतु एर्नाकुलम जाने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय कोचीन के महाराजा हिज हाइनेस श्री राम वर्मा से मेरा परिचय हुआ। महाराजा संस्कृत के प्रकांड पंडित हैं और न्याय एवं साहित्य उनके विशेष विषय हैं। उनके साथ मैंने कुछ प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया। इसके परिणामस्वरूप महाराजा ने मुझे केरल के पारंपरिक अभिनेता वर्गो—शाक्यारों-द्वारा प्रस्तुत दो भिन्न प्रकार के संस्कृत के नाट्य- प्रदर्शनों को देखने का अवसर सुलभ कर दिया। इन नाट्य प्रदर्शनों का अवलोकन करने से भास के नाटकों के विषय में जिस प्रकार कुछ नयी बातें मालूम हुईं, उसी प्रकार यह भी मालूम हुआ कि केरल के रंगमंच पर विदूषक सम्पूर्ण नाटक को उसी तरह प्रस्तुत करता है जिस प्रकार, पुरानी परम्परा में' सूत्रधार' किया करता है। विदूषक से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों का निराकरण करने के लिए केरल रंगमंच की यह बात मुझे बहुमूल्य प्रतीत हुई। पिछले ५-६ वर्षों तक अन्य संदर्भ में भरत के नाट्यशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन करते समय, मेरे दिमाग में कुछ और भी बातें आयीं। इन दोनों का परिणाम यह निकला कि विदूषक की ओर मेरा ध्यान फिर गया और ५-६ वर्षों तक अध्ययन करने पर मुझे यह विश्वास हो गया कि इस विषय में अनेक नयी बातें हैं। प्रस्तुत ग्रंथ इसी शोध-अध्ययन का फल है।

विदूषक का अध्ययन करते समय, शुरू में ही दो अत्यंत विवादास्पद प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं—विदूषक का उद्भव और उसका विकास। चूँकि उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतम नाटकों में भी विदूषक का चित्रण सांकेतिक पद्धति में किया गया है, अतः अधिकांश विद्वानों की यह धारणा हुई कि विदूषक के 'उद्भव का प्रश्न संस्कृत नाटक के उद्भव से सम्बन्धित होना चाहिए' और इस प्रकार, उन्होंने नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा के अनुसार विदूषक के उद्भव की

विवेचना की । डा० कीथ ने इन विभिन्न मतों पर अपने ग्रंथ 'दि संस्कृत ड्रामा' में प्रकाश डाला है और साथ ही इन मतों के दोषों का भी दिग्दर्शन कराया है । इतना ही नहीं, इस सम्बन्ध में अपना मत भी प्रकट किया है । मुझे अपने शोध एवं अध्ययन से जो नया विवरण प्राप्त हुआ है उसको दृष्टि में रखते हुए मुझे उपर्युक्त एक भी धारणा सन्तोष-जनक नहीं प्रतीत हुई ।

विदूषक की भूमिका में ब्राह्मण का मज़ाक उड़ाया गया है, वह प्राकृत भाषा बोलता है । इस कारण एक धारणा यह है कि यह पात्र विदूषक प्राकृत नाटक या लोक नाटक से संस्कृत के रंगमंच पर अवतीर्ण हुआ । डा० कीथ ने यह दिखा दिया है कि यह धारणा दोषपूर्ण है । यह सही है कि विदूषक ब्राह्मण का मजाक उड़ाता है, किन्तु वह अन्य लोगों का भी मजाक उड़ाता है और नाटक का नायक राजा भी इससे मुक्त नहीं है, यह बात कैसे भुलाई जा सकती है ? इसके अतिरिक्त डा० कीथ ने यह भी बताया है कि संस्कृत के नाटक के उद्भव से पूर्व लोकनाट्य या प्राकृत नाटकों का अस्तित्व होने की बात सन्देहास्पद है । आज यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह बात निराधार है । इधर जावा द्वीप की नाट्यकला का जो इतिहास उपलब्ध हुआ है, इससे यह स्पष्ट हो गया है कि जावा के नाटकों का उद्भव संस्कृत के नाटकों के प्रभाव से हुआ है । जावा के इन नाटकों में विदूषक जैसा पात्र रहता है और उसकी भाषा वहाँ की अत्यंत प्रौढ़ भाषा, अर्थात संस्कृत-सदृश है । इसका अर्थ यह है कि संस्कृत भाषी विदूषक से जावा के नाटकों में मजाकिया पात्र का निर्माण हुआ । इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि भले ही अश्वघोष, भास आदि आरंभ के साहित्यकारों के साहित्य से लेकर परवर्ती संस्कृत-प्राकृत के नाटकों तक विदूषक की भाषा प्राकृत हो, किन्तु आरंभ से वह ऐसी नहीं थी । इसलिए विदूषक या उसकी भाषा से प्राकृत का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह बात सन्देहरहित है ।

सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि संस्कृत के नाटकों का उद्भव प्राचीन धार्मिक विधियों से हुआ है । इसी आधार पर डा० कीथ ने विदूषक का उद्भव धार्मिक विधियों में ही ढूँढने का प्रयास किया है । उनके मतानुसार 'सोमयाग' में महाव्रत नामक विधि में वर्णित ब्रह्मचारी से विदूषक की उत्पत्ति हुई है । इस विधि में ब्रह्मचारी और पुंश्चली का वार्तालाप है जो अश्लील है । डा० कीथ के अनुसार, यह वार्त्तालाप प्राकृत में होना चाहिए और विदूषक एवं दासी के बीच सामान्यतः होने वाली गाली-गलौज का उद्भव उक्त वार्त्तालाप में है । इस बात को समझने पर विदूषक के द्वारा ब्राह्मण का मजाक उड़ाना और उसकी प्राकृत भाषा का रहस्य मालूम हो जायेगा । इसके अतिरिक्त, यह माना जाता है कि विदूषक में जो एक अपरिहार्य शारीरिक विकृति है उसकी उत्पत्ति सोमयाग की 'सोमक्रयण' नामक एक अन्य विधि से हुई है ।

इस विधि में सोमवल्ली की खरीद शूद्र से की जाती है और ,सोमक्रयण' के सम्पन्न होने पर निर्धारित मूल्य देने के बजाय अन्त में शूद्र को मार डाला जाता है। इस घटना से विदूषक की विकृति और हास्यास्पदता की उत्पत्ति है। इस प्रकार, डा० कीथ का आग्रह था कि विदूषक की उत्पत्ति धार्मिक विधियों से होने के कारण उनकी उपेक्षा करके सामाजिक आधारों को खोजना न केवल गलत बल्कि पागलपन है। डा० कीथ के इस मत का प्रभाव अधिक पड़ने का कारण यह रहा कि विदूषक विषयक अनेक प्रश्नों का समाधान उक्त सिद्धान्त से होता है या इसलिए भी कि विदूषक की उत्पत्ति और विशेषताओं का आधार वेदों में भी मिलता है।

किन्तु विचार करने पर इस धारणा का दोष ध्यान में आये बगैर नहीं रहता। मैंने उस ब्रह्मचारी पुंश्चली वार्तालाप की परिश्रमपूर्वक खोज की है जिसको डा० कीथ ने आधार के रूप में ग्रहण किया है। यह वार्तालाप 'लाट्यायन श्रौत्रसूत्र' में है और दिलचस्पी की बात तो यह है कि वह संस्कृत में है। अश्वमेध की विधि में भी रानी को जिन मंत्रों का उच्चारण करना पड़ता है, उसका अर्थ अश्लील है, किन्तु ये मंत्र भी संस्कृत में हैं। अतः इसमें प्राकृत भाषा का मूल खोजने का डा० कीथ का प्रयास निःसंदेह निराधार है। वास्तव में इस विधि की प्रेरणा और प्रयोजन पूर्णतया धार्मिक है और उसका एक प्रतीकात्मक अर्थ है ? इसी प्रकार विदूषक की शारीरिक विकृति के मूल का पता लगाने के लिए सोमक्रयण के शूद्र का आधार लेने की भी आवश्यकता नहीं है। शारीरिक विकृति तो हास्य रस की सृष्टि का एक प्रभावकारी साधन है जिसका उपयोग पाश्चात्य नाट्य साहित्य में भी किया गया है। स्वयं प्लेटो ने कहा है कि मज़ाकिया पात्र 'कुरूप' रहना चाहिये।

इधर प्राध्यापक जे० टी० पारिख ने अपनी पुस्तिका में विदूषक की अवस्था निश्चित करने का प्रयास किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि वह युवक छात्र होना चाहिए (दि विदूषक : थियरी एंड प्रैक्टिस) । एक अन्य निबन्ध में उन्होंने यह प्रतिपादन किया है स्वप्नवासवदत्त, नाटक के पहिले अंक में जिस ब्रह्मचारी का प्रवेश है वह विदूषक वसंत ही है (बुलेटिन आफ दि चुन्नीलाल गांधी विद्याभवन क्र० २, अगस्त १९५५) इन दोनों प्रतिपादनों का उद्देश्य क्या है, यह कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया है किन्तु ऐसा लगता है कि वे (श्री पारिख) डा० कीथ के इस मत के समर्थक हैं कि महाव्रत के प्रकरण में वर्णित ब्रह्मचारी से विदूषक की उत्पति हुई है। यदि ऐसी बात है तो यह धारणा भ्रामक है।

(१) कुछ स्थानों पर 'बटु' शब्द का प्रयोग विदूषक के लिए किया गया है, इसी आधार पर श्री पारिख ने यह निष्कर्ष निकाला है कि विदूषक युवक है, ब्राह्मण विद्यार्थी है। यह सही है कि 'बटु' का अर्थ युवक विद्यार्थी होता है, किन्तु इस शब्द के प्रयोग

मात्र से यह सामान्य सिद्धान्त कैसे निर्धारित किया जा सकता है कि सभी विदूषक बटु होते हैं। संस्कृत के नाटकों में नायक के सहचर के रूप में विदूषक को प्रस्तुत किया जाता है। दो एक अपवादों को छोड़कर ये नायक 'युवक लड़के' नहीं होते। कुछ राजा-नायक तो बहुपत्नीक होते हैं। अतः यह मानना ही हास्यास्पद है कि ऐसे अधेड़ उम्र के नायकों का सहचर कोई ऐसा लड़का होगा जो हँसाये और बुद्धिमत्ता के साथ बोले।

(२) इसके अतिरिक्त हर्ष, राजशेखर, तथा महादेव आदि नाटककारों ने विदूषक को विवाहित बताया है। राजशेखर के अनुसार विदूषक परिवारवाला व्यक्ति है और 'विद्धशालभञ्जिका' नाटक में विदूषक की पत्नी को रंगमंच पर लाया गया है। अद्भुतदर्पण नाटक में विदूषक बड़े गर्व के साथ कहता है कि 'मेरे घर में हर वर्ष बच्चा पैदा होता है।' इन सब प्रमाणों की उपेक्षा करना सुविधाजनक होने पर भी उचित नहीं कहा जा सकता।

(३) तीसरी बात यह है कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक में माढव्य अपने को 'युवराज' कहता है। इस कथन को उसकी छोटी उम्र का प्रमाण मान लेना यह स्वीकार करता है कि कालिदास को नाटक लिखने की कला का मर्म ज्ञात नहीं था। दुष्यन्त, जिसका सहचर विदूषक था, छोटी उम्र का नहीं था। पहिले से ही उसकी दो रानियां थीं। इसके अतिरिक्त, इतिहास से यह स्पष्ट रूप से दिखायी देता है कि यह आवश्यक नहीं कि युवराज हमेशा युवक लड़का ही हो। जब तक राजा गद्दी पर बैठा है, तब तक उसके पुत्र या उत्तराधिकारी को 'युवराज' की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसमें उम्र का कोई सवाल नहीं उठता। सही बात यह है कि विदूषक की इस उक्ति से कालिदास ने यह नाटकीय ढंग से ध्वनित किया है कि दुष्यन्त निःसंतान था। यदि विदूषक अपने को दुष्यन्त का 'छोटा भाई' मानकर चले तो इसमें कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। दुष्यन्त की माता उसी रूप में समझती थी। भाई का रिश्ता नाता तो सामान्य है, किन्तु 'युवराज' की उपाधि ऐसी नहीं है कि उसे प्रत्येक व्यक्ति धारण कर सके। मजाक के तौर पर ही क्यों न हो, विदूषक खुद को युवराज कहता है। इसका अर्थ यही है कि यह उपाधि धारण करने वाला दुष्यन्त का कोई उत्तराधिकारी नहीं है। अतः 'युवराज' शब्द से विदूषक की उम्र निश्चित नहीं होती। दुष्यन्त के कोई पुत्र नहीं था, यही इसका स्पष्ट अर्थ है। इस अर्थ को ध्यान में रखने पर 'बटु' शब्द के अर्थ को अनावश्यक रूप से विस्तृत करना गलत होगा। अंग्रेजी भाषा में जिस प्रकार chap, old boy' शब्दों का बोलचाल की भाषा में एक निश्चित अर्थ होता है' उसी प्रकार 'बटु' शब्द का भी निश्चित अर्थ होता है। यहाँ शब्द कोश देखने की नहीं बल्कि बोलचाल की भाषा का व्यवहार देखने की ही आवश्यकता है।

(४) किसी विषय के विवरण की सूक्ष्म विवेचना में निपुण संस्कृत के विद्वानों

द्वारा विदूषक की उम्र के बारे में एक शब्द भी न लिखा जाना वैसे तो आश्चर्य की ही बात है पर सच पूछा जाय तो विदूषक की उम्र का निश्चय करने का प्रयास करना निरर्थक है। विद्वानों ने ऐसा प्रयास न करके ठीक ही किया है। मजाकिया पात्रों की क्या कोई उम्र होती है? मजाक न तो कभी नया होता है और न कभी पुराना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि किसी विदूषक की उम्र का पता लगाना हो तो किसी नाटक में उल्लिखित प्रमाणों की जाँच करके ही विदूषक की उम्र का निश्चय किया जाना चाहिये, किन्तु विदूषक की उम्र के बारे में कोई सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करना तर्कसंगत नहीं होगा।

'स्वप्नवासवदत्त' नाटक के पहिले अंक में जिस ब्रह्मचारी का प्रसंग आया है, उसके विदूषक होने के सम्बन्ध में श्री पारीख की धारणा इसी प्रकार तर्कहीन है—(१) यौगंधरायण के कारनामों में विदूषक के शामिल होने की बात स्वीकार करने पर भी, यही दिखायी देता है कि इस नाटक में विदूषक का काम नायक को सांत्वना देने का है। दुःख के आवेग के समय उदयन को सांत्वना देने और वासवदत्ता की मृत्यु हो जाने के सम्बन्ध में उसके भ्रम को उपयुक्त समय के आने तक बनाये रखने का काम विदूषक के जिम्मे था। वासवदत्ता के विषय में वास्तविक स्थिति से वह अनभिज्ञ था, ऐसी बात नहीं थी। किन्तु रुमण्वान् को सब कुछ ज्ञात होने पर भी वह उदयन के साथ शोक कर ही तो रहा था। उदयन की तरह उसका भी अपनी देह और खाने-पीने की ओर ध्यान नहीं था। किन्तु राज्यलाभ के उद्देश्य की सिद्धि के लिए यौगंधरायण ने जो योजना बनायी थी, उसकी सफलता के लिए यह सब दिखावा करना जरुरी था। इसी प्रकार जब विदूषक वासवदत्ता के मृत होने की घोषणा करता है या उदयन के सपने को एक भ्रम निरूपित करता है, उस समय वह उक्त योजना के अन्तर्गत अपने काम को ही पूरा करता है। उदयन के संतोष के लिए उसने जो यह कहा है कि राजमहल में अवंतिसुन्दरी नाम की यक्षिणी रहती है, वह तुमको दिखायी पड़ी ही होगी, उसका आशय सरलता से समझ में आता है। मगध के राजमहल में वासवदत्ता पद्मावती की सहेली बनकर गुप्त वेश में रहती थी। उसके विषय में सही जानकारी किसी को नहीं थी। किन्तु उसकी सुन्दरता, उसका मधुर स्वभाव, फूलों का हार बनाने जैसी कला में उसकी कुशलता और ठीक परिचय न मिलने से उसका एक रहस्य बना रहना, इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि अन्तःपुर में यह धारणा फैल गयी कि वासवदत्ता कोई शापभ्रष्ट देवता—यक्षिणी—है और इसमें आश्चर्य की बात नहीं थी। राजमहल की दासियों की ओर से यह बात विदूषक को मालूम होनी असंभव नहीं थी।

(२) ब्रह्मचारी लावाणक की घटनाओं का जो वर्णन करता है, उसमें रुमण्वान् का उल्लेख तो करता है, पर विदूषक का उल्लेख नहीं करता। इससे यह निष्कर्ष कैसे

निकाला जा सकता है कि ब्रह्मचारी ही विदूषक है। 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवंति' इस न्याय से मंत्री का उल्लेख अपरिहार्य है। सामाजिक जीवन में और संस्कृत के नाटकों में भी विदूषक का दर्जा गौण ही है। इस लिए उक्त वर्णन में विदूषक का नामोल्लेख न होना स्वाभाविक ही है।

(३) बृहत्कथा में वर्णित कथा में यह लिखा है कि वासवदत्ता और यौगंधरायण के साथ वेश बदलकर विदूषक भी था। किन्तु यह कहना कि भास ने भी यही बात दिखायी है, यह स्वीकार करना है कि मूल कहानी और नाटककार द्वारा उसमें किये गये परिवर्तन का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि ब्रह्मचारी को ही विदूषक मान लेने से नाटक में ही एक हास्यास्पद असंगति पैदा हो जायेगी। पहिले अंक में ब्रह्मचारी के प्रसंग में उसकी भेंट पद्मावती और कांचुकीय से होती है। इसके बाद जब उदयन के साथ रहने के लिए विदूषक राजमहल में आता है, उस समय कांचुकीय या पद्मावती को विदूषक के दिखाई देने पर उसके (विदूषक के) ब्रह्मचारी होने की बात की बिल्कुल जानकारी का न हो सकना क्या संभव है ? क्या भास ऐसा बुद्धिहीन नाटककार था कि अपने नाटक में ऐसी असंगति रहने देता (विस्तृत विवेचना के लिए मेरी पुस्तक स्वप्नवासवदत्त : मराठी सम्पादन ढ़वले, बम्बई की प्रस्तावना पढ़िये)। अन्त में यह कहना पड़ेगा कि विदूषक की उम्र निश्चित करके इस बात का प्रतिपादन करने का प्रयास करना कि ब्रह्मचारी ही विदूषक है निरर्थक है।

अपने अध्ययन से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के नाटकों तथा विदूषक के उद्भव के दो प्रश्नों को परस्पर सम्बद्ध न करके स्वतन्त्र रूप से ही हल करना होगा। माना कि संस्कृत के नाटकों की उत्पत्ति धार्मिक विधियों से हुई, किन्तु यह मान लेना कि विदूषक की उत्पत्ति भी धार्मिक विधियों से हुई, उचित न होगा। विदूषक नामक पात्र का निर्माण परिहास करने और हास्यजनक अनुकरण करने के उद्देश्य से किया गया है और भारतीय संस्कृति की परम्परा में हमारे यहाँ धर्म या धार्मिक विधियों का हास्यजनक अनुकरण नहीं किया जा सकता। यदि कोई ऐसा करे भी तो उसे अधिक समय तक लोकप्रियता प्राप्त हो ही नहीं सकती। भारत में धर्म सम्बन्धी भावना इतनी प्रबल है कि यदि धार्मिक विधियों के हास्यजनक अनुकरण से विदूषक का जन्म हुआ होता तो संस्कृत के रंगमंच पर उसका अस्तित्व इतने शतकों तक न रहा होता। अतः विदूषक विषयक विवादास्पद प्रश्नों को हल करने के लिए हमें अन्य दिशा में प्रयास करना चाहिये।

भरत के नाट्यशास्त्र तथा अर्वाचीन देशी रंगमंच के इतिहास का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक का आरम्भ देवताओं आदि के और पौरा-

णिक कथानकों के आधार पर हुआ है। भरत द्वारा वर्णित प्रथम नाटक प्रदर्शन का विषय देवासुर संग्राम है। यदि हम ऐसी कल्पना करें कि इसमें असुर का रूप विकृत और हास्यजनक ढंग से दिखाया गया होगा, तो भी हमें इस कल्पना पर हँसी नही आनी चाहिये। हमारे यहाँ 'सौभद्र' नाटक में सोयी हुई सुभद्रा को उसके महल से उठाकर लाने वाले घटोत्कच की भूमिका का मराठी रंगमंच पर-कैसे अभिनय किया जाता है, इस बात को यदि हम समझें तो असुर की भूमिका के चित्रण के सम्बन्ध में कल्पना ठीक ही कही जायेगी। यूरोपीय नाटकों में भी हम देखते हैं कि शैतान, दुर्गुण या पाप का चित्रण कोई मजाकिया पात्र ही किया करता है। अतः असुर पहला मजाकिया पात्र है। विदूषक की भी शारीरिक विकृति का यदि कोई प्राचीन धार्मिक आधार आवश्यक हो तो वह उक्त देवासुर संग्राम के नाटकीय प्रदर्शन में उपलब्ध हो जायेगा।

नाटकों के विकास का अगला चरण पौराणिक नाटक है। नाटकों का प्रवाह देवासुर संग्राम और देवताओं की विजय के प्रतीकात्मक नाटकों में से गुजरकर देव कथा की ओर अर्थात् देवताओं के व्यावहारिक जीवन की तरफ मुड़ गया और नाटक रूप में ऐसे कथानक प्रस्तुत हुए जिनमें देवता आदि पात्र रहते थे, किन्तु उनमें मानवीय भावनाओं का दिग्दर्शन कराया जाता था। ऐसे नाटकों में नारद की भूमिका रहती थी। भरत ने लिखा है कि संस्कृत के नाटकों को व्यवस्थित रूप देने और उनमें संगीत का संनिवेश करने में नारद ने बहुत बड़ा योगदान दिया है। नारद ऐसा व्यक्ति जो वेदज्ञ होकर भी स्वभाव से मज़ाकिया था और दूसरों को लड़ाकर दूर से मजा लेने की उसकी आदत थी, देवनायक का मजाक किया किन्तु साथ ही बुद्धिमान सहचर होने की आवश्यक योग्यता नारद में पूर्णतया दिखायी देती है। इनके अतिरिक्त नारद की खड़ी शिखा को ध्यान में रहने पर हास्य रस को सृष्टि करने वाले एक पात्र का नमूना तैयार करने में देर नहीं लगेगी। इस प्रकार कम से कम मुझे तो यही लगता है कि संस्कृत के रंगमंच पर पहिला विदूषक नारद था।

भरत ने नाट्यशास्त्र में यह कथा लिखी है कि भरतपुत्रों ने नाटक को देखते हुए ऋषियों का मजाक किया। फलतः उन्हें शाप मिला। इसके बाद, राजा नहुष ने स्वर्ग से इस नाट्यकला को धरती पर लाने के जिए ब्रह्मदेव से प्रार्थना की। ब्रह्मदेव ने भी भरतपुत्रों को पृथ्वीतल पर जाकर अपने शाप का परिमार्जन करने का आदेश दिया। आधुनिक दृष्टि से इस कथा का एक अर्थ यह है कि नाटकों का प्रवाह पौराणिक कथानकों से होकर सामाजिक क्षेत्र की ओर मुड़ा। इसके अतिरिक्त, भरतपुत्रों के लिए ऋषियों का मजाक करने का मोह संवरण करना संभव नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में यह कहना पड़ेगा कि परिहास करना और उसके बाद हँसना मानव की एक मानसिक आवश्यकता है। विदूषक जैसे मजाकिया पात्र का निर्माण मानव की इसी

आवश्यकता की पूर्ति के लिए होता है। इसलिए बुद्धिमान की बातें सुनकर जब आदमी ऊब लाता है, तब उसे मूर्ख की बुद्धिमानी की बातें सुनने की इच्छा होती है।

हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि भरत ने भी विदूषक को दोहरी भूमिका दी है। विदूषक केवल नाटकीय पात्र नहीं है। पूर्वरंग में सूत्रधार और उसके सहायक पारिपार्श्विक के साथ विदूषक भी रहता है और नाटकारम्भ होने से पूर्व दर्शकों को हँसाने और उनका मनोरंजन करने का काम किया करता है। विदूषक पहले अभिनेता है। तब फिर नाटक में भाग लेता है। उद्भव-विकास का प्रश्न तो नाटकीय पात्र के संबन्ध में उत्पन्न होता है, अभिनेता पर लागू नहीं होता, यह स्पष्ट है। किन्तु भरत को जो यह अनुभव हुआ कि अभिनेता-मंडली के एक आवश्यक अंग के रूप में सूत्रधार के साथ विदूषक भी रहे, इसका कारण यह है कि जनसमूह का मनोरंजन करने के लिए हास्य आवश्यक है।

इस प्रकार, विदूषक की एक मानसिक और सामाजिक आवश्यकता है। किन्तु कला की दृष्टि से विदूषक का निर्माण होते समय विविध स्तरों पर अनेक प्रभावशाली घटकों का एकत्र होना अपरिहार्य है इसमें सन्देह नहीं। संस्कृत के उद्भव और विकास पर धर्म और धार्मिक धारणाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। विदूषक के मामले में यह प्रभाव हास्यजनक अनुकरण से उत्पन्न होने की संभावना नहीं है, क्योंकि भारतीय संस्कृति से यह मेल नहीं खाता। ऊपर यह बात लिखी जा चुकी है। किन्तु धार्मिक विधियों के प्रसंग में होने वाले लौकिक उत्सवों में या धार्मिक यात्राओं के बीच में होने वाले मनोरंजन की विधाओं में विनोद और हास्य का जो वातावरण रहता है उसका प्रभाव विदूषक पर पड़ना अनिवार्य है। केवल धार्मिक विचार की दृष्टि से असुर तथा देवता आदि के नाटकों में नारद विदूषक के पूर्वज हैं, यह मानना होगा।

आगे चलकर जब संस्कृत के नाटकों का मुख्यतया राजाओं के आश्रय में विकास होने लगा, तब संस्कृत के नाटकों का नायक राजा बना और नाटक सामाजिक बातों की ओर उन्मुख हुए। विदूषक के निर्माण में समाज के घटकों का संनिवेश हुआ। फलतः अशिक्षित और उदर-पोषण में निरत ब्राह्मण जाति के मज़ाक उड़ाने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ। धीरे धीरे संस्कृत के नाटकों को सांकेतिक और निश्चित आकार का रूप प्राप्त हुआ। इसका प्रभाव विदूषक के निर्माण पर भी पड़ा। मेरी दृष्टि में विदूषक के जन्म की यही कहानी है।

विदूषक के सम्बन्ध में अन्य प्रश्न भी विवादग्रस्त हैं। उनका संतोषजनक समाधान किये जाने की हमें जानकारी नहीं है। किन्तु मेरा विश्वास है कि संस्कृत का नाट्य-शास्त्र तथा नाटकों के रूप में उपलब्ध प्रायोगिक परम्परा के आधार पर इन प्रश्नों को हल किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, विदूषक का वर्णन करते समय भरत

ने उसे कुरूप बताया है जबकि कालिदास जैसे नाटककार ने विदूषक का वर्णन यह कहकर किया है कि वह बंदर जैसा दिखाई देता है। इस विकृति के कारण का पता लगाने के लिए न तो सोमक्रयण के शूद्र की जरुरत है और न तो ऋग्वेद के वृषाकपि की ही। इस विकृति के मूल में यदि कोई आधार है तो वह असुर के चित्रण का। हम सभी साहित्यों में देखते हैं कि हास्यरस की सृष्टि के एक अनिवार्य साधन के रूप में मज़ाकिया पात्र शारीरिक विकृति से युक्त रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ही विदूषक 'विकृतांग' बना।

विदूषक की जाति ब्राह्मण निश्चित होने का कारण विकास के क्रम में निर्मित कुछ संकेत ही हैं। भरत ने चार प्रकार के विदूषक बताये हैं। तापस, द्विज, राजजीवी और शिष्य। यद्यपि उपलब्ध नाटकों में ये सभी प्रकार दिखायी नहीं देते, फिर भी इस धारणा के लिए कि विदूषक हमेशा ब्राह्मण जाति का ही होना चाहिये, कम से कम भरतकृत वर्गीकरण में कोई आधार नहीं है, यह स्पष्ट है। नारद जैसे ब्राह्मण विदूषक के चित्रण में ब्राह्मण का मज़ाक उड़ाया जाना संभव नहीं है। वस्तुतः संस्कृत नाटक के विकास में सुखांत शृंगारप्रधान नाटकों को जिनमें राजा नायक रहता था, अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और नाटकों का यही प्रकार स्थिर हो गया। ऐसे नाटकों में, राजा का सहचर बनकर क्रियाशील, विदूषक का जाति से ब्राह्मण होना सर्वथा उचित ही था।

विदूषक की भाषा आरंभ से ही प्राकृत नहीं थी। जावा के नाटकों के प्रमाण का उल्लेख किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त, यह संभव नहीं था कि नारद जैसा पात्र प्राकृत का आश्रय लेता। राजाश्रय प्राप्त करके संस्कृत के रंगमंच का जब विकास हो रहा था, तब प्राकृत जन-साधारण की बोलचाल की भाषा हो गयी थी। भरत ने यह बात जोर दे कर कही थी कि नाटक में यथार्थ जीवन का चित्रण करने के लिए न केवल प्राकृत का बल्कि पात्रों के अनुरूप बोलबाल की अन्य भाषाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस समय के समाज में वेदाध्ययन न करने पर भी जन्म के आधार पर ब्राह्मण होने के नाते अधिकार माँगने वाला ब्राह्मणों का वर्ग मौजूद था। इसका प्रमाण संस्कृत साहित्य में स्पष्ट रूप से उपलब्ध है। इस वर्ग की भाषा प्राकृत थी, क्यों कि उसे संस्कृत आती नहीं थी। इसलिए विदूषक के चित्रण में ऐसे ब्राह्मणों का मज़ाक उड़ाते समय नाटककारों द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाना वास्तविकता के अनुरूप ही था। इसके अतिरिक्त यह भी जरूरी था कि विदूषक द्वारा उड़ाये गये मजाक से, चाहे वह ब्राह्मण जाति के सम्बन्ध में हो या राजा के सम्बन्ध में, दर्शकों को अवगत करने के लिए उनकी भाषा का सहारा लिया जाय। अन्यथा उस मज़ाक से आनन्द मिलना कठिन है। भरत द्वारा निर्धारित नियम के अनुसार, कथानक को

रचना में विदूषक नीच एवं अति गौण पात्र है और उसकी भाषा प्राकृत होनी चाहिए। नाटककारों ने भी इस नियम का पालन किया है। अतः सामाजिक, सांस्कृतिक और नाट्यकला सम्बन्धी अनेक कारणों से विदूषक की भाषा निश्चय ही प्राकृत है।

नाटक में विदूषक की भूमिका को ध्यान में रखने पर उसके नाम के रहस्य का भी पता चल जाता है। विदूषक का अर्थ गाली-गलौज करने वाला है और उसका सम्बन्ध ब्रह्मचारी-पुंश्चली वार्तालाप से है ऐसा डा० कीथ का कहना है। किन्तु उनका यह कथन निरर्थक है। खुद नाट्यशास्त्र में और सामाजिक जीवन का चित्र खींचने वाले 'कामसूत्र' में विदूषक के नाम की व्याख्या दी गयी है। विदूषक 'दूषक' होता है। अर्थात दोष ढूँढ़कर दिखाने वाला होता है, वह जीवन का भाष्यकार है। किन्तु दोष ढूँढ़कर दिखाने का उसका खास तरीका है। वह तरीका होता है, हँसी मजाक उड़ाने का। विदूषक के नाम का बस इतना ही अर्थ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में मैंने इन सब प्रश्नों की साधारण विवेचना की है। किन्तु साथ ही मैंने विदूषक की भूमिका एवं कार्य और साथ ही हास्य-विनोद की विवेचना पर भी ध्यान दिया है। ऐसा करते समय मैंने संस्कृत के साहित्य तथा शास्त्रों को जहाँ अपर्याप्त पाया है, वहाँ पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र तथा साहित्य का भी सहारा लिया है और इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन से इन प्रश्नों पर व्यापक प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

संस्कृत के नाट्यसाहित्य का अध्ययन करने वालों को यह बात मालूम है कि विदूषक एक सुनिश्चित स्वरूप का और सांकेतिक पात्र है। किन्तु मुझे उसके इस सुनिश्चित स्वरूप की और अवनति की विवेचना उपलब्ध नहीं हुई। मैंने वह प्रस्तुत की है और विदूषक सम्बन्धी अध्ययन करते हुए दुःखान्त (कामेडी) के मूलभूत स्वरूप पर प्रकाश डालने का भी प्रयास किया है।

शोध-प्रबन्ध के दूसरे खंड में भास से लेकर १७ वीं शती के महादेव कवि तक के और प्राकृत 'सट्टक' नाटक में उपलब्ध १६ विदूषकों की स्वभावगत विशेषताओं का चित्रण है। इसमें विदूषकों की व्याख्या होने के साथ ही उसके कार्यों और स्वभाव का विशद वर्णन है। मुझे विश्वास है कि इस चित्रण से विदूषक के विकास तथा उसकी अवनति की प्रक्रिया का ज्ञान होगा।

एक के बाद दूसरे प्रश्न को लेकर उसका विश्लेषण करने की प्रणाली मैंने इस शोध-प्रबंध में अपनायी है। बहुत से प्रश्न परस्पर सम्बद्ध होते हैं। इसलिए विवेचना में कुछ स्थानों पर पुनरुक्ति का होना अनिवार्य है। फिर भी मैंने पूर्ण विवेचना करने के उद्देश्य से इस प्रकार की पुनरुक्ति को टालने का प्रयास नहीं किया है।

इस शोध-प्रबन्ध में मैंने और एक बात की है। विदूषक की भाषा प्राकृत होने

के कारण उसके उद्गार प्राकृत में ही प्रस्तुत किये हैं । किन्तु मैंने इस प्रबन्ध के पाठकों की सुविधा के लिए उद्गारों का संस्कृत में रूपांतर प्रस्तुत किया है ।

यह शोध प्रबन्ध मूलतः अँग्रेजी भाषा में मैंने लिखा था । उसे दृष्टि में रखकर ही मैंने इस मराठी पुस्तक की रचना की । फिर भी यह बताना जरूरी है कि यह अनुवाद मात्र नहीं है । एक दृष्टि से तो यह पुस्तक एक स्वतंत्र रचना है ।

प्रारम्भ में मैंने इस बात की कल्पना भी नहीं की थी कि विदूषक जैसे संस्कृत नाटक के एक मामूली पात्र के विषय में इतनी बड़ी पुस्तक लिखी जायगी । किन्तु यह सही है कि मेरे अध्ययन को इतना बड़ा रूप प्राप्त हो गया और इस कारण संस्कृत के नाटकों, सुखान्त नाटकों और हास्य-विनोद का तुलनात्मक तथा व्यापक विवेचन किया गया ।

विदूषक के सम्बन्ध में मेरे निष्कर्ष बिल्कुल नये हैं । यदि विद्वानों को वे स्वीकार हों तो अनेक विवादास्पद प्रश्नों का समाधान हो जाने का संतोष मुझे प्राप्त होगा । फिर भी यदि इस दीर्घ विवेचन से गवेषणा के नये मार्ग दिखायी दिये और संस्कृत के नाटकों से सम्बद्ध प्रश्नों का विवेचन करने की प्रेरणा भविष्य में किसी को प्राप्त हुई तो भी मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा ।... पिछले ५-६ वर्षों में मैं जिस आनन्द के साथ इस विषय का एकाग्रचित्त होकर अध्ययन-मनन करने में लगा हुआ था उसका थोड़ा भी अंश यदि इस शोध-प्रबन्ध के पाठकों को प्राप्त हुआ तो भी मेरे लिए कुछ कम नहीं है।

गोविन्द केशव भट

'जदुबन' शाहपुरी, कोल्हापुर
माघ बदी त्रयोदशी, शक १८८० (महाशिवरात्रि)
(७ मार्च, १९५९)

अनुवादक की ओर से

हिन्दी नाट्यसाहित्य की आलोचना में विदूषक के बारे में नहीं के बराबर ही उल्लेख है। संस्कृत नाटकों के विदूषक को लेकर भी हिन्दी में विशेष कार्य नहीं हुआ है। इस अभाव की पूर्ति के लिए डा० गोविन्द केशव भट द्वारा रचित 'विदूषक' का अनुवाद करने का मैंने संकल्प किया। मूल पुस्तक मराठी में है। मेरी मातृभाषा हिन्दी है। महाराष्ट्र शैक्षिक सेवा में कार्य करने के कारण मराठी से अवगत होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मराठी से रूपांतरित करने में मुझे प्रो० त्र्यं. वा. कोटबागे एम. ए. की बहुत ही सहायता मिली है। वास्तव में इस अनुवाद का श्रेय उन्हीं को जाना चाहिए। दिन-रात वे प्रत्येक वाक्य के अनुवाद में मदद न करते तो शायद ही इतनी जल्दी मैं यह कार्य पूरा कर पाता। इस अनुवाद में यदि कुछ त्रुटियाँ मिल जायँ तो समझिए वह मेरी कमजोरी है। साहित्य भवन प्रा० लि० प्रयाग, ने इसका प्रकाशन कार्य किया। इसके लिए मैं तथा मूल लेखक दोनों आभारी हैं।

चन्दूलाल दुबे

अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
राजाराम कालेज,
कोल्हापुर (म० रा०)

विषय-सूची

खण्ड पहिला : विदूषक के जन्म की कहानी

खंड दूसरा : विदूषकों का जमघट

विदूषक



त्रिशिखंडक विदूषक

विदूषक प्रकरण ३ पृ० ४९ देखें

१.

विदूषक का उद्गम

विदूषक भी उन लोकप्रिय पात्रों में से एक है जो प्राचीन संस्कृत रंगमंच पर आते थे। लेकिन विदूषक का उद्गम कहाँ से हुआ, इस विनोदी पात्र का विकास कैसे हुआ आदि प्रश्नों के उत्तरों के लिए हमें तर्क का ही सहारा लेना पड़ता है। पाश्चात्य 'देश' के 'सुखान्त' नाटकों में जो 'क्लाउन' नामक पात्र रहता है उसकी स्थिति कुछ अन्य ही है। उनका काफी नाट्य साहित्य प्राप्त है। इसके अलावा विवेचनात्मक लेखन भी कम नहीं है। अतः इस 'क्लाउन' का निर्माण किस परिस्थिति में हुआ, उसका क्रमशः विकास होकर वह नाटक के विनोदी पात्र के रूप में सामने कैसे आया, आदि बातों का इतिहास सही रूप में बताया जा सकता है। विदूषक के बारे में इस प्रकार क्रमबद्ध इतिहास बताना टेढ़ी खीर है। इसके प्रमुख दो कारण हैं:—एक तो यह कि भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर अनेक सदियों तक जो सैद्धांतिक साहित्य निर्मित हुआ उसमें किसी ने भी विदूषक का इतिहास कहने का प्रयास नहीं किया। भरत मुनि ने विस्तार से नाटक की उत्पत्ति बताई है। पर उन्होंने नाटक में विदूषक को—जो एक आवश्यक पात्र है—ऐसा मानकर उसके उद्गम और विकास के बारे में कुछ नहीं कहा है, सिर्फ उसके नाटकोय महत्त्व और कार्य का ही विवेचन किया है। सैद्धान्तिक साहित्य को विदूषक के उद्गम के बारे में मौन देखकर जब हम नाटकों की ओर मुड़ते हैं तब हमें वहाँ भी निराशा ही हाथ आती है क्योंकि संस्कृत साहित्य के प्रारम्भ में ही विदूषक का विनोदो साँच में ढला हुआ रूप दिखायी देता है।

यह बात पुराने से पुराने अभिजात नाट्य साहित्य के बारे में भी लागू होती है। बीसवीं शताब्दी में शोधकर्ताओं के प्रयत्नों से बुद्धकालीन नाटकों के जो अवशेष हाथ में आये, साथ ही त्रिवेंद्रम में जो भास के नाटक प्राप्त हुए उनमें भी विदूषक का पूर्वेतिहास

न होकर उसका परिणत रूप ही दिखायी देता है। आगे चलकर विदूषक का जो साँचा बना उसका सूत्र भास के विदूषक में दिखायी देता है। यह सत्य है कि भास अविमारक के 'संतुष्ट' को न केवल विनोदी बल्कि प्रेमपूर्ण विदूषक के रूप में भी प्रस्तुत किया है। इसके अनुकरण में शूद्रक ने 'मैत्रेय' जैसे विदूषक को उदात्त रूप प्रदान किया है। लेकिन यह आधार विदूषक के उद्गम को जान लेने की दृष्टि से व्यर्थ है। बौद्धकालीन नाटकों के अवशेषों का भी यही हाल है। इस शोधकार्य से काल की दृष्टि से नाटक के उद्गम को और पीछे जाने की संभावना है पर विदूषक का प्रश्न अब भी बना हुआ है। बौद्ध लेखक अश्वघोष के 'शारीपुत्रप्रकरण' या 'गणिका नाटक' में प्राप्त विदूषक का पात्र सांकेतिक रूप में ही है। 'शारीपुत्रप्रकरण' में नायक शारीपुत्र के सहचर के रूप में विदूषक आया है। उसकी भाषा प्राकृत है। उसकी योजना शायद नाटक की गंभीर कथावस्तु को विनोद का पुट देने के लिए हुई है, पर नाटक के अंत में जब नायक बुद्धसंघ की शरण लेता है तब विदूषक जैसा विनोदी पात्र अनावश्यक प्रतीत होने से सामने नहीं आता। अश्वघोष का 'गणिका नाटक' इसी तरह का है। इसकी रचना अभिजात नाटक के अनुसार ही हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस नाटक के विदूषक का नाम है 'कौमुदगंध'। इस नाम का संबंध तो ब्राह्मण जाति से है ही, साथ ही, विदूषक का नाम एकाध फूल या वसंतऋतु के साथ संबंधित हो, ऐसा जो नियम आगे चलकर बना, उस नियम का पालन इधर भी हुआ है; क्योंकि इस नाम का वाच्यार्थ 'कुमुदगंध का (कुमुद के समान गंध होने वाले का) पुत्र' ऐसा ही है।[1] इसलिए, कीथ ने कहा है कि इस पात्र की योजना ही नाट्यलेखन को परंपरित रूप प्राप्त होने के लक्षण को प्रकट करता है। हमेशा एकाध सधन वणिक् ब्राह्मण या अमात्य के साहचर्य योग्य विदूषक को सत्यान्वेषी तरुण सन्यासी का साथी बनाना पागलपन के अलावा और क्या हो सकता है। इसलिए यह मानना पड़ता है कि अश्वघोष ने जिस नाट्य प्रकार की निर्मिति की है उसमें वे रूढिबद्ध विदूषक को टाल नहीं सके।[2]

इस चर्चा से यही कहना पड़ेगा कि हम तो वहीं पहुँचे जहाँ से निकले थे। उपलब्ध लक्षण ग्रंथों और नाटकों में विदूषक की उत्पत्ति नहीं मिलती। इसलिए नाटक की उत्पत्ति की मीमांसा करके उसी के आधार पर विदूषक का प्रश्न हल करने का प्रयत्न विद्वानों ने किया है।

(१) विण्डिश की ऐसी कल्पना है कि ग्रीक नाटकों के प्रभाव से संस्कृत नाटक का उदय हुआ। इसलिए उन्होंने ग्रीक नाटक के पॅरॅंजाईट, सर्वस् क्युरेन्ज और मिनेस्-

१. कीथ 'संस्कृत ड्रामा' पृष्ठ ८४-८५.

२. वही पृष्ठ ८२

ग्लोरिओसस इन पात्रों की क्रमशः संस्कृत नाटक के विट, विदूषक और शकार से तुलना सूक्ष्म दृष्टि से की है और सूचित किया है कि ग्रीक पात्र 'सर्वस् क्युरेन्स' विदूषक का मूल रूप है।[1]

(२) राइश और इ म्यूलर हेस के अनुसार रोमन मूक नाटक का भारतीय नाटकों पर असर हुआ है। उनका कहना है कि इन मूक नाटकों के कुछ निश्चित पात्रों के हूबहू दर्शन संस्कृत नाटकों में भी होते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने ग्लोटायपोसस् और शकार तथा मॉकोस और विदूषक में समानता दिखायी है।[2]

आज गंभीरता के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति ग्रीक नाटक के प्रभाव से हुई है। नाटक के बारे में पाणिनि और पतंजलि का किया हुआ उल्लेख, भास के नाटक, बौद्ध नाटकों के अवशेषों का शोध, इनके असंदिग्ध प्रमाणों से भारतीय नाटकों का प्रारम्भ स्वतंत्र रूप से और प्राचीन काल से हुआ था, यह बात सिद्ध हो गई है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि भारत और ग्रीस का परस्पर संबंध था। लेकिन मजे की बात तो यह है कि ग्रीस देश से संबंध दर्शानेवाला ऐसा एक ही शब्द संस्कृत नाटक में प्राप्त होता है और वह है 'यवनिका' या 'जवनिका'। लेकिन ऐसा कहा नहीं जा सकता कि इस शब्द का सम्बन्ध सिर्फ ग्रीक संस्कृति से ही है। यवनिका और जवनिका का अर्थ 'परदा' है पर विशेषणत्व के कारण 'परदे का कपड़ा' ऐसी ध्वनि प्राप्त होती है। यह कपड़ा ग्रीस देश का न होकर ईरान का है। सिल्वँ लेवी का कहना है कि ग्रीक लोग अपने माल वहन करने वाले जहाजों से उसे भारत में लाये होंगे। यह संदेह प्रकट किया जाता है कि ग्रीक नाटकों में भी मुख्य परदा था या नहीं। ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसके अलावा यवनिका या जवनिका शब्द से नाट्यगृह का ही परदा अभिप्रेत है।[3]

अतः ग्रीक और संस्कृत नाटकों में साम्य दिखायी देने से वह कार्य कारण भाव न होकर केवल कौतूहल का विषय है। संस्कृत नाटकों के कथानकों के बीज पूर्वकालीन वाङ्मय के इतिहास में स्पष्ट दिखायी देते हैं। महाभारत आदि महाकाव्यों की ओर देखने से स्पष्ट होता है कि भारत को नाट्यवस्तु की कल्पना के लिए ग्रीस देश की ओर मुड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसे पाश्चात्य विद्वानों ने आज मान लिया है।[4] इस भूमिका को ध्यान में रखकर ग्रीक और संस्कृत नाटकों

---

१. कीथ —संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ६१

२. वही पृष्ठ ६७ और पादटिप्पणी २

३. वही पृष्ठ ६१. ६८,

४. वही पृष्ठ ६३,

में मिलनेवाले परस्पर साम्य को सीमित अर्थ में लेना चाहिए। सर्वस् क्युरेन्स का अर्थ दास है और दास का रूपांतर ही ब्राह्मण विदूषक है ऐसा मानना कल्पना शक्ति के परे है।[1]

यही बात मोकास पात्र की है। ऐसा मानना स्वाभाविक ही है कि संस्कृत नाटकों में आये हुए सांकेतिक पात्र प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन से लिऐ हुए होंगे।

(३) प्राचीन काल में भारत में पुतलियों का नाच दिखाया जाता था। इसलिए पिशल मानते हैं कि इन्हीं पुतलियों के खेलों से नाटक एवं विदूषक की उत्पत्ति हुई होगी।[2] ये पुतलियाँ कागज की लुगदी (pulp) अथवा लकड़ी से बनायी जाती थीं। उनकी गर्दन या सिर के पीछे सूत्र बँधा रहता था। इन सूत्रों को उचित रीति से खींच कर और हिला कर 'सूत्रधार' पुतलियों से 'काम' करवा लेता था। इस पद्धति से एकाध पुत्तलिका को विनोदी रूप दिया जाता था। प्रेक्षकों का मनोरंजन करने के लिए पुत्तलिका नचायी जाती थी। यही पुत्तलिका मानो विदूषक जैसा विनोदी पात्र बन जाती थी। पिशल का कहना है कि विदूषक का प्रारंभ ऐसे ही विनोदी पुत्तलियों से हुआ होगा।

लेकिन यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता। पुतलियों का खेल तो नकली ही है। उसे प्रत्यक्ष नाटक के अनुकरण के बिना दिखा नहीं सकते। पुतलियों का खेल अनुकरणात्मक है। प्रत्यक्ष नाटक के सजीव पात्रों को पुतलियों द्वारा दिखाकर उनके द्वारा मानवीय अभिनय करवाना यह इस खेल का दर्शनीय भाग है। इसलिए हिले ब्राँट मानते हैं कि ऐसे खेल-खेले जाने के पूर्व नाटक का अस्तित्व किसी न किसी रूप में जरूर रहा होगा।[3] इसलिए कीथ के अनुसार नाटक का जैसे विकास होता गया वैसे ही नाटक की अनुकृति करने के इरादे से पुतलियों के खेल का निर्माण हुआ होगा और वह बढ़ता गया होगा। 'विदूषक' यह पात्र मूलतः सजीव नाटक में आया। विनोदी पुतलियों की परिणति विदूषक के रूप में नहीं हुई।[4]

(४) सिल्वै लेवी का मत था कि संस्कृत नाटक का मूल प्राकृत नाटकों में होगा। वे आगे चल कर कहते हैं कि प्रेम प्रकरण में दूत की भूमिका करने वाले तथा धर्मनिष्ठा

---

१. कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ६६
२. वही पृष्ठ ५२
३. वही पृष्ठ ५२, पादटिप्पणी ५
४. वही पृष्ठ ५३

के आवरण में ऐसा हल्का कार्य छिपानेवाले भ्रष्ट ब्राह्मण का चित्र प्राकृत नाटक में ठीक चित्रित हुआ है। इसी से संस्कृत नाटक का विदूषक निर्मित हुआ।[1]

यह बात अनेक दृष्टि से विवादग्रस्त है। पहले तो यह सिद्ध करना कठिन है कि प्राकृत नाटक से संस्कृत नाटक का निर्माण हुआ है। दूसरी बात यह है कि संस्कृत नाटकों में प्राप्त होने वाले सब विदूषकों के बारे में 'प्रेम प्रकरण में बनने वाले दूत' का वर्णन ठीक नहीं उतरता है। इसके अलावा पहले से ही अगर विदूषक को भ्रष्ट ब्राह्मण का विडंबन माना जाय तो ब्राह्मण नाटककारों ने प्राकृत नाटक को संस्कृत का पोशाक चढ़ाते समय इस पात्र को उसी रूप में क्यों रखा, इस शंका का समाधान करने के लिए बलवत्तर प्रमाणों को सामने रखना होगा।[2]

(५) कोनेव का कहना है कि विदूषक का मूल लोकनाट्य में है।[3] इस मत को एम् श्युलर ने पुष्ट किया है। संस्कृत लक्षण ग्रंथों में विदूषक के बारे में जो नियम दिये गये हैं उनमें और नाटककार के प्रत्यक्ष पात्रों की निर्मिति में काफ़ी अंतर है। इसके संतोष-जनक उत्तर के रूप में श्युलर कहते हैं कि राजाश्रय में रहे ब्राह्मण लेखकों ने जो नाट्य-निर्मिति की है उसमें विदूषक का मूल न हो कर, एतद्देशीय जमात के जो प्राचीन लोक-नाट्य हैं उनमें से यह पात्र आया है, यह विचार अधिक तर्कसंगत है। प्राथमिक अवस्था में होने वाले इन लोकनाट्यों का स्वरूप अधिकतर प्रहसनात्मक रहा होगा और उसमें आने वाले पात्र तत्कालीन सामाजिक जीवन से लिये गये होंगे। ब्राह्मण और पुरोहितों के धार्मिक प्रभाव के नीचे दबनेवाली जनता का इस वरिष्ठ जातिविषयक घृणा व्यक्त करने के लिए नाटक सर्वोत्कृष्ट साधन था और उसका लाभ उसने जरूर उठाया होगा। उस जनता ने विदूषक के रूप में भ्रष्ट और तिरस्करणीय ब्राह्मण का स्वाँग रचा कर, अपने टेढ़े-मेढ़े लेकिन लाजबाब नाटकों को लोकनाट्य में होनेवाले विडंबन का लाभ तो करा दिया; साथ ही ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का बदला लेने का समाधान भी प्राप्त कर लिया। श्युलर आगे कहते हैं कि यह ग्रामीण लोकनाट्य जब ब्राह्मणों के हाथ में आया और उसे जब दरबार का वेष पहनाया गया तब बड़ा प्रश्न निर्माण हुआ होगा। वे विदूषक को टाल नहीं सकते थे क्योंकि उसने तो लोगों के मन पर गहरा प्रभाव डाला था। अगर वे उसे वैसे ही रख देते तो ब्राह्मण जाति का चाहे जैसे किया हुआ मजाक सहना भी कठिन था। ऐसी अवस्था में इन ब्राह्मण लेखकों ने मूल विदूषक के भड़क चित्र को सौम्य बनाने का प्रयास किया और उसके विनोदी स्वरूप को

---

१. कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ६६

२. वही, पृष्ठ ६६

३ वही, पृष्ठ ६६, पाददिप्पणी २

ही उन्होंने ज्यादा प्रकट किया। विद्यमान संस्कृत नाटक का विदूषक मूर्ख या हँसोड़ा क्यों है इसकी श्युलर प्रणीत मीमांसा इस प्रकार है। वे कहते हैं कि विदूषक की भाषा प्राकृत होने का कारण भी ऊपरी विवेचन में मिलता है। विदूषक की निर्मिति यदि ब्राह्मण लेखक करते तो उसके द्वारा शिष्ट और संस्कृत भाषा का प्रयोग होता क्योंकि राजदरबार की भाषा संस्कृत ही थी। ब्राह्मण विदूषक के मुँह से प्राकृत भाषा का प्रयोग करने के विचित्र प्रयास को इन लेखकों को स्वीकार करना पड़ा क्योंकि लोक-नाट्य पहले ही विकसित हो गया था; उसकी लोकप्रियता बढ़ी थी, ऐसी अवस्था में प्रचलित नाटक पर जरूरी संस्कार करके उसे शिष्ट रूप देने के अलावा ब्राह्मण नाटक-कारों के पास दूसरा चारा नहीं था। इसलिए श्युलर इस निष्कर्ष पर आ पहुँचे कि विदूषक की उत्पत्ति ग्रामीण प्राकृत लोकनाट्य में ही हुई है। इस नाटक से ही वह अभिजात संस्कृत नाटक में परिणत हुआ है। अर्थात् विदूषक यह ब्राह्मण कवियों की निर्मिति नही है।[1]

श्यूलर के विचारानुसार विदूषक का प्रश्न सुलझने के बदले उलझता हुआ दिखायी देता है। ग्रामीण लोकनाट्य से संस्कृत नाटक का जन्म हुआ इस मत की पुष्टि के साधन अब तक उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए उसकी बुनियाद ही मजबूत नहीं है। यदि हम मान लें कि सामान्य जनता की प्रवृत्ति वरिष्ठ वर्ग का मजाक करने की थी तो वह विनोद सिर्फ़ ब्राह्मण वर्गों तक ही क्यों सीमित था, यह समझना कठिन है। ब्राह्मण की तरह क्षत्रिय भी एक वरिष्ठ वर्ग था, और वरिष्ठ वर्ग का मजाक करना था तो उनमें से क्षत्रियों को चुन कर अलग क्यों रखा गया इसका कुछ कारण नहीं दिखाई पड़ता। लेकिन यह स्पष्ट है कि विदूषक के समान जो पात्र निर्मित हुए उनमें क्षत्रियों का विडंबन बिलकुल नहीं मिलता। इसके अलावा संस्कृत नाटकों में प्राकृत का प्रयोग क्यों हुआ और विदूषक जैसे पात्र प्राकृत क्यों बोलते हैं, उनके स्पष्टीकरण के लिए हमें तथाकथित ग्रामीण लोकनाट्य के पीछे पड़ने की जरूरत नहीं है। इस प्रश्न को सुलझाने के मार्ग अनेक हैं। एक मामूली कारण बताना हो तो यह है कि नाटकों में काम करने वाला नट वर्ग समाज के निचले स्तर का था। इस कारण वे नट अपनी बोली अर्थात् प्राकृत में स्वाभाविक रूप से बोल सकते थे।[2]

(६) अनेक पाश्चात्य विद्वान मानते हैं कि संस्कृत नाटक का जन्म धार्मिक वातावरण में हुआ होगा। इस विचार के अनुसार ऋग्वेद के संवाद सूक्तों में ही नाटक

---

१. एम्-श्युलर, 'जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी' क्रमांक २०, पृष्ठ ३३८ और आगे।

कथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ६६-७३

का प्रारंभिक रूप बहुतेरे लोगों ने माना है। लिडनाउ का कहना है कि इन सूक्तों में 'वृषाकपिसूक्त' (ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ८६) नामक एक सूक्त है; उसका वृषाकपि ही विदूषक का मूल स्वरूप है।[1]

वृषाकपि इंद्र का मित्र और सहचर है, साथ ही उसने इन्द्र पत्नी को जो पीड़ा दी उसका वर्णन इस सूक्त में आया है। कीथ ने अपनी आलोचना में कहा है कि इतने से ही वृषाकपि से विदूषक की उत्पत्ति मानना तर्कयुक्त नहीं होगा। इस सूक्त को ध्यान-पूर्वक देखने पर यह आलोचना ठीक ही जँचती है।

इसमें कोई शक नहीं कि वृषाकपि सूक्त अत्यंत दुर्बोध है। लेकिन इस सूक्त का ध्रुवपद (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) और उसके संवादों के रुख को जानने से लगता है कि (१) इसमें इन्द्र का महत्त्व प्रस्थापित करना, और (२) स्वार्थी, बड़प्पन को प्राप्त करने वाले धनवान पूजकों की अपेक्षा गरीब लेकिन सरल अंतःकरण वाला भक्त ही इन्द्र को अधिक प्रिय लगता है, इस परिचित विषय को सरस बनाना सूक्त रचयिता ऋषि का उद्देश्य है। वृषाकपि यह इन्द्र का लड़का माना गया है लेकिन यह इन्द्राणी की संतान नहीं है। उन्नीसवीं ऋचा में इन्द्र कहता है कि 'दास और आर्य में होने वाले भेद को मैं अच्छी तरह से देखता चला हूँ।' इन शब्दों का कुछ अर्थ होगा तो यह अनुमान किया जा सकता है कि वृषाकपि दासों का प्रमुख होगा। फिर समझ में आता है कि इन्द्राणी को वृषाकपि से मत्सर और उस पर क्रोध क्यों आता है। उसी प्रकार यह भी मालूम होता है कि वह दास जाति का होने पर भी, अपने में अनुरक्त भक्त के बारे में इन्द्र को इतना प्रेम क्यों है। इन्द्र और वृषाकपि के परस्पर सख्य की पार्श्वभूमि इतनी ही होगी।[2] अगर यह सत्य है तो संस्कृत नाटक का नायक और विदूषक की मैत्री से इन्द्र-वृषाकपि का सम्बन्ध जोड़ना दूरान्वय दोष होगा।

इस सूक्त में (ऋचा ५) कहा है कि वृषाकपि ने इन्द्राणी के घर की कीमती और नाजुक शोभायमान चीजें नष्ट कीं। इन्द्र से की गयी इन्द्राणी की यह शिकायत सच भी हो सकती है या मत्सर या द्वेष के कारण झूठ भी। लेकिन ऐसे उपद्रवी वृषा-कपि का सम्बन्ध विदूषक जैसे विनोदी पात्र की प्रकृति के साथ कैसे स्थापित होगा?

वृषाकपि विवाहित है। उसकी पत्नी का उल्लेख सूक्त में प्राप्त होता है। इन्द्राणी के प्रति उसे आसक्ति है (ऋचा ७)। इन्द्राणी की शिकायत के कारण

---

१. **कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ५१ और पादटिप्पणी १**

२. **प्रा० एच० डी० वेलणकर जी के वृषाकपि सूक्त का सटीक अंग्रेजी अनुवाद, 'जर्नल ऑफ दि युनिवर्सिटी ऑफ 'बॉम्बे' वाल्यूम १२ पार्ट २, सितंबर १९५३, पृष्ठ ११-१४।**

वृषाकपि दूर जाना चाहता है। लेकिन इन्द्र उन दोनों को समझाता है और वृषाकपि को जाने से रोकता है। प्रारम्भ के अभिजात संस्कृत नाटकों में विदूषक का जो रूप मिलता है उससे इस वर्णन का कुछ साम्य नहीं दिखता। वृषाकपि की कुरूपता विशेषतः 'कपि' होने का उल्लेख (ऋचा ३.५), और उसका अश्लील किन्तु लाजवाब भाषण (ऋचा ७.१६) आदि बातों से विदूषक के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करने का मोह निर्मित हुआ होगा। कालिदास की तरह कुछ नाटककारों ने यद्यपि विदूषक को मर्कट के समान चित्रित किया है फिर भी वह केवल एक शारीरिक विकृति के भाग के रूप में ही है। उसमें हास्योत्पादन के सिवा अन्य कोई हेतु नहीं दिखाई पड़ता। यह तो हमेशा की ही पद्धति है कि विनोदी पात्र को शारीरिक विकृति दे कर उससे हास्य रस की निर्मिति करने का प्रयास लेखक करता है। उसके लिए 'मर्कट' के साथ ही साम्य दिखाना चाहिए सो बात नहीं। इतना ही नहीं संस्कृत नाटकों में विदूषक की शारीरिक विकृति अलग-अलग रूपों में दीख पड़ती है। इन सारी बातों को देखने से वृषाकपि को विदूषक की मूल प्रकृति मानने का कोई खास कारण नज़र नहीं आता।

(७) ऊपर दिये गये तर्कों में से एक को भी कीथ स्वीकार नहीं करते। कीथ ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ धार्मिक प्रसंगों से ही हुआ है। उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि इसके मूल की खोज के लिए संवादसूक्त तक जाने की कोई आवश्यकता है। संवाद सूक्तों का रूप रहस्यमय है। इसलिए उस पर आधारित निष्कर्ष सर्व सम्मत होना कुछ कठिन ही है। कीथ का कहना है कि संस्कृत नाटकों का बीज ऋग्वेद में न ढूँढ कर उन्हें वैदिक यज्ञविधि में ही ढूँढना चाहिए। कीथ के अनुसार इस शोध में विदूषक का मूल प्राप्त होता है, और यज्ञविधि में विदूषक का मूल प्राप्त होने से इस मत की पुष्टि होती है कि संस्कृत नाटक का प्रारम्भ धार्मिक विधियों से हुआ।

इस सम्बन्ध में जिस महत्त्वपूर्ण यज्ञविधि का उल्लेख किया गया है वह है 'सोम-याग' की 'महाव्रत' विधि। कीथ के अनुसार इस विधि का आंतरिक हेतु मकर संक्रांति के समय सूर्य को शक्ति प्रदान करके, उसके बल से पृथ्वी को धनधान्यपूर्ण करना है। इस विधि के कुछ अंग ऊपरी तौर से विचित्र लगते हैं। उदाहरण के लिए, यज्ञविधि के एक अंग के रूप में ब्रह्मचारी और पुंश्चली का संवाद होता है। उसमें दोनों ही एक दूसरे को अश्लील गालियाँ देते हैं। इस विधि के पुराने अनुष्ठान प्रकार में मैथुन का भी समावेश रहता था। इसका सम्बन्ध प्रतीक द्वारा पृथ्वी की सृजनशक्ति परिपुष्ट करने की ओर है। फिर भी उत्तर काल में यह भाग अनुचित माना जाने लगा और यज्ञविधि

से उसे हटाया गया ।[1] उपर्युक्त यज्ञविधि में विदूषक का मूल है और कीथ उस ब्रह्मचारी को विदूषक का मूल रूप मानते हैं । वे लिखते हैं—

'ऐसा मालूम होता है कि 'विदूषक' का यौगिक अर्थ 'गालीगलौज करने वाला' है । विदूषक और रानी के परिवार की किसी दासी में शुद्ध गालीगलौज की होड़ लगी हुई दीख पड़ती है और उसमें विदूषक को हारना पड़ता है । इस संदर्भ में महाव्रत विधि में ब्रह्मचारी और पुंश्चली का जो संवाद यज्ञीय अंग के रूप में स्वीकार किया गया है और जिसका प्रतीकार्थ सृजनशक्ति की परिपुष्टि है, उसे उपेक्षणीय मानना मूर्खता होगी' ।[2]

महाव्रत में पुंश्चली के साथ गाली-गलौज करने वाला ब्रह्मचारी मूलतः ब्राह्मण है । इस घटना के आधार पर कीथ सिद्ध करते हैं कि संस्कृत नाटक का विदूषक ब्राह्मण क्यों होता है । विदूषक की प्राकृत भाषा के प्रयोग के बारे में स्पष्टीकरण देते हुए कीथ लिखते हैं—

'विदूषक को ब्राह्मण के रूप में दिखाया जाता है । इससे उसका गाली-गलौज करने के स्वभाव का पहलू निर्विवाद सिद्ध होता है । इसमें ही उसकी प्राकृत भाषा के प्रयोग का कारण निस्संदेह प्राप्त होता है । यह कल्पना करना भी असंभव है कि किसी ब्राह्मण ने गालीगलौज का संवाद देववाणी में किया होगा । महाव्रत जैसे प्राथमिक सामाजिक स्थिति के यज्ञीय अनुष्ठान में भाग लेने वाली पुंश्चली को विदूषक द्वारा देववाणी में दी हुई गालियों का मर्म समझना भी कठिन है' ।[3]

कीथ कहते हैं कि चरित्रचित्रण में और एक धार्मिक पुट है जो सोमयाग के सोमक्रय की विधि से आया हुआ है । सोमक्रय के एक अनुष्ठान प्रकरण में ऐसा वर्णन है कि सोमविक्रेता शूद्र होता है । धार्मिक विधि के पूर्ण होते समय उसे सोम की कीमत तो नहीं दी जाती इसके विपरीत वह ढेलों से मारा जाता है । गंधर्व के कब्जे से सोम को सफलतापूर्वक छुड़ा कर लाने की कथा की लौकिक अनुकृति ही यह विधि है । कीथ का कहना है कि विदूषक के पात्र में—

'सोमक्रय के शूद्र की याद जुड़ी हुई है । विदूषक का पात्र विकृतांगी क्यों दिखाया जाता है इसका कारण इस परिस्थिति में मिलना चाहिए' ।[4]

---

१. कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ २४-२५
२. वही, पृष्ठ ३६
३. वही, पृष्ठ ३६-४०, ७३
४. वही, पृष्ठ ३६

कीथ के मतों का विस्तृत अनुवाद करने का कारण स्पष्ट है। विदूषक के उद्गम के सम्बन्ध में विविध मतों का उन्होंने न केवल उल्लेख किया है बल्कि उनकी आलोचना भी की है। आलोचना एवं स्वतंत्र विचार प्रस्तुत करके उन्होंने विदूषक सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का हल उपस्थित किया है। कीथ की विचार-प्रणाली को उन्हीं के शब्दों में समझ लेने के बाद उसका मूल्यांकन करना ठीक होगा।

प्रारम्भ में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि संस्कृत नाटक का उद्गम लौकिक घटनाओं से नहीं बल्कि धार्मिक विधि से हुआ जिसकी पुष्टि आधुनिक शोधों से हो रही है। इससे संस्कृत नाटक का प्रारम्भ ईसा पूर्व कई शताब्दियों तक जा सकता है। नाट्योत्पत्ति में शिवदेवता का हिस्सा महत्त्वपूर्ण है। प्रारम्भ के नाट्यप्रयोगों में नृत्य का भाग महत्त्व का रहता था। भरत और कालिदास के अनुसार उसमें से ताण्डव और लास्य नृत्य प्रकारों को शिवपार्वती ने दिया। आज के शोधकार्य से यह सिद्ध हुआ है कि शिव आर्यपूर्व देवता थे। इससे यह मानना आवश्यक है कि नाटक का प्रारम्भ आर्यों के पूर्व हुआ।[1] इस प्रकार ऐसा मानने पर कि नाटकों का प्रारम्भ यज्ञविधि के अनुष्ठानों में हुआ, ऐसा कहना कहाँ तक उचित है कि विदूषक जैसे नाटकीय पात्र का मूल इसी में है, और वह नाटक की धार्मिक उत्पत्ति की पुष्टि है।

(अ) ऋग्वेद के वृषाकपि और विदूषक में समानता दिखाना दूर का सम्बन्ध जोड़ना है। यह कथन यदि कीथ को मान्य है तो ऐसा कहना पड़ेगा कि महाव्रत का ब्रह्मचारी और विदूषक का तथाकथित सम्बन्ध भी दूर का ही है।

ऐतरेय और शांखायन आरण्यकों में महाव्रत की विधि उल्लिखित है। लेकिन उसमें ब्रह्मचारी और पुंश्चली का संवाद नहीं दिया गया है।[2] कात्यायन श्रौतसूत्र में कहा गया है कि पुंश्चली और ब्रह्मचारी एक दूसरे पर ताना कसते थे। सूत्र की आलोचना के अनुसार दोनों एक दूसरे को उद्देश्य करके अरुचिकर संभाषण करते हैं।[3]

---

१. मनोमोहन घोष 'दि हिस्ट्री ऑफ हिन्दू ड्रामा' पृष्ठ ३-७

२. उदाहरण के लिए—काठकसंहिता ३४.५ में आगे का वर्णन है—ब्रह्मचारी च पुंश्चली चर्तीयेते सर्वा हि भूते वाचो वदन्ति मिथुनं चरन्ति संवत्सरं वा एते प्रजायमानास्सत्रमासते तेषां संवत्सरेणैव प्रजननमन्तर्धीयते यन्मिथुनं चरन्ति ॥

३. कात्यायन श्रौतसूत्र, १३.३, ६-७ :

पुंश्चली ब्रह्मचारिणावन्योऽन्यमाक्रोशतः। परस्परं उद्वेगकरं वाक्यं भाषेते ॥

प्रत्यक्ष संवाद सिर्फ लाट्यायन श्रौतसूत्र से प्राप्त होता है।[1] यहाँ पुंश्चली और ब्रह्मचारी को यज्ञवेदी के पास कहाँ खड़ा रहना चाहिए, किस दिशा की ओर मुंह करके वाक्य बोलना चाहिए और इस प्रकार की पुनरावृत्ति तीन बार कैसी करनी चाहिए आदि का विवरण दिया है। इस वर्णन को पढ़ने पर यह संवाद केवल प्रतीकात्मक ही नहीं मालूम होता किन्तु यह स्पष्ट होता है कि यज्ञविधि के एक आवश्यक अंग के रूप में इसकी योजना हुई है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के नाटक की कल्पना करना ही अनुचित होगा। लेकिन यह एक अचरज की बात है कि यहाँ पुंश्चली और ब्रह्मचारी के उच्चारण के शब्द अश्लील होने पर भी संस्कृत में दिये हैं। इस कारण कीथ का प्राकृत भाषा के सम्बन्ध का तर्क गलत सिद्ध होता है। उपर्युक्त बातों से ऐसा कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटकों में विदूषक और दासी अश्लील और गाली-गलौज की भाषा का जो प्रयोग करते हैं उसके पीछे धार्मिक विधि की पुष्टि दीख पड़ती है।

(आ) कीथ का यह कथन कि 'विदूषक और रानी की दासी के बीच जो शुद्ध गाली-गलौज होती है,' सभी संस्कृत नाटकों पर लागू नहीं होता। कीथ को वैसा शुद्ध गाली-गलौज उत्तरकालीन (ई० स० दसवीं शताब्दी के आसपास) प्राकृत नाटक राजशेखर कृत 'कर्पूरमंजरी' में और उनके ही 'विद्धशालभञ्जिका' संस्कृत नाटिका में प्राप्त हैं। प्राकृत सट्टक 'कर्पूरमंजरी' के पहले अंक में ऐसा वर्णन आया है कि विदूषक और दासी खूब झगड़ते हैं। रानी के बल पर दासी विदूषक का खूब हँसी मजाक उड़ाती है। विदूषक भी उसे गालियाँ देता है। पर अंत में चिढ़ कर, उद्विग्न हो कर पराभूत मनःस्थिति में वह निकल जाता है। राजशेखर के दूसरे नाटक का भी करीब-करीब यही हाल है।[2] किन्तु अधिकतर संस्कृत नाटकों में दासी विदूषक का मजाक उड़ाती है, उसके पेटू स्वभाव पर वह व्यंग्य करती है और विदूषक या तो अपनी मूर्खता को जान कर या दासी की धूर्तता को पहचान कर उसके पंजे से छुटकारा पाने की कोशिश में रहता है। विदूषक और दासी का चित्र अश्वघोष के संस्कृत नाटकों में जो है वही आगे भी रहा है। अश्वघोष ने विदूषक और गणिका को साथ रखा है। और 'मृच्छकटिक' का विदूषक मैत्रेय वसंतसेना की माँ का निष्ठुर मजाक उड़ाता है। ये सारी बातें सच हैं। पर इससे क्या सिद्ध किया जा सकता है? विदूषक और दासी या गणिका का सूत्र क्या यज्ञीय विधि में ही ढूँढना चाहिए? लेकिन वास्तव में उस वक्त सामाजिक

---

१. **लाट्यायन श्रौतसूत्र, ४.३, ६-१२**
पूर्वेण आग्नीध्रीयं ब्रह्मचारी अन्तर्वेदि उदङ्मुखःतिष्ठेत्। बहिर्वेदि पुंश्चली दक्षिणामुखी ॥६॥ सा ब्रूयात् दुष्चरितिन्नवकीर्णिन् इति ॥१०॥
धिक् त्वा जाल्मि पुंश्चली ग्रामस्य मार्जनि पुरुषस्य पुरुषस्य शिश्नप्रणेजनि इति ब्रह्मचारी ।११। एवं आतृतीयं व्यत्यासम् ।१२।

२. **कर्पूरमजरी, अंक १, विद्धशालभंजिका, अंक २**

जीवन में मूर्ख ब्राह्मण, गणिका और चेटी आदि पात्र पाये जाते हैं। नाटककार ने इन पात्रों को सामाजिक जीवन से उठाकर उन्हें अपनी कृतियों में सजाकर रखा होगा। आसपास के जीवन में सामग्री प्राप्त होने पर महाव्रत जैसी यज्ञविधि की ओर जाने की क्या आवश्यकता है ?

(इ) अपशब्दों को लेकर विदूषक का उद्गम महाव्रत में ढूँढ़ने में, फिर विदूषक ब्राह्मण होने के कारण उसके अश्लील भाषण को ही उसके स्वभाव का मुख्य पहलू मानने में परस्पराश्रय होकर मुख्य समस्या में उलझन पैदा होती है।

विदूषक का सम्बन्ध महाव्रत के ब्रह्मचारी के साथ प्रस्थापित करना कठिन है। वास्तव में विधि का गांभीर्य और पुंश्चली-ब्रह्मचारी के संभाषण के यज्ञीय हेतु का विदूषक के विनोदी और लछिछेपन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी तरह संस्कृत नाटक के विदूषक का चित्रण देखने पर उसका गाली-गलौज या अश्लील भाषण ही विदूषक के स्वभाव का मुख्य पहलू है ऐसा कहना अत्यन्त एकांगी और साहसी वक्तव्य होगा।

लेकिन कीथ ने 'विदूषक' शब्द की जो उत्पत्ति दी है वह संदेहजनक है। इसमें जो 'दूष्' धातु है उसका अर्थ 'गालीगलौज करना' ऐसा न होकर दोष देना, धब्बा लगाना, बिगाड़ देना' ऐसा है। और 'वि' इस उपसर्ग से दोष देने की या बिगाड़ देने की' 'विशिष्ट' पद्धति का बोध होता है। इससे विदूषक का अर्थ होता है 'अपनी वैशिष्ट्यपूर्ण पद्धति से दोष दिखाने वाला, या जो है उन्हें बिगाड़ने वाला'। इसी से विदूषक के मार्मिक दोष दिग्दर्शन के या गम्भीर घटनाओं को परिहास में परिवर्तित करने के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है।[1] इसीसे यह सिद्ध है कि अगर कीथ व्युत्पत्ति के आधार पर विदूषक का सम्बन्ध महाव्रत के ब्रह्मचारी के साथ जोड़ना चाहते हैं तो यह नींव ही सदोष बनती है।

(ई) इसके आधार पर कि संस्कृत नाटकों को मोड़ देनेवाले ब्राह्मण नाटककारों ने, भ्रष्ट ब्राह्मण के प्रतिनिधित्व करने वाले विदूषक को वैसा न रखा होता, कीथ यह अस्वीकार करते हैं कि 'संस्कृत नाटकों का जन्म लोकनाट्य और प्राचीन प्राकृत नाटकों से हुआ'। इन लेखकों ने लोकनाट्य या प्राकृत नाटकों से विदूषक पात्र को लिया होता तो ब्राह्मण का उड़ाया हुआ मज़ाक छिपाने के लिए उसका स्वरूप बदले बिना वे कभी न रहते। लेकिन वे वैसा कर नहीं सके, क्योंकि विदूषक पात्र के पीछे कोई प्रबल प्रेरणा जरूर रही होगी। यह प्रेरणा धार्मिक थी। अतः ऐसा मानना पड़ेगा कि विदूषक का पात्र महाव्रत जैसी यज्ञविधि से और सोमक्रयण जैसे यज्ञांग में से निर्मित हुआ होगा। यह सिद्ध होता कि विदूषक का सम्बन्ध स्वतंत्र और निर्विवाद

---

१. व्युत्पत्ति के अधिक विवेचन के लिए आगे का 'नामाभिधान' प्रकरण देखें।

रीति से यज्ञविधि से है तो कीथ की यह मीमांसा विचारणीय हो जाती, लेकिन ऐसा नहीं हुआ है। विदूषक के ब्राह्मणत्व को सिद्ध करने के लिए धार्मिक विधि का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। उसे दूसरे तरीकों से सिद्ध किया जा सकता है।[1]

सच पूछा जाय तो नाटककार ने विदूषक को एक सामाजिक चित्र के रूप में चित्रित किया है। इस मत का खंडन करते हुए कि ग्रीक नाटक या रोमन मूकनाट्य के आधार पर शकारादि पात्र संस्कृत रंगभूमि पर आये, कीथ ने ऐसा कहा है कि भास और शूद्रक के समय के सामाजिक जीवन में इस तरह के पात्र स्वभाविक रूप में प्राप्त थे। इन नाटककारों ने उन पात्रों को प्रत्यक्ष जीवन में से ही लेकर चित्रित किया है।[2] यदि यह सच है तो फिर अपढ़, मूर्ख ब्राह्मण, राजमहलों की दासियाँ और गणिकाओं के जैसे पात्र प्रत्यक्ष जीवन से ही आये हैं ऐसा मान लेने के लिए आधार क्या हो सकता है?

(उ) विदूषक का यज्ञविधि से अनिर्णीत सम्बन्ध ध्यान में आ जाने से कीथ ने प्राकृत भाषा की योजना का जो स्पष्टीकरण दिया है उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। पहले तो यह कि पुंश्चली और ब्रह्मचारी का संवाद प्राकृत भाषा में होता था यह मानने के लिए कोई आधार नहीं है। वास्तव में यह कल्पना ही गलत लगती है कि यज्ञीय अनुष्ठान में प्राकृत का प्रयोग होता रहा होगा। कीथ ने इसके लिए महाव्रत के प्रसंग के सदृश अश्वमेध के प्रसंग का उल्लेख किया है। अश्वमेध में पटरानी को यज्ञीय घोड़े के पास लेटकर उसे उद्देश्य करके कुछ वाक्य कहने पड़ते हैं। इसकी भाषा इतनी अश्लील है कि उसका अनुवाद करना असंभव है। अर्थात् यह विधि प्रतीकात्मक ही है और उसका हेतु ऐसा है कि फलधारणाशक्ति पनपकर विजयी सार्वभौम राजा को निश्चत पुत्र प्राप्त होता हो। इस विधि में रानी के एक स्त्री के मुँह में अनुवाद न करने योग्य वाक्य हैं और वे भी संस्कृत में हैं तो ब्रह्मचारी और पुंश्चली का वादविवाद प्राकृत में होता होगा ऐसा कीथ मानते भी तो कैसे हैं?[3] चूँकि इस संवाद के वाक्य संस्कृत में ही दिये गये हैं, अतः लाट्यायन का श्रौतसूत्र द्रष्टव्य है।

भाषा के सम्बन्ध में और कुछ विवरण जान लेना आवश्यक है। जावा द्वीप में प्राप्त नाट्य परम्परा संस्कृत नाटकों से ली गई है। इसमें संस्कृत नाटक के विदूषक को लिया गया है। संस्कृत नाटक का विदूषक जब प्राकृत में बातचीत करता है, तब जावा

---

१. आगे 'विदूषक की जाति' यह प्रकरण देखिये।

२. कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ६६।

३. देखें : कु० गोदावरी केतकर, 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' पृष्ठ ३३४।

के 'वेयांग श्रोरांग' नाट्यप्रकार का विदूषक वहाँ की उच्चतम बोली का प्रयोग करता है, अर्थात् संस्कृत का ।[१]

इससे ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक काल में भारतीय नाटकों की रचना पूर्णतः संस्कृत में होती रही होगी । इन नाटकों का विदूषक संस्कृत में संभाषण करता रहा होगा, और इसी संस्कृत भाषी पात्र के आधार पर जावा के विदूषक का निर्माण हुआ होगा ।[२] इससे कहा जा सकता है कि विदूषक की भाषा प्रारंभ से ही प्राकृत रही होगी ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

नाट्यशास्त्र का नियम ऐसा है कि विदूषक की भाषा प्राकृत हो और संस्कृत नाट्यरचनाओं में इस नियम का पालन भी हुआ है । लेकिन सूत्रधार ब्राह्मण ही हो ऐसा नियम कहीं भी नहीं है, फिर भी भास के 'चारुदत्त' और शूद्रक के 'मृच्छकटिक' को अपवाद के रूप में छोड़ने पर सूत्रधार की भाषा संस्कृत ही दीखती है । इसके विप-रीत भास के 'कर्णभार' एकांकी में ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करता है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा द्वारा किसी पात्र का उद्गम बताना सही रास्ता नहीं । नाटकीय पात्र किस भाषा का प्रयोग करे इसके नियम केवल शास्त्रप्रणीत हैं । उनका सम्बन्ध पात्र की जाति से नहीं है । नाट्यरचना के विशिष्ट संकेतों के कारण निश्चित भाषा की योजना की गई है । नाट्यतत्त्वों के अनुसार ही नाटककारों ने इन नियमों का पालन किया है । इन नाट्यतत्त्वों को समझ कर और नाट्यप्रयोग का उद्देश्य और फल सम्बन्धी शास्त्र विचार करने से भाषा के प्रयोग पर प्रकाश पड़ेगा ।[3] केवल धार्मिक कारणों का अवलंब करने से कहीं और भटकने की ही संभावना ज्यादा है । इसलिए विदूषक का उद्गम नये सिरे से ढूँढ़ना होगा ।

कीथ यह मानते हैं कि विदूषक का मूल उसकी लोकप्रियता में है । लेकिन प्रश्न इतना ही है कि उसकी लोकप्रियता का कारण धार्मिक था या लौकिक ? कीथ विदूषक की लोकप्रियता का कारण धार्मिक मानते हैं क्योंकि विदूषक का उद्गम वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होने की संभावना होते हुए भी लौकिक बातों की ओर मुड़ना अनावश्यक तथा गलत लगता है । कीथ का कहना है कि लोकनाट्य का प्रभाव मानने

---

१. ए० के० कुमार स्वामी, 'नोटस् ऑन दि जावानीज थिएटर', रूपम् ७ । मनोमोहन घोष के 'हिस्ट्री ऑव् दि हिन्दू ड्रामा,' इस पुस्तक का अवतरण पृष्ठ ३९।
२. मनोमोहन घोष, उपरिनिर्दिष्ट पुस्तिका, पृष्ठ ३९ ।
३. आगे 'विदूषक की भाषा' प्रकरण देखें ।

वाले विद्वान भी विदूषक की मूल प्रकृति का निर्माण महाव्रत के ब्रह्मचारी और सोम-क्रयण के शूद्र के मिश्रण में मानते हैं।[1] लेकिन जब तक धार्मिक सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता, और विदूषक की प्राकृतिक विशेषताएँ अन्य मार्गों से संतोषजनक रूप से जानी जा सकती हैं, तब तक धार्मिक सम्बन्धों का आग्रह करना व्यर्थ है।

वास्तव में संस्कृत नाटक का निर्माण तथा उसमें होने वाले विदूषक जैसे पात्र का उद्गम इन दोनों प्रश्नों का स्वतंत्र विचार होना चाहिए। उन्हें एक दूसरे में उलझाना ठीक नहीं। ऐसा सिद्धांत स्वीकार करने पर भी कि संस्कृत नाटक का प्रारम्भ धार्मिक विधि में है यह मानने की आवश्यकता नहीं कि विदूषक का भी उद्गम वहीं से हुआ है।

बहुत से विद्वान परंपरागत सबूत को अस्वीकार करते हैं लेकिन हमेशा ऐसा करना ठीक नहीं है। सबूत का अत्यंत सूक्ष्मता के साथ प्रमाण की परीक्षा कसौटी पर होनी चाहिए। शोध के प्रारंभ के लिए उपयोगी, परंपरा से प्राप्त प्रमाण, जो हाथ में हैं, उन्हें किसी काम के योग्य न मान कर उनकी उपेक्षा करना ठीक नहीं है। विदूषक का प्रश्न हल करते समय मन में नियोजित तर्क को सिद्ध करने की अपेक्षा नाट्यशास्त्र और विद्यमान संस्कृत प्राकृत नाटकों को 'मार्गदर्शक मानना' अधिक फलदायी होगा।

भरत के नाट्यशास्त्र को ध्यानपूर्वक देखने पर यह ज्ञात होता है कि नट और नाटकीय पात्र के रूप में विदूषक की द्विविध भूमिका का भरत ने विचार किया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि भरत ने सूत्रधार और उसके सहायक के साथ नाट्य-समूह के एक महत्त्वपूर्ण पात्र के रूप में विदूषक का समावेश किया है।

विदूषक का उल्लेख नट वर्ग में करने का कारण स्पष्ट है। नाट्यप्रयोग के मूल उद्देश्य के बारे में भरत के मन में निश्चित धारणा है। नाटक का उद्देश्य भिन्न-प्रकृति के दर्शकों के अनुसार चाहे जो हो[2] लेकिन नाटक का मूल उद्देश्य विश्राम, मनोरंजन और आनन्द ही है। भरत मुनि का कहना है कि नाटक का निर्माण सामाजिकों के मनरंजन के लिए कुछ विनोदी साधन हो, वह श्रव्य और दृश्य हो और उसमें छोटे-बड़े,

---

१. कीथ—संस्कृत ड्रामा पृष्ठ ५०।

आजकल प्रा० जे० टी० परीख कीथ की इस उपपत्ति के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। उसका सार उनकी विदूषक पर लिखी गई किताब में प्राप्त है और एक लेख में भी दिया है। प्रस्तावना में की हुई चर्चा देखें।

२. देखें—भरत, 'नाट्यशास्त्र' गायकवाड़ सीरीज, १, १०७-११५; काव्यमाला, १. ७३-८१, काशी सीरीज १, १०३-११३।

उच्च-नीच आदि सभी हिस्सा ले सकें इस उद्देश्य से हुआ है।[1] और कालिदास जब कहते हैं—'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्।[2] तब वे उपर्युक्त कल्पना का अनुसरण करते हुए दिखायी देते हैं। यदि नाटक से आनंदनिर्मिति करनी हो तो प्रारंभ से ही दर्शकों की वृत्तियों को उल्लासित रखने की प्रवृत्ति नटवर्ग में आजाना स्वाभाविक ही है। इसीलिए भरत ने ऐसा नियम बनाया है कि नाटक के प्रारंभ में, पूर्वरंग में, विदूषक की योजना करके, उसके द्वारा वेशभूषा, भाषण या हावभाव से प्रेक्षकों को हँसाया जाय।[3] विदूषक का यह अभिनय अपने आप में स्वतंत्र होता है। इसका मतलब यह है कि प्रस्तुत नाटक हास्य प्रधान हो या न हो लेकिन पूर्वरंग के एक भाग में विदूषक को रंगभूमि पर आकर हास्य निर्माण करना पड़ता है। नाटक गंभीर हो तो प्रारंभ में इस सुखात्मक हास्य की अधिक आवश्यकता माननी होगी। अन्यत्र भी सामाजिकों का मन आनंदित रखने का कार्य विदूषक के हास्य विनोद से ही होता है। इससे स्पष्ट होता है कि, पूर्वरंग के विदूषक की योजना का मनोवैज्ञानिक प्रयोजन और उस प्रयोजन का लक्ष्य सामाजिक—अर्थात् समूह में आया हुआ प्रेक्षक वर्ग है।

पूर्वरंग में काम करने वाले नटवर्ग में सूत्रधार और उसकी पत्नी नटी या उसका सहायक पारिपार्श्विक पात्र होते हैं। इन पात्रों का सम्बन्ध न धार्मिक या यज्ञीय बातों से लगाया जा सकता है न लगाने की संभावना है। तो फिर उन्हीं के समान, एक नट-विदूषक जो नाटक मंडली का अंग है, उसका ही यज्ञविधि के साथ सम्बन्ध जोड़ने की क्या आवश्यकता है ? नट के रूप में विदूषक की जो भूमिका और जो कार्य है उनका मनोवैज्ञानिक और सामाजिक हेतु तो ऊपर ही स्पष्ट हुआ है। प्रयोग की सफलता के लिए एक उपयुक्त साधन के रूप में नटमंडलो में विदूषक जैसे विनोदी पात्र का समावेश आवश्यक रूप में हुआ।

भरत का नियम है कि विदूषक 'द्विज' ही हो। पर वास्तव में द्विज का मूल अर्थ 'त्रैवर्णिक' होने पर भी परंपरा ने विदूषक को 'ब्राह्मण' ही ठहराया दीखता है। इसका कारण ढूँढ़ना आवश्यक है।

भरत की उपर्युक्त जानकारी से यह स्पष्ट होता है कि विदूषक नाटक मंडलियों में से विनोदी नट होने के अतिरिक्त नाटक के पात्र के रूप में भी काम करता था। यह समझ लेना आसान है कि विदूषक को नट और नाट्यपात्र का द्विविध अभिनय क्यों करना पड़ा। पूर्वरंग में विदूषक के हास्य विनोद से निर्मित सुखद वातावरण को देख-

---

१. नाटयशास्त्र, गायकवाड़, काव्यमाला, काशी सीरीज, १, ११-१२०।

२. मालविकाग्निमित्र १.४

३. नाटयशास्त्र, गायकवाड़ ५.१३४; काव्यमाला ५.१२५, काशी, ५.१३५ और आगे का श्लोक।

कर यह विचार मनोवैज्ञानिक लगता है कि नाटक में विदूषक का पात्र रखने से मनोरंजन का निर्माण होता था, और उसका प्रयोजन नाटक का आकर्षण बढ़ाकर प्रेक्षकों को सुखी बनाना ही था।

लेकिन प्रश्न यह होता है कि संस्कृत नाटक का सर्वप्रथम विदूषक कैसा था? विद्यमान संस्कृत नाटकों में विदूषक का पात्र परंपरागत रूप में प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि प्रथम विनोदी पात्र का स्वरूप नाटकों द्वारा प्राप्त होना कठिन है। इसलिए हमें फिर नाट्यशास्त्र की ओर मुड़ना होगा।

नाटक के प्रथम प्रयोग का वर्णन भरत मुनि ने किया है। सामग्री को जुटाकर भरत अपना नाट्यवेद पितामह ब्रह्मा के पास लाये और उनकी सूचना के अनुसार भरत ने खेल प्रस्तुत किया। असुर और दानवों का नाश हो जाने से देवगण फूला नहीं समा रहा था। महेन्द्र का विजयोत्सव चल रहा था। इसी 'इन्द्रध्वज' या 'ध्वजमह' नामक उत्सव प्रसंग में ही भरत ने नाट्यवेद का प्रयोग करके दिखाया। सब से पहले 'अष्टांगपदयुक्त नांदी' हुई और बादमें एक 'अनुकृति' प्रस्तुत की। उस अनुकृति में देवों की दैत्यों पर जय और आपस में क्रुध्द संभाषण (सम्फेट), पलायन (विद्रव), शस्त्र से की गयी मारकाट (च्छेद्य-आहव) और मल्लयुद्ध (भेद्य-आहव) आदि दृश्यों की योजना थी[1]। अन्यत्र 'अमृतमंथन' नामक प्रयोग का उल्लेख है। यह समवकार-जाति का रूपक खुद भगवान ब्रह्मदेव ने ग्रथित किया था। देवताओं को आनंद देकर उनमें उत्साह निर्माण करने की सामर्थ्य उसमें होने से ब्रह्मदेव ने उसका प्रयोग करने का आदेश भरत को दिया।[2] आगे चलकर ब्रह्मदेव के आदेश के अनुसार भरत अपने नट वर्ग को शिव के निवासस्थान ले गये। वहाँ वृक्षराजि, कंदर और निर्झरों से युक्त रम्य हिमालय की पृष्ठभूमि में पहले पूर्वरंग करके 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का प्रयोग शिव के सामने प्रस्तुत किया गया।[3]

इसके अलावा पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य में 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' मूकनाट्यों के दृश्य-प्रयोगों का उल्लेख आ गया है।[4]

---

१. नाट्यशास्त्र, गायकवाड और काशी, १.५४-५८; काव्यमाला, १.२०-२४; इन श्लोकों की अभिनव द्वारा की गयी टीका (गायकवाड,पु.१.पृ.२५-२६) और मनोमोहन घोष का अंग्रेजी अनुवाद (श्लोक १.५५-५८, पृ.६) देखें।

२. नाट्यशास्त्र, ४.१–३.

३. नाट्यशास्त्र, ४.१०.

४. पाणिनि के ३.१.२६ इन सूत्रों का पतंजल-महाभाष्यः 'ये तावद् एते शोभनिका (पाठान्तर शौत्रिका) नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं बलिं बंधयन्तीति।'

इन सब सूचनाओं से स्पष्ट होता है कि प्रारंभ में नाट्य प्रयोगों का स्वरूप देवासुरद्वन्द्व का ही था। इस सम्बन्ध में भरत ने कहा है कि नाटक देखकर देव फूले नहीं समाये पर असुर चिढ़ गये। इसका एक कारण यह था कि असुरों की पराजय का दृश्य दिखाया गया था; साथ ही इसकी भी संभावना है कि नटों ने असुरों का रूप धारण करके अपने अभिनय से असुरों को हास्यास्पद बनाकर स्वर्ग के प्रेक्षकों को हँसाया होगा। दूसरा कारण ही असुरों के क्रोध की यथार्थ जड़ है।

यद्यपि यह कल्पना है फिर भी यह निराधार कविकल्पना नहीं है। असुरों की नकल हूबहू की गयी होगी। यह ध्यान में लाने से कि नाटक का अंत असुरों के पराभव में या नाश में हुआ, उन दृश्यों को प्रस्तुत करने में असुर पात्रों को हास्यास्पदता कैसी प्राप्त होती है और नट अपने अभिनय से उस हास्यास्पदता को कैसे बढ़ा सकता है, यह समझना कठिन नहीं है। पराभूत व्यक्ति की हास्यास्पदता सामूहिक मनोविज्ञान की साधारण बात है। इसके साथ ही असुरों के भयंकर रूप, उनका पतन या पलायन, कोलाहल आदि के उचित अभिनय से नटों द्वारा मूर्त्त किये गये दृश्य देखकर प्रेक्षक वर्ग हँसता है तो उनकी हँसी काल्पनिक न लगकर निश्चित ही यथार्थ लगेगी। इससे यह कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम असुर या दुष्ट व्यक्ति के रूप में विनोदी पात्र का उद्गम रंगभूमि पर हुआ।

संस्कृत नाटक के विदूषक को अच्छी तरह से जान लेने के लिए उपर्युक्त निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण हैं। विदूषक में उसकी हास्यास्पद कुरूपता, ब्राह्मण जाति और प्राकृत भाषा इन तीन विशेषताओं का परंपरागत स्वरूप इतना निश्चित हुआ है कि उल्लंघन किसी भी नाटककार ने नहीं किया है। इनमें से विदूषक की जाति और उसकी भाषा का विवेचन बाद में किया जायेगा। लेकिन यहाँ असुर और ब्राह्मण विदूषक का सम्बन्ध प्रस्थापित करते समय असुरत्व और ब्राह्मण्य का विरोध निर्मित होता है ऐसा अगर किसी को लगता हो तो वह व्यर्थ है। प्राचीन वैदिक वाङ्मय और ब्राह्मण ग्रंथों की परंपरा देखने पर यह स्पष्ट होता है कि देव और असुर का परस्पर विरोध आचार विचार के ही बारे में था। अन्यथा देव और असुर दोनों ही 'प्राजापत्य' अर्थात् प्रजापति के ही पुत्र हैं। इसलिए विदूषक के साथ जोड़ी गयी शारीरिक विकृति, जो हास्योत्पादन का महत्त्वपूर्ण अंग है, का कारण यहीं ढूँढ़ना चाहिए। शारीरिक विकृति से रंगमंच पर हास्य उत्पन्न होता है, लेकिन क्या यह बात नट पर नहीं सौंपी जा सकती? स्वाँग कैसे रचना चाहिए, स्वाँग में हास्योत्पादकता लाने के लिए रंग नेपथ्य, अभिनय आदि साधनों का प्रयोग कैसा किया जाय आदि बातों को अनुभवी नट जान लेते हैं। और अगर न जान सके तो निर्देशक अर्थात् सूत्रधार स्वाँग रचने में नट का उचित मार्गदर्शन कर सकता है। फिर भरत ने विदूषक का इतना बारीकी के साथ वर्णन क्यों किया?

और नाटककारों ने भी उन्हें अपने नाट्यसंवादों में लेने का प्रयास क्यों किया ? इसका कारण मुझे तो यह लगता है कि विदूषक प्राचीन, प्राथमिक देवासुर-नाटकों में से असुरों का परंपरागत रूप है। विदूषक का विकृतत्व असुरों के स्वाँग से आया है। इस प्राचीन परंपरा के कारण ही इस तरह बारीकी से वर्णन करना नाट्यशास्त्र के लिए आवश्यक था।

असुरों का स्वाँग और विनोदी पात्र के सम्बन्ध में अप्रत्यक्ष प्रमाण हमें उत्तर-कालीन नाटकों में मिलते हैं। 'मृच्छकटिक' नाटक का शकार खलपुरुष है लेकिन उसका चित्रण विनोदी पात्र के रूप में है। इस कारण यद्यपि शकार के वर्तन से क्रोध आता है फिर भी उसके अभिनय (वाचिक, आंगिक) में हास्योत्पादकता है। बारहवीं सदी के महादेव कवि के 'अद्भुतदर्पण' नाटक में विदूषक को दैत्यराज रावण के नर्मसचिव के रूप में दिखाया है। उन्नीसवीं सदी के किर्लोस्कर कृत 'सौभद्र' मराठी नाटक में घटोत्कच का पात्र है। सोई हुई सुभद्रा को उसके महल से उठाकर रैवतक पर्वत की गुफा के पास लाकर रखने का जिम्मा श्री कृष्ण ने विदूषक पर सौंप दिया है। 'सौभद्र' नाटक के प्रेक्षक को राक्षस के वेश और बोलने की पद्धति से निर्माण होनेवाले हास्य का स्मरण हो आयेगा।

युरोप और इंगलैंड के प्राथमिक नाटकों की जानकारी इस सिलसिले में सहाय-कारी सिद्ध होगी। क्योंकि, उन नाटकों में 'शैतान' या 'पाप' का चित्रण विनोदी पद्धति से होता था। प्रो० गार्डन इस प्रकार लिखते हैं—

'पुराने अदभुत नाटकों में (मिरैकल्स) उल्लसित करनेवाला हिस्सा हमेशा रहता था : पेटी में भेड़ छिपाकर ले जानेवाला चोर अथवा नोहा की पत्नी जैसी घरेलू और जबरदस्त स्त्री। इसके अलावा, देवताओं का मजाक न हो इसलिए दैत्यों को ही आगे बढ़कर उसमें अपना हाथ बँटाना पड़ता और मनरंजन करना ही पड़ता; इस प्रकार 'शैतान' और उसके 'दुर्गुण' को इंगलैंड में विनोदी पात्रों का रूप प्राप्त हुआ था। आगे चलकर एलिझाबेथ के समय अंग्रेजी रंगमंच से दुर्गुणी पात्रों को हटाया गया और उनकी जगह शेक्सपीयर के नाटकों में क्लाउन (अर्थात् विदूषक) आ गया।[१]

प्रो० थॉर्नडाइक् का कहना है कि दुर्गुणी पात्रों में 'विदूषक' और 'मोह के जाल में फँसाने वाला' दोनों अर्थों का समावेश होता है। वे कहते हैं—

'दुर्गुण केवल विनोद निर्माण करने वाला नहीं होता था। वह नारदों का नेता

१. जार्ज गार्डन, 'शेक्सपीरिअन कॉमेडी' पृ० ६२।

रहता था। और नैतिक प्रतीक नाटक के अनुसार प्रहसनात्मक प्रवेशों में भी वह पाया जाता था'।[1]

इनका मतलब है "दुर्गुण, विदूषकी और हास्य उत्पन्न करने वाला पात्र होता था।"

इसके साथ ही यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मजाक और परिहास करने की वृत्ति मानव का स्वाभाविक गुण है : 'प्राथमिक अवस्था में भी मानव समूह में उपहास की, विडंबना की बुद्धि दिखाई देती है। जंगली लोगों की दिल्लगी की पसंदगी, विनोद को समझने की तीव्र शक्ति साथ ही विनोद से प्रेम आदि पाये जाते हैं...वैसे तो कला का प्राथमिक स्वरूप विडंबन ही है। क्योंकि अननुभवी कारीगर को विडंबन में प्राप्त चेहरे की अतिशयोक्ति दिखाकर अपनी कल्पना को साकार करना पड़ता है।[2] इसीलिए जेम्स फीबलमन् कहते हैं कि विनोदी नाटक मानव जितना ही पुराना है। पुराने अवशेष जो हमारे हाथ में आये हैं उनसे यह अनुमान करना ठीक ही होगा कि प्राथमिक अवस्था में विनोदी नाटक अस्तित्व में थे। उपर्युक्त संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पूर्व पाषाणयुग के जो चित्र गुफाओं में प्राप्त हैं उनमें भी विडंबन का प्रमाण मिलता है।[3]

अतः विदूषक को 'पुरातन' कहना चाहिए। प्राचीन भारत में विदूषक का धंधा करने वाले विदूषक और राजदरबार को खुश रखने वाले मसखरे भी थे। इस परम्परा का अथक प्रवाह है। यदि हाल ही का उदाहरण लेना हो तो अफगानिस्तान के बादशाह अमानुल्ला का लिया जा सकता है। कहा जाता है कि उन्होंने जैसा अपना दूरध्वनिक्षेपक यंत्र बनवा लिया था वैसे ही दरबारी विदूषक को पालापोसा था।

इसलिए प्रो० गॉर्डन कहते हैं, 'विदूषक हमेशा से रहे हैं।' अपने लिए विदूषक की जरूरत होने से विदूषक का जन्म होता है। हम जो कुछ संसार के बारे में कहना चाहते हैं उसे कह डालने पर, हम अपनी अक्लमंदी से जब तंग आ जाते हैं तब ऐसा क्षण आ जाता है कि हम मूर्ख की बात सुनने के लिए उतावले हो जाते हैं। मूर्खता स्वतंत्र है। जो मन में आता है वही बका जाता है; और उसमें कभी-कभी विचित्र प्रदेशों

---

१. प्रो० ए० एच० थार्नडाइक्, 'इंगलिश कॉमेडी' पृष्ठ ५०-५१।
Vice is not merely a mirth provoker, he is also the chief mischiefmaker, and he belongs to the moral allegory as well as to the farcical interlude.

२. कॅरोलिन वेल्स के 'अँन औट लाइन ऑफ ह्यूमर' पुस्तक में आया हुआ, टॉमस राईट के विधान का अवतरण पृष्ठ ९५।

३. जेम्स फीबलमन् 'इन प्रेज आफ कॉमेडी'; पृष्ठ १७ और आगे।

से—अधूरी जानकारी वाला प्रदेश, जो मानव के लिए अगम्य है, जहाँ अक्लमंदी और मूर्खता बंधुभाव से साथ रहती है—आये हुए संदेश रहते हैं।'[1]

सारांश में—

(१) विदूषक के उद्गम के बारे में निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। संस्कृत नाटक का जन्म यद्यपि धर्म से हुआ है फिर भी विदूषक के प्रश्न को उससे नहीं जोड़ सकते। यह सिद्धान्त मन को पटता नहीं कि ऋग्वेद के वृषाकपि या महाव्रत के ब्रह्मचारी और सोमक्रयण के शूद्र से विदूषक की उत्पत्ति हुई है।

(२) विडंबन की प्रवृत्ति मानव प्रकृति में ही है। मनोरंजन और हास्य की मानव के लिए अत्यन्त आवश्यकता है। इस मानसिक आवश्यकता से विदूषक जैसे विनोदी पात्र के निर्माण को देखकर विदूषक को पुरातन मानना पड़ता है।

(३) शास्त्रीय दृष्टि से खोज करने पर, नाट्यशास्त्र के आधार पर विदूषक का मूल असुर-चित्रण में पाया जाता है। विदूषक के दो पक्ष विकृति और विनोद असुर में हैं। लोकप्रिय विदूषक का सम्बन्ध यदि धर्म से माना जाय तो इतना ही है।



---

१. जॉर्ज गार्डन, उपरिनिर्दिष्ट पृष्ठ ६०

['One must suppose that there have always been Clowns. We appear to need them, and therefore they are born. There is a moment, when we have all had our say about the world, and sufficiently tired each other with our wisdom, when it is felt that the fool should be heard. Folly is free; it can say what it likes; and bring messages sometimes from strange territory that half, explored tract or no-man's land: where sense and nonsense fraternize.]'

२.

विदूषक का विकास : प्रभावी अंग

पूर्वरंग में भाग लेनेवाला नट विदूषक और नाटकीय पात्र विदूषक ऐसा भरत द्वारा किया गया भेद जान लेने पर, उत्पत्ति-विकास का प्रश्न नाटकीय पात्रों के साथ जुड़ा हुआ दिखायी देता है। लेकिन यह कहना टेढ़ी खीर है कि मूल 'असुर' पात्र की परिणति संस्कृत नाटक के सांकेतिक विदूषक में किस प्रकार क्रमशः होती गयी। साहित्य शास्त्र और रंगमंचीय नाटक दोनों ही इस प्रश्न पर प्रकाश डालने की दृष्टि से असमर्थ हैं।

पाश्चात्य नाटक के उद्‌गम-विकास का इतिहास इस दृष्टि से बड़ा ही मनोरंजक है। विनोदपूर्ण नाटक को 'कॉमेडी' जो शब्द उपयोग में लाया जाता है वह मूलतः 'कोमॉस' ग्रीक शब्द से आया है। कोमॉस का अर्थ है उत्सव प्रसंग का जुलूस। डायोनिसस् देवता का ऐसा उत्सव मनाया जाता था। उसमें फसल की समृद्धि की कल्पना प्रमुख थी। प्राथमिक काल में उस उत्सव के उद्‌गम का सम्बन्ध मैथुन के साथ जुड़ जाने से इसमें शृङ्गारिक क्रियाओं का प्राधान्य मिला हो तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन आगे चलकर जब डायोनिसस् के साथ बँकस् मद्यदेवता का उत्सव भी जुड़ गया तब संगीत, नृत्य और पीकर किया हुआ मुक्त हास्यविनोद आदि उस उत्सव का एक अंग माना गया। उसी उत्सव में ज्युपिटर या डेल्फी ओरँकल के स्वाँग रचे जाते थे। स्वाँग रचने वाले पशु का स्वाँग लेकर भयानक मुखौटा पहनकर शृङ्गारपूर्ण अभिनय करते हुए जलसे में शोर मचाते थे। बहुधा ये स्वाँग-रचयिता नौसिखुए नट रहते थे। तज्ञ मानते हैं कि ग्रीकों की इस धार्मिक विधि का कॉमेडी में समावेश हुआ है। पुराने संवत्सर का नये संवत्सर में रूपान्तर, संवत्सर का विवाह, उसकी मृत्यु और पुनरुज्जीवन इन मौसमी धार्मिक नाटकों के निश्चित विषय हैं। संवत्सर का देवता, उसकी माता और पत्नी, उसे मारने वाला प्रतिस्पर्धी साथ ही जिंदा करने वाला भिषक् आदि पात्र इस नाटक



में रहते थे। आगे चलकर जब इन नाटकों से धार्मिक प्रेरणा हटती गयी तब कुछ लौकिक पात्रों का आप ही-आप निर्माण हुआ जैसे प्रतिस्पर्धी का डींग हाँकने वाला सिपाही और भिषक् का तथाकथित वैद्य बना।[1] मध्ययुग में कॉन्स्टॉण्टिनोपल के गिरजा घर के प्रभाव से (इ० स० ७२४-७६७) और 'कँलण्डस' नामक लोकप्रिय उत्सव मानने की दृष्टि से 'फीस्ट ऑफ फूल्स' या 'मूर्खों का उत्सव' मनाया जाता था; उसका भी इतिहास बड़ा ही मनोरंजक और उद्बोधक है।

छोटे बड़े गिरजाघरों में यह उत्सव मनाया जाता था। इनमें शामिल होने वाले धर्मोपदेशक अधिकार की दृष्टि से निम्न श्रेणी के रहते थे जो मूलतः एकाध छोटे गाँव के या किसान वर्ग के होते थे। इस उत्सव का खर्च गिरजाघरों के पैसों से और प्रेक्षक पर लागू किये गए धार्मिक-कर द्वारा किया जाता था। प्रमुख समारंभ में मूर्खों के प्रमुख धर्मोपदेशक या कभी-कभी मुख्य धर्मगुरु के चुनाव का कार्यक्रम रहता था। धर्मोपदेशक विदूषकी पोशाक पहनते थे तो सामान्य लोग धार्मिक वस्त्र पहनते थे। हाथ में धर्मदंड और कंधे पर क्रॉस लेकर वे जुलूस निकालते थे। समारंभ के कारण जो रस्मोरिवाज प्रचलित थे उनमें तो स्वच्छंदता के लिए कोई मर्यादा नहीं रहती थी। ये धर्मोपदेशक स्त्रियों के या भाटों के कपड़े पहन कर चाहे जो गाने गाते थे। प्रत्यक्ष धर्म कार्य करते समय विचित्र मुखौटे पहनकर आते थे। वेदी पर चढ़ने के बाद प्रत्यक्ष धर्म-प्रार्थना के शुरू रहते वे कुछ खाते हुए बैठते थे। वहाँ पासा खेलते बैठते थे। पुराने जूतों का तल्ला जलाकर उसका धुआँ करते थे। अन्त में मैले हुए कपड़ों के साथ गाड़ी में बिठाकर उनका सारे गाँव में जूलूस निकालते थे। और उस समय उन्हें देखने के लिए जो लोग आते थे उनके सामने लोकनाट्य में शोभा देनेवाले अभिनय के साथ अश्लील गान गाकर प्रेक्षकों को हँसाते थे। इन सभी विधियों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि धार्मिक जीवन के यम-नियम कठोर बनने से और विधि विधान तंग करने वाले होने से जो प्रतिक्रिया हुई उससे उन्हें इस विडंबन का स्वरूप प्राप्त हुआ है।

इन विधियों को धार्मिक मंदिरों में आगे चलकर कुप्रसिद्धि मिली। लेकिन यह उत्सव बंद करना कठिन हुआ क्योंकि इनमें पहले से ही लोकप्रियता का अधिक अंश था। केवल निम्नस्तर के धर्मोपदेशक ही नहीं बल्कि सामान्य जनता भी इस ओर एक प्रकार के स्वाभाविक मनोरंजन की दृष्टि से देखती थी, साथ ही उसमें बड़े उत्साह से शामिल भी होती थी।

---

१. देखें, एफ० एम० कॉर्नफर्ड, 'दि ऑरिजिन ऑफ अटिक् कॉमेडी': पृष्ठ २९-३०; ६८-६९; २०२ इ०।

आगे चलकर पन्द्रहवीं शताब्दी में विविध संघ प्रचार में आ गये। धार्मिक मंडलों से और साहित्यिक बातों से जिन संघों का निर्माण हुआ वे प्रहसन की तरह नाटक या उपदेशात्मक विडंबन काव्य प्रस्तुत करते थे। मूलतः यह 'मूर्खों के उत्सवों का' ही नया अवसर था और बाद में इसमें से ही कॉमेडी का निर्माण हुआ। क्योंकि इन प्रयोगों में भाग लेने वाले नट, विट या विदूषक जैसे ही रहते थे और वे विनोद के सहारे राजा से लेकर मूर्खों तक सभी का उपहास करते थे। विनोद के सहारे सामाजिक विसंगति पर विदूषक की टीका करने की प्रवृत्ति देखने पर ध्यान में आता है कि इसका ही परिवर्तित रूप कॉमेडी में प्राप्त होता है और इसके नटों की वृत्ति विदूषक के रूप में होती गयी।[1]

सारांश कॉमेडी के विकास के जो सोपान दिखायी देते हैं वे निम्न प्रकार हैं—(१) इसका उद्गम धर्म विधि के विडंबन के अनुकरण में प्राप्त हुआ है। (२) लोक नटमंडलियों ने अपने खेलों में इस विडंबन पद्धति का अवलंब किया। (३) इसका धार्मिक आधार जब नष्ट हुआ तब इसमें हिस्सा लेने वाले नट व्यवसायी नट बन बैठे। इस पद्धति से विदूषकादि सांकेतिक नाटकीय पात्र अस्तित्व में आये।

पाश्चात्य विद्वानों को ऐसा लगना स्वाभाविक है कि संस्कृत नाटक और विदूषक का भी विकास इसी क्रम से हुआ होगा। डा० कीथ का ब्राह्मणकालीन महाव्रत या सोमयाग जैसी धर्म विधियों में विदूषक का उद्गम ढूँढ़ने का प्रयत्न ऐसी ही तुलना में से हुआ होगा। लेकिन ग्रीक धार्मिक नाटकों का या मध्ययुगीन प्रहसनों का प्रमाण यहाँ मान्य नहीं किया जा सकता क्योंकि धर्मक्रियाओं का विडंबन भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है। भारत की धर्म के प्रति इतनी उदात्त और गंभीर भावना है कि व्यक्ति की हँसी उड़ायी जा सकती है लेकिन धर्म का विडंबन करना असंभव ही है और यदि कोई धर्म विडंबन करे भी तो उसे जनमत की स्वीकृति या लोकप्रियता मिलना कठिन ही है। अपने धार्मिक उत्सवों में गायन, नृत्य, नाटक इनका भी समावेश हो जाता है लेकिन इनका बाजारू स्वरूप नहीं आता था। क्योंकि इसके पीछे देवताओं की कृपा के प्रति निष्ठा और आदर, साथ ही यह भावना प्रमुखतः रहती थी कि दुष्टों का नाश होकर सज्जनों की जय होती है। ऋग्वेदकालीन एक कवि ने ब्राह्मणों के धार्मिक आचार और वेदपठन की तुलना मेंढक की हलचल और आवाज के साथ की है।[2] लेकिन ऐसा मानना गलत होगा कि इसमें ब्राह्मणों का हँसी-मजाक है। इस सूक्त का

---

१. देखें: ई० के० चेम्बर्स, 'दि मिडिव्हल् स्टेज' वाल्यूम १. पृष्ठ २६३-२६५; ३२५, ३३४; ३७२-३८६।

२. देखें : मण्डूक सूक्त, ऋग्वेद, ७. १०३ (ऋचा, १, ५, ७, ८, ६)।

विषय जो मण्डूक है उस उपमान को लेकर उदात्त वर्णन करना ही कवि का आन्तरिक उद्देश्य प्रतीत होता है।

इसका मतलब यह नहीं कि संस्कृत नाट्य की उत्क्रांति में धर्मविधि का कुछ हाथ नहीं है। बल्कि यह स्पष्ट है कि इन्हीं धर्मविधि के अनुष्ठानों में एक प्रकार से नाटक के बीज दिखते हैं। महाव्रत समारंभ के श्वेतवर्ण वैश्य और कृष्णवर्ण शूद्र का झगड़ा, या ब्रह्मचारी या पुंश्चली का निश्चित स्थान में खड़े होकर किया गया गालीगलौज, सोमक्रयण में सोमवल्ली का मूल्य निश्चित करते समय की गयी खींचातानी और अन्त में सोमविक्रेता को पीटना आदि क्रियाएँ धार्मिक विधि मानकर प्रतीक रूप में की जाती हैं। उनमें जब तक नाटकीय अंश का अभिनय उचित रूप से निर्धारित नहीं होता तब तक विधि पूर्ण नहीं होती लेकिन धार्मिक अनुष्ठान में विविध क्रिया नाटकीय रीति से करना एक चीज है और धार्मिक विडंबना करना और चीज है। संस्कृत नाटकों की उत्क्रांति में धार्मिक विधि अनुस्यूत होने से निश्चय ही नाट्यतत्त्व उसका सहायक है। लेकिन वह भी विडंबन के रूप में न होकर अनुकृति से और धर्मविधि से सहज प्राप्त नाट्यपूर्ण प्रसंगों से है। अश्वघोष को अपने नाटकों में ब्राह्मण और गणिका का प्रसंग सजाने का शायद ब्रह्मचारी और पुंश्चली के संवादों की स्वाभाविक विसंगति से सूझा होगा। लेकिन इसके द्वारा ऐसा मानना गलत होगा कि वह धर्मविधि का विडंबन कर रहा था। सोमविक्रेता को जो पीटा जाता है उसमें भी ऐसे ही विनोदी प्रसंगों के बीज पाये जाते हैं। शाकुन्तल नाटक में हंसपदि की दासियाँ विदूषक को घेरकर उसकी चोटी खींचती हैं, उसे पीटती हैं, या इन्द्रसारथि मातलि उसे तीन जगह झुकाता है; इन प्रसंगों की निर्मिति की कल्पना में शायद कालिदास ने उपर्युक्त विधि का सहारा लिया होगा। ऋग्वेद में सोम पीकर मत्त बने हुए इन्द्र का वर्णन एक सूक्त में आया है।[1] इससे रंगमंच पर मद्यप का पात्र सूझा हो तो वह भी माना जा सकता है। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि नाटककारों को धर्मविधि के अनुष्ठान से नाट्य प्रसंगों की कल्पना आयी होगी। यहाँ विडंबन का प्रश्न उठता ही नहीं।

यज्ञ और धर्मविधि का विडंबन यद्यपि संदेहास्पद है फिर भी इसे स्वीकार करना पड़ता है कि नाटक के विकास पर धार्मिक कल्पनाओं का ज्यादा प्रभाव था। ऐसा मानने के लिए कि नाट्य कला का प्रारंभ देवताविषयक नाटकों से हुआ होगा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में पाये जानेवाले नाट्यप्रयोगों के नाम, और पतंजलि के महाभाष्य में प्राप्त नाटकों के उल्लेख प्रमाण-स्वरूप हमारे सामने हैं। आज भी प्रादेशिक नाटकों

---

१. देखें : ऋग्वेद १०. ११९। यह सूक्त लव-सूक्त (लव) नाम से पहचाना जाता है।

के इतिहास में रंगमंच की प्राथमिक अवस्था में देवता विषयक नाटक मिलते हैं, और उनका देवताओं के चरित्र चित्रित करना ही प्रमुख उद्देश्य दिखायी देता है।

भरत ही प्राथमिक नाट्यप्रयोगों का उपदेशक और सूत्रधार था। 'भरतपुत्र' और अप्सराएँ इस नाटक में अभिनय करती थीं। देवादि उनके प्रेक्षक बनते थे। कालिदास के उल्लेख से इस जानकारी की पुष्टि ही होती है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में कहा है कि भरत ने 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाटक तैयार किया था और उसमें उर्वशी को नायिका का अर्थात् लक्ष्मी की भूमिका दी गयी थी। नाट्यशास्त्र में नाटक की उत्पत्ति दैवी कही गयी है; उसका अर्थ हम इतना ही ले लें कि देवताचरित्र और धार्मिक कल्पना ही नाटक की उत्क्रांति की पहली सीढ़ी है।

भरत की जानकारी के अनुसार पृथ्वी पर पहला नाटक 'इंद्रमह' नामक उत्सव प्रसंग में प्रस्तुत हुआ।[1] लौकिक जीवन में विविध उल्लसित प्रसंगों में नाट्य-प्रयोग होते थे, लेकिन उल्लास के नित्य प्रसंग धार्मिक उत्सव या मेले ही थे।[2] 'इंद्रमह' भी वर्षाऋतु समाप्त होने पर जाड़े के प्रारंभ में ही किया जानेवाला उत्सव है। संस्कृत नाटकों के उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि शारदीय और वासंतिक उत्सवों के निमित्त या स्थानिक देवताओं के मेले के समय नाटक खेले जाते थे।

सिर्फ नाटक के विषय के चुनने में ही नहीं, नाटक खेलने के प्रसंग निश्चित करते समय भी धर्म का प्रभाव दिखायी देता है। भरत और पतंजलि ने जिन नाटकों के विषयों का उल्लेख किया है उनमें देवताओं के पराक्रमों की स्तुति, असत्य पर सत्य की विजय आदि हैं। उत्सव या मेले जैसे धार्मिक प्रसंगों में नाटक खेलना देवों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना ही है क्योंकि ऐसे प्रसंगों में नाटक विशिष्ट देवता को उद्देश्य करके न होने पर भी कम से कम पूर्वरंग में उसका आवाहन तो होता ही था।

हर्ष के 'रत्नावली' या भवभूति के 'मालतीमाधव' नाटक में वासंतिक उत्सव का जो वर्णन आया है उससे मालूम होता है कि ऐसे उत्सव प्रसंगों में नृत्य, गीत, इतना ही नहीं मदिरापान जैसी आनंदवर्धक बातें भी होती थीं। इससे ऐसे समय में अगर अतिरेक से बात कही गयी तो उसका सम्बन्ध देवता या धर्मक्रिया के परिहास करने से न मानकर उसे उत्सव के आनंद का उद्रेक मानना चाहिए। इसलिए उत्सव प्रसंग में कहीं हास्यप्रसंग की निर्मिति हुई हो तो उसका उद्गम लौकिक बातों में ही पाया जायगा। यह हास्यविनोद उत्सव में मस्त होनेवाले जन समुदाय द्वारा निर्मित

---

१. नाट्यशास्त्र : गायकवाड, काशी सीरीज्, १.५४-५५; काव्यमाला १.२०.२१।

२. नाट्यशास्त्र : गायकवाड, ४.२६५ : काव्यमाला, ४.२४७-२४८, काशी, ४.२६२, मनोमोहन घोष कृत अंग्रेजी अनुवाद, ४.२६९; प्रस्तावना, पृ०५५-५६।

हुआ होगा। और ऐसे समय में यदि नाटक खेला गया हो तो उसके पूर्वरंग में ही विदूषक जैसे नट द्वारा अपने हास्यकारक अभिनय से और असंबद्ध बातों द्वारा हास्य निर्मिति की गयी होगी। इस अवस्था में यह सिद्ध होता है कि यदि नाटक में ही विनोद का अंश होगा तो वह असुर पात्रों के हास्यकारक चित्रों द्वारा ही होगा।

नाटक की उत्क्रांति की जब दूसरी सीढ़ी शुरू हुई तब नाटक का विषय देवता चरित्र ही रहा होगा। लेकिन अब देवता और असुरों का द्वंद्व और देवताओं के पराक्रम का वर्णन न करके उनका ध्यान देवता के व्यक्ति जीवन के सुख-दुखों से भरे हुए लौकिक प्रसंगों के वर्णन की ओर सहज ही गया होगा। अब नाटक का नायक देवता ही है लेकिन उसके प्रति धार्मिक आदर की भावना प्रतीक द्वारा प्रकट करने के बदले, देवता का चरित्र मानव अनुभव की सीमा के अन्दर आनेवाले प्रसंगों से प्रकट करने की प्रथा शुरू हुई है। कालिदास के 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक का उल्लेख इस दृष्टि का सूचक है। नाटक का विषय लौकिकता की ओर झुक जाने से अब नाटक का नायक जो देवता है उसके सहचर के रूप में एकाध पात्र के निर्माण करने की आवश्यकता हुई क्योंकि मानवी भाव-भावनाओं द्वारा देवता का चरित्र दिखाने के लिए विविध पात्रों की आवश्यकता होती है।

भरत ने चार प्रकार के विदूषक बताये हैं। आज तक जितना संस्कृत नाट्य-साहित्य उपलब्ध है उसमें भरत के बताये हुए विदूषकों में से एक भी नहीं मिलता। लेकिन ऐसा भी माना जा सकता है कि ऐसे नाटक प्राचीन काल में नहीं थे या भरत ने काल्पनिक विवेचन किया है। उपर्युक्त विभाजन में देवता के विदूषक का वर्णन हुआ है। यह विदूषक विनोदी पर साथ ही वेदों को जाननेवाला है। उसमें घरेलू झगड़ों को मिटाने की कुशलता है।[1] भरत के वर्णन से ही हमें नारद की याद आ जाती है। नाट्यनिर्मिति के लिए जो कार्य नारद ने किया है नाट्यशास्त्र में ही उसका वर्णन आ गया है। पूर्वरंग के संगीत का एक भाग असुरों को बहुत भाया था और इसी कारण वह भाग देवताओं को अप्रिय हुआ था। तब नारद ने उसकी ऐसी योजना की जिसके कारण दोनों को ही वह अच्छा लगा और वे संतुष्ट हो गये।[2] नारद का संगीत-प्रावीण्य और वेदविद्याज्ञान प्रसिद्ध है। इस कारण नाट्यनिर्मिति में नारद की भरत को बड़ी सहायता प्राप्त हुई।[3] यद्यपि नारद झगड़ों को मिटाता है फिर भी वह छिप-

---

१. आगे 'विदूषक के गुण' यह प्रकरण देखें।

२. नाट्यशास्त्र : गायकवाड. ५.३७-४०; काव्यमाला, काशी, ५.३८-४१; घोष, ५.४४-४६.

३. देखें, नाट्यशास्त्र, काशी ३६.६६।

कर झगड़े लगाकर दूर से आनंद प्राप्त करता है। इतना ही नहीं उसके इस स्वभाव के कारण आगे चलकर पौराणिक कथाओं में 'कलहप्रिय नारद' नाम से नारद का वर्णन हुआ है। इसके साथ उसकी खड़ी चोटी देखकर, विनोदी पात्र के लिए आवश्यक रूप और गुणों को हम नारद में पाते हैं। इस कारण नारद को हम भरत द्वारा वर्णित देवता का सहचर और पहला विदूषक मान सकते हैं।

नाटक की अगली सीढ़ी है उसे प्राप्त लौकिक रूप। इस काल में नाटक का विषय लौकिक बना अर्थात् उसमें मानवी जीवन का चित्रण होने लगा। नाटक प्रस्तुत करने की कला पूर्णतया नाटक मंडली के हाथों में आ गयी।

मूल दैवी नाट्यवेद पृथ्वी पर कैसे आया इसकी एक कथा भरत ने बताया है। नाट्यशास्त्र के ३६ वें अध्याय में ऐसा वर्णित है कि नाट्यवेद के ज्ञान से 'भरतपुत्र' अहंकारी हुए। उस आवेश से उनके अभिनय में अतिरेक आने लगा। ऐसे ही एक समय भरत पुत्रों ने नाटक प्रस्तुत करते हुए ऋषि मुनियों का उपहास किया और सदभिरुचि को न शोभनेवाले ग्राम्य अभिनय से प्रेक्षकों को खूब हँसाया। इस घटना के कारण ऋषि मुनि रुष्ट हो गये और उन्होंने ब्राह्मण भरतपुत्रों को ऐसा शाप दिया कि तुम शुद्र बनोगे। भरतपुत्रों को अपना अपराध ज्ञात हुआ। वे देवताओं की ओर दौड़ पड़े। देवताओं को भी इसकी चिंता थी कि ब्रह्मा द्वारा निर्मित नाट्यकला इस तरह लुप्त न हो जाय। उन्होंने भरतपुत्रों को ऋषियों से क्षमा माँगकर प्रायश्चित्त करने के लिए कहा।[1]

इसी अध्याय में एक और कथा है कि अपने पुण्य से नहुष राजा स्वर्ग पहुँच चुका था। स्वर्ग में संगीत नाटक देखकर नहुष की, वह कला धरती पर लाने की इच्छा हुई। उसने प्रजापति से प्रार्थना की। उसे स्वीकार करते हुए प्रजापति ने भरतपुत्रों को पृथ्वी पर जाकर नाटक खेलने का आदेश दिया। प्रजापति ने आश्वासन दिया कि ऐसा करने से ब्राह्मण और क्षत्रिय राजाओं का बल पाकर वे शाप मुक्त हो जायेंगे।[2]

यद्यपि यह सारा वर्णन काल्पनिक है फिर भी हम भुला नहीं सकते कि उसमें एक सामाजिक इतिहास है। भरत यह ब्राह्मण मुनि है। अतः उनके पुत्र नट भी ब्राह्मण कुल के ही हैं। लेकिन शाप के कारण उन्हें नीच जाति में जन्म मिला। आधुनिक दृष्टि से इसका मतलब इतना ही होता है कि जिस वर्ग के हाथ में लौकिक नाट्यकला थी वह वर्ग निम्न दर्जे का माना जाता था। 'शैलूष' याने नट का सामाजिक दर्जा निम्न श्रेणी

---

१. नाट्यशास्त्र: काव्यमाला, ३६.२९-४५. काशी, ३६.२९-४७।

२. नाट्यशास्त्र: काशी, ३६.४१-७०। काव्यमाला के अध्याय में सिर्फ ४५ ही श्लोक होने से उसमें नहुष की कथा नहीं है।

का होने का उल्लेख रामायण, महाभारत और साहित्यिक ग्रंथों में मिलता है। व्यवसायी नटों के सहवास में आने के कारण निन्दा के पात्र होने का वर्णन बाण ने अपने 'हर्षचरित' में किया है। अपने प्रादेशिक व्यावसायी नाटक मंडलियों का इतिहास देखने से भी यह बात स्पष्ट होती है।

कला का आदर होने पर भी नट को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होना कठिन था। फिर भी कला के प्रेम से सामाजिक बंधनों को तोड़कर नाट्यकला की ओर झुके हुए आज जैसे लोग उस समय भी रहे होंगे। राजकुलों में राजकन्याओं को नृत्य, संगीत और नाट्यकला की शिक्षा दी जाती थी। कई प्राचीन राजा लोग खुद ललितकलाओं में निपुण थे और हरदत्त, गणदास आदि ब्राह्मण स्वेच्छा से नाट्याचार्यों का कार्य करते थे।

सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न अलग रखने पर भी व्यावसायिक मंडलियों में बहुसंख्य नट निचले ही वर्ग से आये हुये दिखायी देते हैं। इन अपढ़ नटों द्वारा अभिनय में अतिरेक या देहातीपन आना स्वाभाविक था। इसके अलावा प्रेक्षकों को हँसाना, उनसे तालियाँ पिटवाने की इच्छा नट में रहना स्वाभाविक है। लेकिन इनमें से किसी भी एक या दोनों कारणों से नाटक में प्रहसनात्मक हिस्से का आना स्वाभाविक ही है। भरत पुत्र ने जो किया उसका इतना ही अर्थ हमारे लिए काफी है।

इस विवेचन से एक महत्त्व का निष्कर्ष निकलता है। नाटक में प्रहसन के समान जो अंश निर्मित होता है उसकी प्रेरणा लौकिक है और उसका सम्बन्ध मानवी वृत्ति से है। नट के अभिनय या लोगों को हँसाने की उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति से परिहास और उपहास निर्मित होता है। ऐसे समय एकाध धार्मिक प्रसंग को हास्य का रूप दिया जाता है तो उसमें धर्म विडंबन का उद्देश्य न होकर, धार्मिक आचारों का जो बाह्य स्वरूप होता है—उसका लौकिक परिहास करने की इच्छा होती है। इस काल में उपर्युक्त अर्थ से नाट्यकला पर धार्मिक प्रभाव हुआ है अर्थात् बाह्याचारों का हँसी-मजाक करने की दृष्टि से वह मर्यादित है; इस बात को भारतीय इतिहास में भुलाया नहीं जा सकता।

कोई धार्मिक विधि जब सामान्य लोगों तक पहुँचकर सामूहिक रूप प्राप्त कर लेती है तब उसमें अनुकृति का भाग अवश्य रहता है; कभी कभी उनमें अनजाने में विडंबन भी दीखता है। फसल के अधिक आने की दृष्टि से बहुतेरे देहातों में सामुदायिक समारंभ करने की प्रथा है। सर वाल्टर एलिएट ने ऐसे ही 'कोंड' या 'कुइंग' नामक देहाती लोगों के भोज-उत्सव का वर्णन किया है। इसका बहुतेरा सम्बन्ध मौसम से है। उस समय एक भेंस या भेंसा मारा जाता है। खेत को उपजाऊ करने के उद्देश्य से मारे हुए पशु का मांस उसमें गाड़ा जाता है और बचे हुए मांस से भोज दिया जाता है। यह उत्सव ग्रामदेवता के नाम से मनाया जाता हैं। उसमें गांव के सभी लोग, ब्राह्मण भी,

सम्मिलित होते हैं। इस उत्सव की धार्मिक विधि मेहतरों के हाथों से होती है। सिर्फ इसी दिन छुआछूत नहीं मानी जाती है। इस उत्सव में चांडाल, मेहतर आदि नीच जाति की नाचने वाली लड़कियाँ और संगीत का साथ देने वाला 'रंगिया' इस तरह सब मिल कर नाच गाना पेश करते हैं। 'रंगिया' विदूषक की तरह अभिनय करके प्रेक्षक को हँसाने का काम करता है।[१]

प्रमुख विधि मेहतर के हाथों से कराने से यद्यपि दूसरों को इसमें विडंबन लगेगा और उसमें उसे ब्राह्मण पुरोहित के उपहास का अनुभव होगा लेकिन इसे ध्यान में रखना आवश्यक है कि गाँववालों के मन में ऐसी भावना नहीं आती है। वे यह विधि बड़ी श्रद्धा तथा गंभीरता के साथ मनाते हैं। इस विधि के बीच जनसमुदाय कभी नहीं हँसेगा बल्कि वह धार्मिक विधि समाप्त होने पर नाच, गाना और अन्य मनोरंजन के कार्यक्रम में, जो उत्सव का एक अंग होता है, आनंद प्राप्त करेगा।

ग्रामीण जनता के सामूहिक उत्सव में दिखाई देने वाले नृत्य, गान और विनोद के कारण नाटक के विकास को मदद मिली है। नाटक का दीर्घकाल तक देवताओं के पास रहना कठिन था। उसमें प्रत्यक्ष जीवन के विषय और मानवी पात्रों का आना न केवल स्वाभाविक था किन्तु निश्चित भी। इस तरह लौकिक रूप में परिवर्तित होते समय नाटक पर जनसमुदाय के धार्मिक उत्सवों का विशेषकर उसके मनोरंजनात्मक अंश का असर हुआ होगा।

नहुष नाटक पृथ्वी पर लाये इसका एक अर्थ ऊपर के रूप में लगाया जा सकता है। और दूसरा अर्थ ऐसा होगा कि नाटक के विकास को राजाश्रय से बहुत बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई है। नृत्य, गायन या स्वाँग रचना आदि रंजन रूप लोगों को हमेशा प्रिय रहे हैं। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि एक व्यवस्थित रूप मिलकर उसका विकास राजाश्रय से ही हुआ है। राजाश्रय से नाटक-मंडलियाँ जरूर पनपी होंगी, साथ ही साथ राजाश्रय का प्रभाव नाट्य-स्वरूप पर भी जरूर पड़ा होगा। विषय लौकिक और नायक राजा इस प्रकार की जो नाट्य-विद्या अविकसित होती गयी उसमें से ही संस्कृत के 'दरबारी नाटकों का' निर्माण हुआ। और जब इन नाटकों में मनोरंजन पर अधिक बल दिया गया तब राजा के वैयक्तिक जीवन का मसखरा विदूषक नायक—राजा का सहचर बना दिया गया।

ऐसा होना स्वाभाविक ही था। इसकी पुष्टि करने वाले प्रमाण संस्कृत नाटकों

---

१ सर वाल्टर एलिएट; 'ऑन दि कॅरेक्टरिस्टिक्स ऑफ दि पॉप्युलेशन ऑफ सेण्ट्रल इंडिया'; जर्नल ऑफ दि एथ्नॉलॉजिकल सोसायटी ऑफ लंडन १.६४ [१८६६]; चेंबर्स के 'मिडिह्वल स्टेज' खंड २ के पुरवणी से लिया हुआ परिच्छेद।

द्वारा अप्रत्यक्ष रीति से हमारे पास उपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि विदूषक का पात्र वहीं आ गया है जहाँ नाटकों का स्वरूप और उसका वातावरण सामाजिक है। रामायण-महाभारत जैसे महाकाव्यों से चुने हुए विषयों पर या पौराणिक प्रसंगों पर लिखे गये नाटकों में विदूषक नहीं है। इसका कारण भी स्पष्ट है। ये विषय प्राचीन-श्रद्धा के या इतिहास के भाग होने से नाटककार तत्कालीन सामाजिक पार्श्वभूमि पर विदूषक को चित्रित नहीं कर सका। देवताओं की कथाओं में सामाजिक स्तर का विदूषक असंगत दिखायी देता। आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में 'रतिमन्मथ' या 'अद्भुत दर्पण' में जो विदूषक आया है वह या तो केवल अनुकरण के कारण ही आया है या यों कहें कि साहित्यशास्त्र के नियमों के पालन के लिए। वास्तव में दुष्यंत-शकुन्तला या उर्वशी-पुरूरवा की पुराण-प्रेमकथाओं को जब सामाजिक रूप दिया गया तभी नायक राजा के सहचर के रूप में विदूषक का पात्र उचित बन गया। अभिजात नाट्य साहित्य को देखने पर हमें दिखायी देता है कि जिस नाटक में राजा नायक सामाजिक वातावरण में दीखता है वहाँ विदूषक का अस्तित्व मिलता है। इन दरबारी नाटकों के अलावा 'प्रकरण' नामक एक नाट्य प्रकार रूढ़ था। उसका पूर्ण स्वरूप सामाजिक होता था और उसका नायक ब्राह्मण, वणिक या मंत्री-पुत्र रहता था। ऐसे प्रकरण नाटकों के उदाहरण के रूप में 'मृच्छकटिक' और 'मालती माधव' का नाम ले सकते हैं। इनमें भी विदूषक है। 'मालती माधव' में विदूषक के न रहने पर भी नायक के सहचर के रूप में ही पीठमर्द है।

सामाजिक दृष्टि से विचार करने पर इस बात का पता चलता है कि विदूषक जैसे लोगों को राजदरबार में रखने की प्रथा प्राचीन है। कामसूत्र में नाटक के वर्णन से स्पष्ट है कि सिर्फ राजा ही नहीं सुसंस्कृत अमीर लोग भी विट, पीठमर्द, विदूषक को पास रखते थे। विदूषक केवल हँसा-हँसाकर मनरंजन करने वाला न होकर नागरक और उसकी गणिका का विश्वास संपादन कर लेने से उनके प्रणय प्रकरण में मध्यस्थ बन सकता था, वैसे ही उनसे गलती हो जाने पर उन्हें बोलने का अधिकार भी उसे प्राप्त हुआ था।[1] इससे सिद्ध है कि विदूषक तत्कालीन समाजिक जीवन में परिचित

---

१. कामसूत्र, काशी सीरीज क्रमांक २९। आगे के उल्लेख देखें, (१) 'भोजनानन्तरं ......पीठमर्दविटविदूषकायत्ता व्यापाराः।' १·४-२१। (२) 'स च वेश्यां नागरकं वा क्वचित् प्रमाद्यन्तं लब्धप्रणयत्वादपवदत इति विदूषकः, क्रीडनत्वाच्च वेशे गोष्ठ्यां च विविधेन हासेन चरतीति वैहासिकः, इत्युभयनामा।' १·४-४६ इस सूत्र का भाष्य। (३) 'एते वेश्यानां नागरकाणां च मन्त्रिणः संधिविग्रहनियुक्ताः।' १·४-४७।

व्यक्ति था। इसलिए स्वाभाविक भी और संभव भी है कि सामाजिक नाटक का विदूषक प्रत्यक्ष जीवन से ही लिया गया होगा।

वास्तव में संस्कृत नाटककारों ने जब सामाजिक हास्य प्रधान नाटक लिखना आरम्भ किया तब उनके लिए जो सामग्री चाहिए थी वह उन्हें सामाजिक जीवन में आसानी से प्राप्त हो सकती थी। लेखकों को सामाजिक जीवन का सूक्ष्म अध्ययन करना आवश्यक है। संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने भी लोक जीवन का अभ्यास करना लेखक की शिक्षा का एक महत्त्व का पहलू माना है।[1] दरबार और महलों का जीवनक्रम, शिक्षितों की बातें, नगर और देहातों के सभा सम्मेलन, नगर या ग्राम के उत्सव संस्कृत लेखकों के नित्यावलोकन के विषय थे। राजाओं का प्रणयव्यापार, अन्तःपुर की आन्तरिक बातें, दासी या वेश्याओं का जीवन, द्यूतगृह में या मदिरालय में होने वाला स्वैराचार, सामूहिक उत्सव के नृत्य, गायक और उपहास से परिपूर्ण वातावरण का प्रयोग नाट्यप्रसंग रचने के लिए सुलभ था। दासी और विदूषक का झगड़ा, या वसंतसेना जैसी गणिका का रास्ते पर किया गया पीछा आदि प्रसंग निर्मिति के लिए लेखकों को महाव्रत जैसे पुराण यज्ञविधि की ओर दौड़ने की क्या आवश्यकता थी? ऐसे प्रसंग लोक जीवन में प्राप्त थे इसका सबूत हमें वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में और 'मृच्छकटिक' जैसे नाटक में मिलते हैं।

यह कहना कठिन है कि लोक जीवन का विदूषक फलानी जाति का था। जब तक विदूषक में सामाजिक दृष्टि से आवश्यक गुण और अपना कार्य ठीक रीति से करने की क्षमता थी तब तक उसकी जाति का प्रश्न कम से कम प्रत्यक्ष जीवन में तो नहीं आता था। लेकिन जब नाटककारों ने विदूषक की, इसी सामाजिक रचना पर पुनर्रचना की होगी तब नाटक का सामाजिक आशय और कलातन्त्र के कारण उन्हें कुछ नियम बनाने की आवश्यकता हुई होगी। नाटक यह लोकानुरंजन की कला है। नाटक के प्रेक्षक वर्ग में जैसे सामान्य लोग रहते हैं वैसे ही समाज के उच्चस्तर के विद्वान और सुसंस्कृत लोग भी रहते हैं। इसके आलावा राजाश्रय में संस्कृत नाटकों ने दरबारी रुख अपना लिया था। नाटक का नायक राजा था। इन दोनों बातों का प्रभाव विदूषक की पुर्नरचना पर हुआ होगा। क्योंकि ग्राम्य अभिनय और भाषण यद्यपि निचले स्तरों को प्रिय थे फिर भी नाटक के लिए आने वाले मिश्र समुदाय के सामने ऐसा प्रदर्शन अधिक देर तक टिकना असम्भव था। ऋषिशाप भुगतने की, भरत पुत्रों की कथा का यही

---

१. देखें. मम्मट का काव्य प्रकाश, १.३ : 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥'
'लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य।' ऐसी मम्मट की वृत्ति है।

तात्पर्य है। इसीलिए नाटककार को विदूषक के लिए एक विशिष्ट दर्जा देना आवश्यक था। वैयक्तिक जीवन में कोई किसी का उपहास कर सकता है लेकिन खुले जीवन में, और वह भी नाटक के रूप में सामाजिक जीवन दर्शन में मदभिरुचि की मर्यादा का पालन करना आवश्यक है। नाट्यकला का जैसा यह नियम है वैसा सब का उपहास करने वाला विदूषक यदि समाजमान्य उच्च स्तर का होगा तो उसका किया हुआ मजाक भी किसी को नहीं चुभेगा। इसे हम जनमनोविज्ञान का नियम कह सकते हैं। दूसरी बात यह है कि नाटक का नायक यदि राजा होगा तो उसके सहचर अन्तरंग मित्र के रंगमंच पर आने वाले विदूषक को राजा के योग्य होना आवश्यक है। भरत ने जो नियम बताया कि राजा का विदूषक ब्राह्मण हो और नाटककारों ने भी उसे ब्राह्मण के रूप में जो देखा उसके लिए अंशतः कला के नियम और अंशतः सामाजिक सभ्यता कारण है।

दरबारी और सामाजिक नटों के विदूषक का रूप इस तरह सिद्ध हो जाने पर, विनोद को और सुन्दर बनाने के लिए नाटककारों ने उसमें अनेक रंगों का उपयोग किया। इसी में ब्राह्मणों का मजाक भी आ गया। भरतपुत्रों ने जिस तरह ऋषि मुनियों का उपहास किया उसी तरह वाल्मीकि आश्रम का छोटा सा सौधातकी वसिष्ठ को शेर और गीदड़ कहकर मजाक करता है।[1] वेदाध्ययन करने वाला संस्कृत अच्छी तरह न आने से स्वाभाविक-प्राकृत बोलकर ब्राह्मणत्व का झूठा अधिकार रखने वाला यह ब्राह्मण केवल संस्कृत नाटककारों की निर्मिति नहीं है। यदि ऐसे अपढ़ ब्राह्मणों का वर्ग समाज में न होता तो यास्क उनकी निंदा क्यों करता?[2] और फिर मनु भी कर्तव्यच्युत और कलंकी ब्राह्मणों की आलोचना नहीं करता।[3] ऐसे ब्राह्मणों के अस्तित्व के ही कारण शास्त्रकारों को आलोचना करनी पड़ी। फिर भास ने इन्द्र को लोभी बनाकर प्राकृत ब्राह्मण के रूप में रंगमंच पर प्रस्तुत किया।[4] अन्य नाटककार भी विदूषक के द्वारा ब्राह्मणों के दोष सामने लाये।

१. देखें : उत्तररामचरित्र, अंक ४, मिश्रविष्कम्भक।

२. देखें : निरुक्त, १. १७: 'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

३. देखें : मनुस्मृति, २.१०३, ११० इ० वैसे ही २. १५६-१५७ :

यथा काष्ठमयो हस्ती यथाचर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥
यथा षण्ढो ऽफलः स्त्रीषु यथा गोर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं ज्ञानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

४. देखें : भास का 'कर्णभार' नाटक।

ऐसा कहना कि विदूषक द्वारा संस्कृत नाटककारों ने ब्राह्मण वर्ग की असंगति दोषों को उपहास का विषय बताया एक बात है और विदूषक को ब्राह्मण जाति का विडंबन मानना और बात है। दूसरी बात के कारण विदूषक का चित्रण एकांगी, अधूरा बनता है, और उसका परिहास अकारण मर्यादित बन जाता है। इसलिए इस विधान में तर्कदोष पाया जाता है। संस्कृत-नाट्यसाहित्य के विदूषकों के सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि विदूषक को विनोदी पात्र के रूप में एक विशिष्ट स्थान तथा अधिकार प्राप्त है। वह केवल महलों की दासी या गणिका और इनके परिवार का ही उपहास नहीं करता किन्तु वह किसी भी व्यक्ति पर, किसी भी प्रसंग पर उपहास करता हुआ रंगमंच पर दीख पड़ता है। कालिदास के विदूषक राजा के प्रणयप्रकरणों की प्रकट या अप्रकट रूप से निन्दा करते हैं। शकुन्तला का माढव्य दुष्यन्त के सेनापति के ढोंग पर जैसे टूट पड़ता है वैसे ही वह कण्वाश्रम के लम्बी दाढ़ी वाले और इंगुदी तेल के चिकटे माथे देखकर उन तापसोंका भी मजाक उड़ाता है। धार्मिक आचार की दृष्टि से एक विशिष्ट रंग का वस्त्र पहनने की या दिगम्बर रहने की जो प्रथा है उस पर भास के सन्तुष्ट ने हलका सा प्रहार किया है। शूद्रक के मैत्रेय का, उपहास करने का क्षेत्र इतना विशाल है कि उसमें से एक बात भी छूटने नहीं पायी है।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि औदार्य का आरम्भ अपने से हो; ठीक यही बात विनोद की भी है। दूसरों की दिल्लगी उड़ाने वाला पात्र खुद की उड़ाये तो यह स्वाभाविक ही है। इतना ही नहीं तो खुद की ही मनमाने दिल्लगी उड़ाना यह हास्य कला की चरमसीमा है। इस अर्थ में विदूषक ब्राह्मण जाति का मजाक उड़ाता है। कुछ नाटककारों ने यदि विदूषक को केवल उपहास का विषय बनाकर ब्राह्मण जाति का विडंबन किया हो तो ऐसा कहना पड़ेगा कि उनकी कल्पना और कला मर्यादित है। अभिजात नाटककारों ने विदूषक को केवल हास्यास्पद नहीं बताया बल्कि उसे जीवन के भाष्यकार के रूप में भी चित्रित किया है। उत्तरकालीन नाटककारों में यह मर्यादा नहीं आयी। तब विदूषक केवल उपहास का विषय बना तभी उसका परंपरित रूप निर्मित हुआ। इस तरह कला की दृष्टि से इस पात्र की प्रगति समाप्त हुई और विदूषक मृतवत बन गया।

इस विदूषक की भाषा का प्राकृत होना स्वाभाविक ही था।[१] प्राकृत प्रचलित भाषा थी। जनसमुदाय की संस्कृत भाषा पिछड़ गयी थी और उसकी जगह प्राकृत भाषाएँ आ गईं थीं। इस कारण रोज के व्यवहार में केवल सामान्य जन ही नहीं तो सुशिक्षित भी प्राकृत का प्रयोग करते थे। कामसूत्रकार ने बताया है कि नागरिकों के

---

१. अधिक चर्चा के लिए 'विदूषक की भाषा' प्रकरण देखें।

सहित्यिक जलसों में संस्कृत या प्राकृत का सतत प्रयोग नहीं करना चाहिए।[1] नाटक जनता की कला है। विदूषक के विनोद से केवल पंडितों के चेहरे पर स्मितरेखा दिखाई देने से क्या होता है? विदूषक का विनोद सभी लोगों तक पहुँचना चाहिए और इसलिए वह प्रचलित भाषाओं में होना चाहिए। इसके अलावा ब्राह्मण विदूषक के प्राकृत के प्रयोग करने में यदि असंगति है तो वही विनोद का एक आवश्यक अंग है।

उपर्युक्त भूमिका से विदूषक की अन्य विशेषताएँ आसानी से जानी जा सकती हैं। वह ब्राह्मण होने के कारण पेटू है और डरपोक भी। ब्राह्मण भोजनप्रिय है और उसका सारा शौर्य उसकी जिह्वा में ही है जिसे भवभूति जैसे ब्राह्मण नाटककार ने ही बता दिया है।[2] विदूषक की शारीरिक विकृति असुरों से पैतृक रूप में मिली होगी या रंगमंच पर हास्यनिर्मिति के लिए साधन के रूप में प्राप्त हुई होगी। विदूषक की ये विशेषताएँ बार-बार चित्रित होती थीं। इससे विदूषक को स्थिर रूप प्राप्त होते ही वह संस्कृत नाटक का सांकेतिक विनोदी पात्र बना।

निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(१) भरत के नाट्यशास्त्र और संस्कृत साहित्य के अवलोकन से संस्कृत नाटक का प्रारम्भ देवासुरों के द्वन्द्वप्रदर्शन से दिखायी देता हैं। इस समय असुर पात्र का विकृत और हास्यकार का स्वाँग रचने में ही विनोद की निर्मिति होती थी।

(२) धर्मकल्पना और धार्मिक बिधि का नाटक के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा है। लेकिन यह विडंबन के रूप में, कम से कम भारत में तो असंभव ही है। प्रारम्भिक अवस्थाओं के नाटक देवता विषयक थे। उनमें देवताओं के पराक्रम के चित्रण और स्तुति-पूर्ण आवाहन रहते थे। इस समय भी हास्यनिर्मिति असुरपात्रों के द्वारा या अन्य साधनों से पूर्वरंग के नट विदूषक द्वारा होती रही होगी।

(३) आगे चलकर नाट्य का स्वरूप प्राय: देवताविषयक ही रहा। फिर भी प्रतीकात्मक विजयों का वर्णन न करके, देवता को ही नायक बनाकर मानवी भाव-भावनाओं के आरोप से जीवन के परिचित प्रसंगों को चित्रित किया जाने लगा। इस अवस्था में देवता-नायक के सहचर के रूप में नारद जैसे पात्र का निर्माण सुलभ हुआ। भरत द्वारा वर्णित पहला विदूषक नारद माना जा सकता है।

(४) नाटक का जैसे जैसे विकास होता गया वैसे वैसे उसे सामाजिक रूप प्राप्त होता गया। इस काल में भी धार्मिक प्रभाव कम नहीं हो पाया क्योंकि नाटक का

---

१. कामसूत्र, १.४.५०. नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयेल्लोके बहुमतो भवेत्।

२. देखें 'सिद्धं ह्येतद् वाचि वीर्यं द्विजानाम्'। उत्तररामचरित, ५.३२

विषय सामाजिक होने पर भी पूर्वरंग के रूप में धार्मिक विधि नाट्य का आवश्यक भाग बनकर अब तक रहा । इसके अलावा नाट्य प्रयोग को धार्मिक या सामाजिक उत्सव में या स्थानिक जलसे के प्रसंगों में प्रस्तुत करने की प्रथा के पीछे भी धार्मिक प्रेरणा ही काम कर रही थी ।

नाटक का विषय जब सामाजिक बना तब उसमें नीचे स्तर के नट नाटकमंडलियों में शामिल होने लगे । या तो उत्सवों के आनंद के कारण या नट की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण अभिनय और भाषणों में हास्यनिर्मिति होने लगी ।

इस काल खंड में नाट्यकला को राजाश्रय प्राप्त हुआ । इस कारण एक ओर जिस तरह नाटकों का विकास हुआ उसी प्रकार दूसरी ओर दरबारी नाटकों की (Court-comedy) पद्धति रूढ़ होती गयी जिनमें राजा ही नायक रहता था । नाटककारों ने अपने पास के सामाजिक जीवन के पात्रों और प्रसंगों को चुन लिया । विदूषक भी ऐसे ही आया क्योंकि विदूषकादि लोगों को राजा या उच्च श्रेणी के लोग आश्रय देते थे । वह एक उस समय की रूढ़ि ही थी ।

(५) सामाजिक नाटकों का विदूषक यद्यपि प्रत्यक्ष जीवन से ही निर्मित हुआ था फिर भी पुरानी रूढि से या नयी घटनाओं से नाटकीय पात्र के रूप में उस पर विशिष्ट संस्कार हुये थे । असुरों की विकृति या नारद की चोटी जैसी हास्यकारक शारीरिक विशेषता उसमें आ गयी । साथ ही उसमें नारद की मार्मिकता और निरुद्देश्य उपहास करने की प्रवृत्ति आ गयी । इसके साथ ही, राजा का सहचर बनने से और राजा के साथ सभी लोगों का मजाक उड़ाने का अधिकारी बन जाने से वह उच्चवर्णीय ब्राह्मण बन गया । औरों की हँसी करते समय खुद को अलग नहीं रखा जा सकता । इस कारण कला की दृष्टि से विदूषक में ब्राह्मण जाति का भी उपहास आ गया है ।

(६) संस्कृत नाटक का विकास राजाश्रय के प्रभाव में हो जाने से इस विदूषक का आदर्श रूढ़ होता गया और विदूषक की विशेषताएँ स्थिर होती गयीं । इसका रूपांतर विदूषक के सांकेतिक और परंपरित रूप में प्राप्त होता है ।

०००

३. विदूषक का स्वाँग

विदूषक के स्वाँग की सजावट का वर्णन करते हुए भरत ने कहा है कि विदूषक द्विज होता है; छोटे कद का होता है; उसके दाँत आगे आगे रहते हैं; वह कुबड़ा, लँगड़ा, गंजा होता है; उसकी आँखें लाल और चेहरा विकृत रहता है। थोड़े में कहना हो तो विदूषक कुरूप और विकृत दिखायी देता है।[1]

इसके बाद के शास्त्रकारों में से किसी ने भी विदूषक के स्वाँग के बारे में कुछ भी नहीं लिखा। इसके अपवाद स्वरूप केवल शारदातनय हैं। लेकिन उसने भी प्रमुखतः भरत का ही अनुवाद किया है। इसी वर्णन के अनुसार विदूषक गंजा, लाल आँखों का; उसकी पीठ की हड्डियाँ हास्योत्पादक हैं अर्थात् वह कुबड़ा है। लेकिन शारदातनय ने वर्णन किया है कि विदूषक के बाल भूरे और उसकी दाढ़ी हरे-पीले रंग की है।[2]

---

१. देखें—वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजन्मा विकृताननः।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः॥
नाट्यशास्त्र : काव्यमाला, २४.१०६, काशी, ३५.५७। 'द्विजन्मा' के बदले द्विजिह्वो।

२. देखें—खलतिः पिङ्गलाक्षश्च हास्यानूकविभूषितः।
पिङ्गकेशो हरिश्मश्रुर्नर्तकश्च विदूषकः॥
'भावप्रकाशन', गायकवाड सीरीज, क्र० ४५, पृ० २८९।
'हास्यानूक' का मुख की हास्यकारक विकृति, 'व्रण' ऐसा प्रा० परीख ने अर्थ दिया है (दि विदूषकः 'थिअरी अँड प्रक्टिस' पृ० २३ पाद टिप्पणी १) जो गलत है। 'अनूक' का मतलब 'पृष्ठवंशरज्जू'। (वंक्र्याधारः आयतः पृष्ठास्थिविशेषः। 'आपटे कोश।) इस कारण हास्यानूक पद का' पीठ की हास्योत्पादक हड्डी, 'अर्थात्' 'कूबड़' यही अर्थ होता है।

शारदातनय के इस वर्णन में कि 'गंजापन' और 'भूरे बाल' विरोध दिखायी देगा; लेकिन ऐसा विरोध नाट्यशास्त्र के वर्णन में भी है। भरत ने ऐसा कहा है कि एक ओर विदूषक को गंजा बनाया है और दूसरी ओर उसके बालों को काकपद जैसे।[1] काकपद का चिन्ह (∧) इस तरह है। अभिनव ने स्पष्टीकरण दिया है कि 'जिसके बाल काकपद जैसे काटे गये हों।'[2] अर्थात् सिर के बाल काटकर दोनों कानों पर आने वाली लटें कौए के पैरों जैसी दिखती हैं। यदि यह अर्थ ठीक है तो गंजापन और भूरे बाल इन दोनों का सामंजस्य ठीक बैठता है। सिर पर गंजापन और कानों पर लटें इस तरह विदूषक का रूप दिखायी देता था। पाठांतर आता है कि इन दोनों में से, कोई भी एक प्रकार, केश रचना के लिए उपयोग में लाया जाता था।[3]

'च्छेदविभूषितवदनो' पद से विदूषक के स्वाँग के बारे में और एक बात स्पष्ट हो जाती है।[4] इसका पाठांतर 'विभूषितवचनो' है, लेकिन स्वाँग से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। 'छेद' शब्द का अर्थ लगाते समय टीकाकारों में कुछ गड़बड़ी दिखायी देती है। लेकिन 'छेद' का अर्थ है 'रंगीन पट्टियाँ'। मुंह को रँगते समय इस तरह की रंगीन पट्टियाँ बनाते थे। केरल के रंगमंच पर अब भी विदूषक को इसी तरह सजाते हैं। अन्यत दिए गए चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है। मेघदूत के वर्णन से पता चलता है कि कालिदास ने 'छेद' शब्द का अर्थ यही लिया है।[5] आगे नेपथ्यज-हास्य-वर्णन करते हुए भरत ने कहा है कि दिये के काजल या स्याही के समान रंग, राख और गेरू आदि से विदूषक का मुंह रँगा जाता था।[6] इससे ऐसा दिखायी देता है कि विदूषक को सजाते समय उपर्युक्त रंगों से उसके मुँह पर रंगीन पट्टियाँ खींचते थे।

---

१. देखें—विदूषकस्य कर्तव्यं खल्लिकाकपदं तथा।
नाट्यशास्त्र, काव्यमाला २१ १२६, काशी २३.१४८।

२. देखें—काकपक्षवद् यत्र केशविच्छेदः।
नाट्यशास्त्र, गायकवाड, २१.१५५; टीका, पृ० १३४

३. देखें—विदूषकस्य खलतिः स्यात् काकपादमेव वा॥
नाट्यशास्त्र, गायकवाड, २१.१५५।

४. नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, ३५.२५। काशी आवृत्ति में, ३५.७१ 'विभूपितवचनो' —ऐसा पाठ है।

५. मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक १६
भक्तिच्छेदैरिवविरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥

६. देखें—(चीरचर्म) मषीभस्मगैरिकाद्यैस्तु मण्डितः।
नाट्यशास्त्र गायकवाड, १२.१४१, काशी, १२.१४०।

विदूषक के इस स्वाँग के बारे में संस्कृत नाटकों में कुछ वर्णन नहीं मिलता। शायद यह विषय नट की परिधि में होने से नाटककारों ने सामान्य वर्णन के परे अधिक ध्यान नहीं दिया होगा। फिर भी कालिदास ने माढव्य की चोटी का उल्लेख किया है।[१] राजशेखर के कपिंजल की चोटी और भूरी दाढ़ी का उल्लेख है तो चारायण विदूषक को गंजा दिखाया है।[२]

भास ने जानबूझ कर विदूषक की कुरूपता का वर्णन नहीं किया है। संतुष्ट खुद स्त्री होने का स्वांग भरता है; शायद इसमें ही पौरुषत्व का उपहास होगा!"[३] लेकिन 'अद्भुत दर्पण' के महोदर को ऐसे पौरुषत्व का हँसी मजाक बिलकुल नहीं भाता।[४] शूद्रक के मैत्रेय का सिर ऊँट के घुटने जैसा है; और सिर के बाल काकपद की तरह हैं।[५]

'मालविकाग्निमित्रं' का गौतम एक अनपेक्षित कठिन प्रसंग में से बंदर के प्रयत्न से जब अचानक बच जाता है तब वह बंदर को धन्यवाद देता है। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' में कुमार आयु जब झुककर प्रणाम करने लगता है तब माणवक कहता है, 'आश्रम में रहने से इसकी बंदरों से पहचान हुई ही होगी।' इन दोनों स्थानों पर कालिदास ने विदूषक का मर्कट के साथ साम्य होना सूचित किया है।

हर्षकृत 'रत्नावली' में आवाज सुनकर सागरिका को बन्दर के आने का भास होता है। उस समय उसकी सखी सुसंगता उसे बताती है कि वह बन्दर की आवाज न होकर विदूषक की है। उस समय विदूषक के आगमन पर सागरिका उपहास करती है

---

१. देखें—[illegible], अंक ५, 'शिखण्डके ताड[illegible]' इ०

२. कर्पूरमंजरी: 'लम्बकूर्च' अंक १.२०-१७ लूतोत्पाटितमूर्धकं शीर्षकं करिष्यामि अंक ४.२-२।

विद्धशालभंजिका : 'अस्मादृशखल्लाटस्य' अंक ४.३।

३. देखें—अविमारक, अंक ५। ११-१२ को अन्यो जनो मां प्रेक्ष्य पुरुष इति भणति। स्त्री खल्वहम्।

४. देखें—अद्भुत दर्पण, अंक ५ (काव्यमाला, पृ० ४८): कथं तेऽहं न पुरुषः। प्रतिसंवत्सरं प्रसूता मम ब्रह्मराक्षसी कुण्डोदरी एव जानाति मे पुरुषत्वम्।

५. देखें—मृच्छकटिक, 'अहमपि अमुना करभजानुसदृशेन शीर्षेण...।' (अंक १.५६-६-७), 'अरे काकपदशीर्षमस्तक दुष्टबटुक......' (अंक १.५०. ४-५)

कि 'कितना सुन्दर पुरुष है।' 'नागानन्द' नाटक में भी विट विदूषक को 'कपिलमर्कट' नाम से सम्बोधित करता है।

'कौमुदी महोत्सव' नाटक में वैखानस बन्दर के समान दिखता है और उसकी आवाज गर्दभ की तरह है। इस परम्परा को राजशेखर ने आगे बढ़ाया है। 'विद्धशालभञ्जिका' का चारायण गंजा तो है ही लेकिन जब वह राजा को अश्वशाला में बन्दर का चित्र दिखाता है तब राजा कहता है कि 'हे मित्र ! यह चित्र तो तुम्हारा ही है।' यह अलग बात है कि इस कथन पर चारायण चिढ़ जाता है।

इसके अलावा विदूषक के स्वाँग के बारे में संस्कृत नाट्य साहित्य में और कुछ उल्लेख मिलते हैं। राजशेखर के कपिंजल के (नामानुसार) भूरे बालों का और दाढ़ी का उल्लेख ऊपर आ चुका ही है। इसके सिवा 'टप्परकरण' पद से दिखाई देता है कि उसके कान 'टोकरी के अनुसार' हैं। 'शाकुंतल' नाटक के विदूषक का वर्णन 'माणवक' शब्द से किया है; उसका अर्थ है 'छोटे कद का आदमी'। शिकार की गड़बड़ी में विदूषक थक जाता है; वह अच्छी तरह खड़ा भी नहीं रह सकता; इस अवस्था का वर्णन जब वह दुष्यंत से करने लगता है तब वह नदी के वेग से झुके हुए बांस का उदाहरण देता है और उस समय 'कुब्जलीला' शब्द का प्रयोग करता है। तब इस विदूषक की ठीक झुकी हुई, कुबड़ी आकृति हमारी आँखों के सामने आ जाती है। आगे वर्णन है कि हंसपदिका रानी की दासियों ने या इन्द्रसारथि मातलि ने उसे पीटा है; इससे विदूषक की शारीरिक विकृति का हम अन्दाजा कर सकते हैं।

हर्ष ने 'नागानन्द' नाटक में एक प्रसंग चित्रित करके उसमें विदूषक के मुँह को काला रंग दिया है।

'अद्भुत दर्पण' नाटक का विदूषक तोंदल है। उसके 'महोदर' नाम से तथा दोनों हाथों से पेट को संभालते हुए रंगमंच पर आने का जो वर्णन महादेव ने किया है उससे विदूषक की हास्यास्पद आकृति की अच्छी कल्पना आ सकती है।

यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं है कि शास्त्र तथा नाटकों में प्राप्त होनेवाले ऊपर उल्लिखित वर्णन, विदूषक का स्वाँग कैसे सजाया जाता था इसके बारे में है। इसी वर्णन से स्पष्ट होता है कि विदूषक के स्वाँग की यह कुरूप आकृति हास्य-निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण अंग थी।

यह पहले बताया जा चुका है कि विदूषक का विकृत स्वाँग प्राथमिक अवस्था के असुरपात्र के चित्रण की परंपरामें आया है। लेकिन ऐसा भी कहा जा सकता है कि नट को अपनी रंगभूषा सजाने में, सहायक हो इस हेतु से शायद भरत ने विदूषक के वर्णनों में साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया होगा और आगे चलकर शास्त्रकारों ने और नाटककारों ने अपने कुछ मतों को उसमें जोड़ दिया होगा। इस कारण नाट्यशास्त्र का

आदेश कहाँ तक बारीकी से नाटक में निभाया गया है या नाटककार ने भरत को कहाँ-कहाँ छोड़ा है इसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। नाट्यशास्त्र ने रंग-भूषा की सिर्फ एक दिशा दिखायी है। इससे स्पष्ट है कि नट तथा नाटककार को समयानुरूप बदल करने का अधिकार होना ही चाहिए। महत्त्वपूर्ण तत्त्वों में से यह भी एक है कि विदूषक के स्वाँग में कुछ शारीरिक विकृति हो। इसे हम जानते ही हैं कि यह विकृति, चाहे जिस रूप में हो, रंगमंच पर हास्य निर्माण कर सकती है।

नाट्यशास्त्र में इसका वर्णन आया है कि अलग-अलग अभिनय करनेवाले नटों को 'प्रतिशिरं' या 'प्रतिशीर्ष' अर्थात् शिरोवेष्टन किस प्रकार का करना चाहिए।[1] अभिनव ने ठीक ही कहा है कि विशिष्ट प्रकार का शिरोवेष्टन या मुकुट आदि पहनने से नट किसका अभिनय कर रहा है इसकी प्रेक्षकों को कल्पना आ जाती है।[2] ऐसा दिखायी देता है कि चेट, विदूषक या इन्हीं के समान नाट्यदृष्टि से तीसरे दर्जे के पात्रों के शिरोवेष्ठन के बारे में भरत ने कुछ नहीं कहा है। लेकिन उनके बदले में त्रिशिखं (तीन शिखाएँ), गंजापन या काकपद की तरह कटाये गए बालों की रचना सुझायी है।[3] गुप्त काल की चित्रावली में खपरे की पाटी पर एक चित्र खींचा हुआ है। उसमें ऐसा दृश्य चित्रित किया गया है कि एक स्त्री, पुरुष के गले में रुमाल डालकर उसे खींच रही है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार यह चित्र विदूषक और दासी का है जिसमें महल की क्रीड़ा प्रसंग का चित्रण है।[4] यहाँ विदूषक के सिर पर तिकोनी पगड़ी दिखायी देती है। यह 'त्रिशिखंडक' नाम से जानी जाती है। भरत के 'त्रिशिख' शब्द के समानार्थी है। डॉ० अग्रवाल का मत मान लेने पर ऐसा अनुमान हम कर सकते हैं कि गुप्तकाल में रंगमंच पर विदूषक के स्वाँग के समय तिकोनी पगड़ी उपयोग में लायी जाती थी।

---

१. देखें नाट्यशास्त्र, गायकवाड, २१.१३६, काव्यमाला, २१. ११५; काशी २३. १३२।

२. देखें : मुकुटप्रतिशीर्षिकदिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। नाट्यशास्त्र, गायकवाड खंड १. पृ० २८७ (नयी आवृत्ति, पृ० २७५)।

३. चेटानामपि कर्त्तव्यं त्रिशिखं मुण्डमेव वा।
विदूषकस्य कर्तव्यं खल्लिकाकपदं तथा॥
नाट्यशास्त्र, गायकवाड, २१. १५५, काव्यमाला, २१. १२६ काशी २३. १४८

४. मथुरा म्युजियम, चित्रावली, क्र० २७६५ इसचित्र को अन्यत्र दिया है। डॉ० अग्रवाल की 'गुप्त आर्ट' यह किताब देखें।

विमलसूर के (इ० स० ४ शताब्दी) 'पउमचरिय' प्राकृत ग्रन्थ में (१-१९) उपमा के निमित्त विदूषक का कान 'काठ' का बताया गया है। इस काव्य के रविषेण के संस्कृत-अनुवाद (इ० स० ६७६) प्रयुक्त श्लोकों में यह उपमा नहीं है। लेकिन मूल 'दारुमय' पद से ऐसा सूचित किया गया है कि विदूषक जो मुखौटा पहनता था उस मुखौटे का कान लकड़ी से बना रहता था और आगे चलकर यह पद्धति हटती गयी।[1] इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है क्योंकि 'दारुमय' का वाच्यार्थ यहाँ अभिप्रेत न होकर लक्षणा से 'निरुपयोगी' (कान) ऐसा अर्थ लेना होगा, रविषेण के 'श्रवणाकारधारिणौ' के अनुवाद से यह बात और स्पष्ट होती है। विदूषक का कान होने पर भी न होने के बराबर है, क्योंकि उसके पास न 'श्रुत' है, न विद्या है, इतना ही अर्थ यहाँ अभिप्रेत होने की संभावना है।

लेकिन विदूषक का स्वाँग सजाते समय मुखौटा पहनते थे या नहीं, यह भी एक मनोरंजक लेकिन विवाद्य प्रश्न है। राजशेखर के 'कर्पूरमंजरी' में इस प्राकृत सट्टक में तीन निर्देश आये हैं—सूत्रधार ऐसा वर्णन करता है कि नेपथ्य गृह में उनकी एक सहायिका नटी पात्र के 'मुखौटे' बाँध रही है (अंक १.४-५)। आगे ऐसा भी वर्णन आया है कि कुछ स्त्रियाँ 'निशाचरों के 'मुखौटे' पहनकर श्मशान नृत्य कर रही हैं (अंक ४, श्लोक १५)। पहले अंक में जब खुद विदूषक हो चिढ़कर निकल जाता है तब वह क्रोध से कहता है कि दासी को ही 'लम्बी दाढ़ी और टोकरी जैसा कान का मुखौटा' पहनाकर मेरी जगह बिठाओ (१-२०-४०)। इन तीनों निर्देशों में 'पडिसीसअ' (संस्कृत, प्रतिशीर्षक) ऐसा शब्द है। कोनाउ और लानमन् सम्पादकद्वयों ने उसका मतलब 'मुखौटा' (Mask) लिया है।[2]

नाट्यशास्त्र में 'प्रतिशिर' के बारे में विधान है जिनकी चर्चा ऊपर आयी हैं। लेकिन इस शब्द का अर्थ 'शिरोवेष्टन' लेना चाहिए या मुखौटा लेना चाहिए इसका ठीक निर्णय नहीं हो पाता। भरत ने एक ऐसा नियम दिया है कि राजा आदि उत्तम

---

१. डॉ० उपाध्ये, इंडियन हिस्टॉरिक क्वॉर्टर्ली, व्हाल्यूम ७, क्र० ४ (दिसंबर १९५२, पृ० ७७३। 'पाउमचरिय' का मूल श्लोक ऐसा है—

'त नाम होंति कण्णा जे जिणवरसासणम्मि सुइपुण्णा।
अन्ने विदूसगस्स व दारुमया चेव निम्मविया॥'

रविषेण ने 'दारुमया' के बदले 'श्रवणाकारधारिणौ' ऐसा शब्द प्रयुक्त किया है।

२. देखें: कर्पूरमंजरी; सम्पादित आवृत्ति, हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज, पुस्तक क्र० ४ (१९०१)।

पात्रों को मुकुट पहनना चाहिए, मध्यम पात्रों का सादा शिरोवेष्टन होना चाहिए और नीच पात्र को कुछ भी नहीं पहनना चाहिए, अमात्य, कंचुकी आदि जैसे पात्रों को शिरोवेष्टन फेंटे से करना चाहिए।[1] यहाँ 'प्रतिशीर्षक' का अर्थ शिरोवेष्टन दिखाई देता है। लेकिन इसी अध्याय में आगे चलकर इसकी भी सूचना आ गयी है कि प्रतिशीर्षक विविध सामग्री द्वारा कैसे बनवाया जाय।[2] यहाँ 'मुखौटा' ऐसा अर्थ स्पष्ट दीखता है। इस श्लोक की अभिनव की टीका देखने पर ऐसा दिखायी देता है कि द्विशिर, त्रिशिर स्वाँग सजाया जाता है तब नट का मूल मुख बंद करने के लिए ही सिर्फ इन मुखौटों का प्रयोग किया जाता था।

भरत ने प्रस्तुत अध्याय में कहा है कि राक्षसादि के स्वाँग सजाते समय भूरे बाल और भूरी आँखें, लम्बे बाल आदि की योजना करे। इससे बालों का टोप सूचित होता है।' 'कर्पूरमंजरी' में उल्लिखित निशाचर का स्वाँग बालों के टोप और विशिष्ट रंगभूषा से सजाया जा सकता है।

लेकिन महत्व की बात तो यह है कि भरत को मुखौटे के बारे में जानकारी होने पर भी नाट्यशास्त्र में कोई नियम नहीं है कि किस पात्र को, किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए। इससे ऐसा लगता है कि स्वाँग सजाते समय शिरोवेष्टन और बालों के टोप का प्रयोग किया जाता था। और दो मुखवाला राक्षस या दशमुखी रावण ऐसे विलक्षण पात्रों को दर्शाते समय मुखौटों का प्रयोग किया जाता रहा होगा। इससे प्रतीकात्मक नाट्य और नृत्य प्रकार में मुखौटों का उपयोग समझा जा सकता है।

भरत द्वारा वर्णित विदूषक या तो गंजा है या काकपदी लटोंवाला है। भरत के सामान्य नियम के अनुसार ऐसा लगता है कि विदूषक नीच पात्र होने के कारण नंगे सिर रंगमंच पर भटकता होगा। विदूषक का स्वाँग सजाने की कल्पना समयानुसार बदलती जाने से कालक्रमानुसार रंगभूषा और वेशभूषा में जरूर अन्तर आया होगा। गुप्त-काल में 'त्रिशिख' दिखाने के लिए केश रचना के बदले तीन नोकवाली पगड़ी आ गयी। मराठी रंगमंच पर विदूषक या पुरोहित की लाल कानटोपी त्रिशिख की परंपरा की दिखायी देती है। वेशभूषा का यह परिवर्तन तत्कालीन है। फिर भी विदूषक का मर्कट रूप, या उसके लकड़ी के कान, या टोकरी जैसे कान आदि नाटककार द्वारा वर्णित शारीरिक विशेष दर्शाने के लिए मुखौटे की आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। उचित

---

१. नाट्यशास्त्र : गायकवाड, २१. १४२-१४६; काव्यमाला, २१. ११८-११६, १२३, काशी २३. १३३, १३६।

२. नाटयशास्त्र गायकवाड, २१. १८६-१६५, काव्यमाला, २१.१५२-१६१ काशी, २३. १७६-१८६।

रंगभूषा करके नकली कान या दाढ़ी लगाकर चाहे जैसा स्वाँग रचा जा सकता है इस कारण मुखौटे के उपयोग को जानने पर भी इसके बारे में कुछ संदेह उत्पन्न होता है कि उसका विदूषक के स्वाँग में प्रयोग करते थे या नहीं। शायद राजशेखर के समय मुखौटा पहनकर विदूषक रंगमंच पर आता रहा होगा। उसकी जानकारी अब नहीं है।

विदूषक की पोशाक के बारे में विशेष जानकारी शास्त्रग्रंथों में प्राप्त नहीं है। भरत ने कहा है कि विदूषक वल्कल (चीर) और चमड़ा (चर्म) या भिक्षु-वस्त्र (चीवर) से शोभायमान होता है।[1] मूल शब्द का अर्थ है 'सामान्य' कपड़ा 'चिथड़े'। नेपथ्य हास्य के संदर्भ में बेढंगे वस्त्र का उल्लेख हुआ है।[2] विदूषक के बेढंगी या ढीली धोती पहनने से रंगमंच पर हास्य के प्रसंग आते थे। सागरनन्दी कहता है कि विदूषक राजा के अन्त:पुर में भटकनेवाला है।[3] और यह ठीक भी है। विवेचन के प्रवाह में नाट्य शास्त्र में अन्त:पुर में रहनेवाले व्यक्तियों के वस्त्रों के बारे में वर्णन आ गया है, उसमें 'गेरुआ वस्त्र या कपड़े और पट' का उल्लेख आया है।[4] भरत ने विदूषकों के प्रकारों का जो वर्णन किया है वह विशेषकर तापस और द्विज जाति के विदूषकों को लागू होता हैं। लेकिन विदूषक के विकृत और बेढंगे वेश से हास्य का निर्माण होता था। शारदातनय और शिङ्गभूपाल शास्त्रकारों ने वैसा स्पष्ट उल्लेख भी किया है।[5]

नाटककारों ने विदूषक को ब्राह्मण के रूप में चित्रित किया है। इस कारण उसमें यज्ञोपवीत का उल्लेख आना जरूरी रहा। संदर्भ ज्यादातर हास्यकारक ही हैं। 'अविमारक' का संतुष्ट कहता है कि 'केवल जनेऊ होने के कारण मैं ब्राह्मण हूँ।' 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त मैत्रेय को अपने पास बिठा लेने के लिए उसका जनेऊ पकड़ कर खींचता है। 'मालविकाग्निमित्र' में तथाकथित सर्पदंश के विषवेग को रोकने के

---

१. पादटिप्पणी (७) देखें।
२. देखें : नाट्यदर्पण (पुस्तक क्र० ४८) टीका पृ० १६६ 'नेपथ्यहास्यमत्यायतमम्बरत्व'······इ० ।
३. देखें : नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० ९२ (पंक्ति २१६६-२२००)।
४. नाट्यशास्त्र : गायकवाड, २१. १३३-१३४, काव्यमाला २१. १०६-११०, काशी २३·१२६।
५. शारदातनय : 'विरूपस्तु विदूषकः' 'विरूपवेषश्च,' भावप्रकाशन (गायकवाड क्र० ४५), पृ० २४४, २८१-८२, शिङ्गभूपालः 'विकृताङ्गवचोवेषैः हास्यकारी विदूषकः', 'रसार्णवसुधाकर, (त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज) १.९२ पृ० २१।

लिए गौतम ने जनेऊ का उंगलियों को बांधने के लिए डोरे जैसे उपयोग किया है। 'रत्नावली' में वसंतक जनेऊ की सौगन्ध लेता है। 'नागानंद' के आत्रेय का जनेऊ झटकापटकी में टूटता है और उस बेचारे को अपना ब्राह्मण्य सिद्ध करने का सूती साधन भी नहीं रहता।

संस्कृत नाटकों में कथानक के प्रवाह में कुछ वस्त्रालंकारों के उल्लेख आ गये हैं। राजा की वेषभूषा की रचना शुरू रहती है तब 'विक्रमोर्वशीय' का माणवक फूल और लेपद्रव्यों में अपना हिस्सा हस्तगत करने के लिए दौड़ता है। 'नागानंद' में नायक के विवाह समारंभ में आत्रेय को चंदनादि सुगंधी द्रव्य कुसुमशेखरक 'रेशमी वस्त्र की जोड़ी आदि कई चीजें उपहार में मिलती हैं। हर्ष ने अपने नाटक में विदूषक के संदर्भ में कर्णभूषण, हार, सोने की कड़ी आदि अलंकारों का भी उल्लेख किया है।' 'रत्नावली' का विदूषक सोने की कड़ी प्राप्त होने पर इतना खुश होता है कि उसे कलाई में पहनकर वह अपनी पत्नी को दिखाने के लिए चल पड़ता है।

राजशेखर का चारायण नायक की पोशाक हो जाने पर बाकी कपड़े और जेवर झट से अपने लिए ले लेता है। प्रथम अंक में ऐसा वर्णन आया है कि कर्पूरमंजरी जब पहले आती है तब कपिंजल गड़बड़ी से दुपट्टे की तह बनाकर उसके लिए आसन बना देता है।

विदूषक के स्वाँग में आवश्यक होनेवाली एक और चीज़ है और वह है उसके हाथ में रहनेवाली टेढ़ी-मेढ़ी लाठी। भरत ने उसका उल्लेख 'दण्डकाष्ठ' या कुटिलक' नाम में किया है। यह लाठी तीन जगह झुकी हुई, न कीड़े लगी हुई, न सड़ी हुई, गाँठयुक्त और बीच में कहीं टहनियोंवाली रहती हैं।[1] मूलतः यह वक्रदंड ब्रह्मा का आयुध है। इसका उपयोग उस समय किया गया जब नाट्य प्रयोग के समय 'विघ्नों' ने उपद्रव देना प्रारंभ किया और उसके कारण ही उसे 'जर्जर' अन्वर्थ नाम प्राप्त हुआ।[2] यही जर्जर या वक्रदंड आगे चलकर विदूषक के हाथ में आ गया और विदूषक के अन्य हास्यकारक बातों के साथ इसका भी हास्यकारक रूप में प्रयोग होने लगा। वक्र लाठी उठाकर कबूतर, भ्रमर या आम के बौर को पीटने वाले विदूषक के 'शौर्य' का वर्णन नाटककारों ने किया है।

---

१. देखें : नाट्यशास्त्र, गायकवाड, २१. १८३-१८५, काव्यमाला, २१. १४८-१५१, काशी २३. १७३-१७५।

२. देखें: नाट्यशास्त्र, गायकवाड, १. ७२-७३, काव्यमाला, १.३६, काशी, १.७४।

ऊपरी विवेचन से स्पष्ट होता है कि भरत ने विदूषक की रंगभूषा और वेशभूषा का जो वर्णन किया है वह आगे चलकर और बढ़ता गया, उसमें वेशभूषा की जो पद्धति और रंगमंच के जो संकेत प्रचलित थे उन्हीं के अनुसार विदूषक का स्वाँग सजाया जाता था। यद्यपि विदूषक का बाह्य रूप या वेष बदलता गया फिर भी यह तत्त्व सभी ओर दिखायी देता है कि उसका स्वाँग हास्यकारक ही रहा होगा।

●●●

४. विदूषक की जाति

विदूषक के स्वाँग के बारे में लिखते हुए भरत ने 'द्विजन्मा' शब्द का प्रयोग किया है।[1] वास्तव में यह शब्द त्रैवर्णिकों को लागू होता है। इससे विदूषक की जाति निश्चित करना कठिन कार्य है। इसका पाठान्तर 'द्विजिह्व' है। उसका अर्थ 'साँप के समान' 'दो मुहा' है और इस पद से विदूषक का असंबद्ध बोलना और अपनी बाजी हारते देखकर गप्पे हाँकना इस परिचित विशेषता का बोध होता है। लेकिन नेपथ्यज हास्य का विधान करते समय भरत ने अन्यत्र 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया है।[2] इस शब्द का हमेशा का अर्थ 'ब्राह्मण' है। विदूषक के ब्राह्मण्य को विशिष्ट संदर्भ में समझ लेना चाहिए। भरत ने अनेक प्रकार के विदूषक बताये हैं और उनमें भी 'लिंगी' अर्थात् तापस जाति का विदूषक है।[3] पिछले प्रकरण में ऐसा उल्लेख आ गया है कि देवता विषयक नाटकों में पहला विदूषक नारद के रूप में आया होगा। उस दृष्टि से तापस या ब्राह्मण होने का विधान आश्चर्यजनक नहीं है।

आगे चलकर शास्त्र ग्रन्थों में विदूषक की जाति के बारे में कोई भी विधान

---

१. देखें: नाट्यशास्त्र, काव्यमाला २४. १२६, काशी, ३५. ५७ (पाठांतर द्विजिह्वो); प्रकरण ३ की पादटिप्पणी (१) देखें।

२. देखें: 'यस्तादृशो भवेद् विप्रा (विप्रो) हास्यो नेपथ्यजस्तु सः।' नाटयशास्त्र, गायकवाड १२.१४२; काशी १२.१४०। घोष के अनुवाद में (१३.१४१-१४२) 'ब्राह्मण' यह अर्थ नहीं लाया गया है।

३. देखें: नाट्यशास्त्र: गायकवाड, २४, १६-२०; काव्यमाला, २४.५, काशी, २४. १६-२०।

नहीं मिलता। भरत को मान्य ब्राह्मण विदूषक आगे के शास्त्रकारों को मान्य रहा होगा। उपलब्ध संस्कृत नाटकों से विदूषक की जाति के बारे में कोई शक नहीं रहता। सभी नाटककारों ने विदूषक को ब्राह्मण बताया है। इस प्रकार सभी ने भरत के विधान का पालन किया है। संस्कृत रंगमंच पर विदूषक ब्राह्मण हो ऐसा जो संकेत निर्माण हुआ वह बहुधा वैसे ही रहा हुआ दिखता है।

यह संकेत कैसे निर्मित हुआ होगा और भरत ने विदूषक को उद्देश्यकर 'विप्र' शब्द नियोजित करके इस संकेत को एक प्रकार से शास्त्रप्रामाण्य क्यों दिया आदि प्रश्न मनोरंजक होने पर भी इसके बारे में कुछ भी सामग्री प्राप्त न होने के कारण उनका उत्तर देना कठिन है। फिर भी विदूषक ब्राह्मण ही क्यों? इसके कुछ कारण तर्कबुद्धि से और ऐतिहासिक अवलोकन से मिल सकते हैं।

(१) विदूषक नटमंडलियों का एक आवश्यक अंग रहने से उसका कार्य पूर्व-रंग में ही रहता था। पूर्वरंग यह एक बड़ी विधि है। उसमें नृत्य, संगीत आदि अनेक अंगों का समावेश किया जाने पर भी उसका कुल स्वरूप धार्मिक ही है। विधि में ब्राह्मण की उपस्थिति आवश्यक रहती है। यह अब निश्चित नहीं कहा जा सकता कि पूर्वरंग का संयोजन और प्रदर्शन करने वाला सूत्रधार ब्राह्मण होता था या नहीं। लेकिन विदूषक के रूप में ब्राह्मण का पूर्वरंग के एकाध अंग में समावेश किया गया[1] तो इस विधि के धार्मिकस्वरूप को ध्यान में लेने पर वह उपकारक ही सिद्ध होगा। इस दृष्टि से यदि भरत ने विदूषक को ब्राह्मण माना हो तो वह योग्य ही है। नाट्य-शास्त्र के विधान को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि विदूषक नाम का निश्चित विनोदी नट ही विदूषक की भूमिका में नहीं आता था। सूत्रधार का सहायक पारि-पार्श्विक भी विदूषक का स्वाँग देकर कभी कभी पूर्व रंग में आता था, ऐसा शास्त्र-विधान में दिखायी देता है।[2] शास्त्रग्रन्थ के इस पर्याय का मतलब यह दीखता है कि पूर्वरंग में धार्मिक दृष्टि से विदूषक की अर्थात् ब्राह्मण की आवश्यकता थी, उसके लिए विदूषक इस निश्चित नट का आना जरूरी नहीं था वरन् कोई भी दूसरा नट

---

१. **नाट्यशास्त्र : गायकवाड, ५-२६, १३९-१४१, काव्यमाला, ५. १२४-१२५, काशी, ५. १३६-१३७। पूर्वरंग के इस अंग का नाम 'त्रिगत' है। आगे का 'विदूषक का अभिनय और कार्य' प्रकरण देखें।**

२. **नाट्यशास्त्र : गायकवाड, ५.२९ इस श्लोक पर टीका करते समय अभिनव का कहना है 'पारिपार्श्विकयोरन्यतरो विदूषकवेषभाषाचारो विदूषकः।' 'नाट्य-दर्पण' रामचन्द्र का कहना है, 'पारिपार्श्विक एव विदूषकवेषधारी विदूषकः।' (गायकवाड क्र० ४८, ३.१०५ ऊपरी विवरण, पृष्ठ १५३)।**

पूर्वरंग में प्रकट हो सकता है। इसका मतलब ही यही होगा कि विनोद से पढ़कर या विनोद के साथ, विदूषक का ब्राह्मण्य इस प्रसंग में रंगमंच पर अपेक्षित था। इसके कारण ही हमेशा विदूषक या अन्य नट विदूषक के रूप में रंगमंच पर आने पर प्रेक्षकों को उसके विनोद के साथ ब्राह्मण्य का भी इशारा मिलता था। दूसरे शब्दों में कहना हो तो विदूषक अर्थात् ब्राह्मण्य यह समीकरण नाटकमंडली और प्रेक्षक के मन में बैठ गया था। इससे और एक बात ध्यान में आती है। विदूषक का ब्राह्मण्य न ऊपरी था और न परिहासात्मक ही। विदूषक को भरत ने अनेक कार्य दिये हैं। उसमें हास्य-निर्मिति यह जैसा सर्वसाधारण कार्य है वैसे ही उसे पूर्वरंग में एक विशेष कार्य तय करके दिया गया है। इन विविध कार्य-निष्पत्ति के लिए और विशेषकर पूर्वरंग को पूर्ण धार्मिक बनाने के लिए विदूषक को ब्राह्मण दिखाना आवश्यक था। इस दृष्टि से ही भरत ने सुझाया है कि विदूषक 'विप्र' हो और इसका शास्त्रकारों ने जैसे के तैसे ठीक पालन किया होगा। इससे स्पष्ट है कि पूर्वरंग के धार्मिकस्वरूप के सम्बन्ध के कारण विदूषक को ब्राह्मण बनाया होगा।

(२) रूपक के भेदानुसार भरत ने नायक के प्रकार का वर्णन किया है।[१] देव, राजा, अमात्य और वणिक् इस प्रकार चार प्रकार के नायक संस्कृत नाटकों में पाये जाते हैं। चौथे प्रकार का नायक 'मृच्छकटिक' में है और उसे भी ब्राह्मण बताया गया है। साधारणतया संस्कृत नाटकों के सभी नायक उच्चवर्णीय हैं। नाट्यशास्त्र में इन चार नाटकों के अनुरूप ही विदूषक के चार प्रकार बनाये गये हैं। यदि विदूषक के बारे में नायक का सहचर और अंतरंग होने का विधान है तो सामाजिक दृष्टि से वह नायक के समान हो ऐसी अपेक्षा करना स्वाभाविक ही है। नाटक के प्रत्यक्ष अभिनय में नायक का सहचर यदि नीच जाति का होगा तो उसका साहचर्य प्रेक्षकों की दृष्टि में जरूर खटक सकता है। इतना ही नहीं तो उच्चवर्णीय नायक का मित्र नीचवर्णीय कैसे हो सकता है। यह शक प्रेक्षकों के मन में उत्पन्न होगा और उसका समाधान भी नाटककार को करना पड़ेगा, उसके बिना प्रेक्षकों की शंका वैसे ही बनी रहेगी। फिर भी नायक का नीचवर्णीय का साथ लेना उसकी प्रतिष्ठा को कम कर देगा और यही भाव प्रेक्षकों के मन में बना ही रहेगा। सामाजिक जीवन के कुछ संकेत रहते हैं। उसके लिए अपवाद चाहे तो प्रत्यक्ष जीवन में दिखायी दें लेकिन परम्पराप्रिय समाज की उन संकेतों पर श्रद्धा बनी ही रहती है। इस कारण नाट्य जैसे लोकाभिमुख प्रदर्शन में उन संकेतों का पालन अपेक्षित है। इसी कारण यद्यपि व्यक्तिगत जीवन में राजा

---

१. देखें : नाट्यशास्त्र, गायकवाड, २४. १६-१९, काव्यमाला, २४. २-५ काशी, ३४. १६-१९।

का मसखरा किस जाति का हो इसके बारे में प्रश्न नहीं आता लेकिन नाट्य दर्शन में इसका महत्त्व आप ही आप बढ़ता है। इसलिए नाट्यकार को नायक की श्रेष्ठता के अनुरूप विदूषक को भी एक विशिष्ट श्रेणी देने की जिम्मेदारी लेनी पड़ी। और उसे निभाने के लिए उसने विदूषक को ब्राह्मण बनाया। प्रहसन जैसे नाट्यदर्शन में पात्र की सामाजिक श्रेष्ठता को महत्व नहीं रहता, लेकिन इतना होने पर भी उसे परिहास का विषय बनाया जा सकता है। ऐसे समय उच्चवर्णीय पात्र के साथ नीचवर्णीय पात्र को खड़ा करने से परिहासनिर्माण किया जा सकता है। जहाँ परिहास ही मुख्य लक्ष्य बना रहता है वहाँ पात्रों का संकर आप ही आप उसमें समा जाता है या कभी-कभी वह विनोद की पुष्टि करता है। लेकिन नाटक सुखात्मक होने के अतिरिक्त यदि गंभीर होगा तो उसके पात्र ऊपरी श्रेणी के होने पर उसमें सामाजिक जीवन की झलक दिखायी गयी हो तो उसमें आने वाले परिहास को भी सामाजिक सभ्यता की मर्यादा आ जाती है। ऐसे समय नायक के सहचर के रूप में एकाध नीच पात्र आ जाय तो वह योग्य नहीं दीख पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक सभ्यता के कारण ही विदूषक जैसे पात्र को ब्राह्मण बनाया होगा।

(३) प्राप्त संस्कृत नाटक ज्यादातर 'दरबारी नाटक' ही हैं। उनका स्वरूप सुखात्मक है और उनके नायक राजा ही हैं। राजा के मित्र के रूप में विदूषक को विशेष अधिकार प्राप्त हैं। राजा के रनिवास में कहीं भी प्रवेश करने का उसे अधिकार है। तत्कालीन सामाजिक संकेत ध्यान में लेने पर ऐसे स्वच्छन्दवृत्ति के पात्र चारित्र्य से शुद्ध हों ऐसी अपेक्षा एक ओर से की जा सकती है वैसे ही दूसरी ओर से ऐसे पात्रों का सामाजिक स्थान भी उच्च हो जिससे उसके बर्ताव का किसी को भी संकोच नहीं होगा, ऐसी भी अपेक्षा रहती है। इन स्वाभाविक अपेक्षाओं से और विदूषक को प्राप्त विशेष अधिकारों से विदूषक का उच्चवर्णीयत्व फलित हुआ होगा।

(४) विदूषक का और एक अधिकार है। यद्यपि वह खुद उपहास का विषय है फिर भी वह दूसरों की हँसी उड़ाने के लिए आगे-पीछे नहीं करता। विदूषक को इस बात का स्वातंत्र्य सीमातीत है। विदूषक को नायक-नायिका, राजा-रानी, ऋषि-पुरोहित, अमात्य, सेनापति इस प्रकार के उच्च पात्रों से लेकर दासी तक सभी की मनचाही हँसी उड़ाने का अधिकार रहता है। विदूषक की टोपी पहनकर जब यह पात्र नाटक में आता है तब उसके उपहास से कोई भी नहीं बच सकता। लेकिन रंगमंच पर विदूषक का यह परिहास-स्वातंत्र्य दिखाते समय नाटककार को कला के नियमों को ध्यान में रखना जरूरी है। व्यक्तिगत जीवन में कौन किसका और कैसा उपहास करे इसके लिए नियम नहीं रहता लेकिन जब नाट्य रूप में सामूहिक जीवन का चित्रण करते हैं तब इस उपहास के लिए कला की बागडोर आवश्यक है। ऐसे समय मजाक

करने वाले पात्र को यदि एक विशिष्ट श्रेणी प्राप्त हो तो उसकी उपहासात्मक टीका भी किसी के मन को पीड़ा नहीं देती, और उसके पीछे कोई दुष्ट हेतु जोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती। विदूषक का किया हुआ उपहास खुले दिल का है ऐसा जब प्रेक्षकों को महसूस होगा तब उस उपहास का आनन्द भी खुले दिल से लिया जा सकता है। इसीलिए विदूषक को उच्चवर्णीय बना देने से सर्वसामान्य संकेतों के अनुसार दुष्टता, मत्सर आदि बातों से आप ही आप मुक्ति मिल जाती है। फिर उसके परिहास का कोई भी हेतु नहीं बन सकता। साथ ही बड़ों की छोटों द्वारा या नीच द्वारा जो हँसी उड़ायी जाती है उसे देखने में जो संकोच रहता है वह इससे दूर होता है। सामूहिक मनोविज्ञान पर आधारित इस कला की मर्यादा के कारण विदूषक को उच्चवर्णीय अर्थात् ब्राह्मण ही दिखाना संस्कृत नाटककारों को अधिक सुलभ रहा होगा।

(५) इस संदर्भ में एक सांस्कृतिक बात को भी जाँचा जा सकता है। विदूषक ने कितना भी पागलपन का स्वाँग रचा हो फिर भी इसे भुलाया नहीं जा सकता कि वह जीवन का एक आलोचक है। जीवन को समझकर, जीवन की असंगति जानकर उस पर आलोचना करने की तैयारी के लिए उतनी उसमें बुद्धि होने की आवश्यकता है। शिक्षा और संस्कार के सिवा तेजबुद्धि का रहना असंभव है। इस दृष्टि से विदूषक 'मूर्ख' लगने पर भी वास्तव में वह बुद्धिमान है, संस्कारी है, उसके चतुरस्व अवलोकन के पीछे एक व्यापक दृष्टि है। इन गुणों के अभाव में विदूषक का अभिनय जीवन में कैसे निभाया जा सकता है? तत्कालीन समाज की ओर देखने से दिखायी देता है कि शिक्षा और संस्कार आदि बातें उच्चवर्णीयों को जितनी सुलभ थीं उतनी नीच जाति के लोगों को नहीं थीं। इसलिए विदूषक जैसा विनोदी और परिहास में प्रवीण व्यक्ति सामन्यतया उच्च वर्ण से निर्मित हुआ हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि विदूषक के उच्चवर्णीयत्व और ब्राह्मण्य के लिए एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार थी।

(६) कला की दृष्टि से दूसरों की हँसी उड़ाते समय खुद अलग न रहे इसी में ही कला है। यदि विदूषक दूसरों का उपहास करता है तो नाटक में उसका भी उपहास दिखाना आवश्यक है। यदि विदूषक ही हँसी का विषय बन गया तो स्वाँग द्वारा किसकी हँसी उड़ायी जाय? निचले स्तर के लोगों की हँसी उड़ाने में कोई स्वारस्य नहीं क्योंकि उनका मजाक तो कोई भी उड़ाता है और उसके प्रतिकार के लिए उमके पास कोई सामाजिक बल नहीं रहता। इसके विपरीत, सामाजिक जीवन में बड़ों की हँसी उड़ाना कठिन रहता है। इसी कारण ऐसे उच्चपदस्थ व्यक्तियों का परिहास ही कला का अंग बन जाता है। अन्यत्र इनका विडम्बन करना तो असम्भव रहता है, वह कला द्वारा

सहज किया जाता है। विदूषक द्वारा सर्वोच्च ब्राह्मण वर्ग की हँसी उड़ाने में यही तत्त्व निहित है।

तात्पर्य यही है कि विदूषक का ब्राह्मण्य योगायोग या जैसे-तैसे बना हुआ साहित्यिक संकेत नहीं है। नाट्यदर्शन को सामूहिक और सामाजिक स्वरूप तत्कालीन सामाजिक संकेत और उनकी साहित्यिक आवश्यकता, कला के नियम और लोकमानस की अपेक्षा आदि बातों का विदूषक के अभिनय पर असर हुआ ही होगा। सभी विदूषक ब्राह्मण ही हों सो बात नहीं। वरन् भरत को अन्यत्र नायक के अनुसार विदूषकों का निर्माण तथा उनके भेदों को बताने वाले विधान करने की कोई जरूरत नहीं थी। लेकिन जब नाटक का नायक राजा या उच्चवर्णीय पात्र होता था तब उसके योग्य सहचर को चित्रित करना नाटककार को ऊपर बताये कारणों से जरूरी लगा होगा। विदूषक के ब्राह्मण्य की मीमांसा इस प्रकार है।

● ● ●

५. भोजनप्रिय विदूषक

विदूषक स्वभाव से भोजनप्रिय है फिर चाहे वह ब्राह्मण होने के कारण हो या विनोद के एक अंग के रूप में हो। शास्त्रग्रंथों में इस संबंध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। लेकिन नाटककारों ने विदूषक की इस भोजनप्रियता का बड़े चाव से वर्णन किया है।

'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक का विदूषक बड़े चातुर्य से अपने खाये हुए मोदक का दोना ढूँढ़ लाता है। जिस उन्मत्तक के पास उसे अपना मोदक मिलता है उससे वादविवाद करने के लिए, छीनाझपटी के लिए भी वह तैयार है। उसे मोदक वापस मिलने पर वह रोता भी है। लेकिन अंत में जब उसे मालूम होता है कि वे मोदक न होकर उसकी बास आने वाली आटे की गोलियाँ हैं तो वह उसका पीछा छोड़ देता है। 'स्वप्नवासवदत्त' का विदूषक जब से मगध के राजमहल में रहने के लिए आया है तब से खुश है। अंतःपुर के कुएँ पर स्नान करके वह मूलतः मधुर और नाजुक पकवानों को खत्म करता रहता है जिसके कारण वह राजमहल के बदले स्वर्ग में होने की कल्पना करता है। वासवदत्ता की अपेक्षा उसे पद्मावती अधिक प्रिय है क्योंकि वह पक्वान्नों की थाली सजाकर उसके खानेपीने की पूछताछ करती है। 'अविमारक' नाटक का संतुष्ट भोजन के लालच से ही बोलते-बोलते ठगा गया है। फिर भी उसका भोजन-प्रेम कम नहीं हुआ। नायक के प्रति अपार प्रेम होने पर भी वह उसके लिए भोजन का समय टाल देने के लिए बिलकुल तैयार नहीं हैं। प्रेमपूर्ति के बीच में आने-वाली कठिनाइयों के कारण नायिका रोती हैं तो उसके दुःख पर सन्तुष्ट शीघ्र भोजन ले आने का उपाय सुझाता हैं। ऐसे विदूषकों को चूने से पुती इमारत भी दही से पुती सी लगना स्वाभाविक ही है।

'मृच्छकटिक' का मैत्रेय अपनी बातों में जिनका जिक्र करता है उनमें ज्यादातर खाद्य पदार्थ ही रहते हैं। किसी अन्य का निमन्त्रण पहले ही स्वीकार करने के कारण उसे सूत्रधार का न्योता अस्वीकार करना पड़ता है जिसका उसे मन ही मन में दुःख होता है। लेकिन मैत्रेय का दुःखी होने का कारण वास्तव में चारुदत्त के वैभव का लोप होना ही है। मैत्रेय समृद्धि के समय बाजार में घुसे हुए साँड के जैसे खाद्यपदार्थों पर टूट पड़ता था और चित्रकार जैसे रंग में अपनी तूलिका डुबाता है वैसे वह खाद्य पदार्थों को छूकर दूर करता था। वसन्तसेना के बड़े महल में घूमते समय यद्यपि उसकी आँखें चकाचौंध हुईं फिर भी उसे सच्चा आनन्द तभी होता है जब वह रसोई घर के विविध व्यंजनों को देखता हैं और उनकी खुशबू लेता है। वह वसन्तसेना से चिढ़ता है क्योंकि वह उसे पैर धोने के लिए पानी देकर उसे पीढ़े पर बैठने के लिए नहीं कहती। ज्यादा खाने से वसन्तसेना की माँ की तरह यदि वह मोटा हो जाता या उसे मीयादी बुखार भी आता तो भी मैत्रेय को बुरा न लगता।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक की दासी का मत है कि स्वस्तिवाचन के मोदक उदर में भरना ही गौतम का उद्योग है। गौतम ने अग्निमित्र राजा की बहुत मदद की है। लेकिन वह राजनीति की अपेक्षा भोजन को अधिक महत्त्व देता है। भोजन का समय टालने के लिए गौतम कभी भी तैयार नहीं है चाहे फिर वह समय नृत्यप्रयोग का हो या राजा के विरहदुःख का हो। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का माणवक तो भोजनप्रिय ही हैं। उसकी बातों में मन में और दिवास्वप्न में भी खाने के सिवा उसे कुछ भी नहीं दीखता। आधा चन्द्रमा उसे मोदक के टुकड़े जैसा दीखता है। पुरूरवा दुःख से खिन्न है, लेकिन माणवक उसका कारण पित्तप्रकोप बताकर पित्तशमन के लिए भोजन लाने की सूचना देता है। मोदक के लालच से वह राजा का भेदी बनकर रानी के पक्ष में बेधड़क सम्मिलित होता है। 'शकुन्तला' नाटक का माढव्य केवल भोजन में ही नायक को सहयोग देने के लिए तैयार है। एक ओर दुष्यन्त विरहाग्नि में तड़प रहा है तो दूसरी ओर माढव्य की जठराग्नि प्रदीप्त हो रही है। इसी कारण दुष्यन्त के साथ शिकार के लिए वनों में घूमते समय, बेवक्त सिर्फ भुना हुआ खाद्य खाने से और नदी-झरनों का कुनकुना खारा पानी पीकर माढव्य हैरान हुआ है।

रानी के स्वस्तिवाचन के आमंत्रण को जानते ही 'प्रियदर्शिका' नाटक का विदूषक बड़ी तत्परता से कुएँ पर स्नान करके मंत्र कहने का अभिनय करते हुए वह राजमहल की ओर जाने के लिए निकलता है। 'रत्नावली' का विदूषक हमेशा पारितोषिक पाने के लिए तैयार रहता है। वह केवल भोजन का ही अच्छा ज्ञाता होने के कारण 'द्विपदीखण्ड' नामक नृत्मप्रकार को सुनते ही झट से उसे लगता है कि यह कोई खाने की चीज है। 'नागानन्द' के आत्रेय को प्रारंभ में बड़े कष्ट से दिन बिताने पड़ते हैं।

नायक के तापस व्रत के कारण उसे भी कंदमूल आदि खाने पड़ते हैं। शायद अन्त में नायक के विवाह समारंभ में उसने इस उपवास का अच्छी तरह बदला किया होगा।

संस्कृत नाटकों के इन वर्णनों से हमारे ध्यान में आता है कि विदूषक न केवल भोजनप्रिय ही है, बल्कि उसे मिठाइयाँ, मिष्ठान आदि अधिक पसंद है। साथ ही वह तरह तरह की अच्छी स्वादिष्ट चीजों का लोभी भी दिखायी देता है। इस संबन्ध में सभी नाटकों में एक ही उल्लेख मिलता है, वह है मोदक का। मोदक से अभिप्रेत अर्थ है लड्डू। वसंतसेना की पाकशाला में बनते हुए 'अपूप' को भी मैत्रेय ने देखा था। आत्रेय ने 'कंदमूल' और 'फलों' का उल्लेख किया है। एक उपमा के प्रवाह में माढव्य ने तिन्तिणी' अर्थात् इमली और 'पिण्डखर्जूर' अर्थात् पिण्डखजूर का उल्लेख किया है। संदर्भ से जान पड़ता है कि इमली का प्रयोग मसाले के समान और पिण्डखजूर का उपयोग नाश्ता जैसे होता होगा। वसंतसेना के घर में रसोई के बनते समय तलने के बहाने 'हिंगु' अर्थात् हींग और तैल अर्थात् तेल का उल्लेख आ चुका है। 'अविमारक' और 'मृच्छकटिक' में 'घृत' और 'स्नेह' शब्द का उपयोग हुआ है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में 'मत्स्यण्डिका' अर्थात् शक्कर का उल्लेख हुआ है।

'विक्रमोर्वशीय' में विदूषक के भाषण में 'शिखरिणी' और 'रसाला' का उल्लेख हुआ है। इससे दूध और शक्कर डालकर केले की बनायी शिखरन का और अमरस का क्रमशः बोध होता है।

इससे एक मजेदार ऐसा प्रश्न निर्माण होता है कि विदूषक मांसाहारी था या नहीं? 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के प्रथम संपादक श्री शं० पा०पंडित ने ऐसा निर्दिष्ट किया है कि उस पाठ में, जिसमें इसका उल्लेख है, कुछ गड़बड़ी मालूम होती है। संपादन के लिए उन्हें जो आठ हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें दो प्रतियों में 'सिहरिणीं रसालं अ...'के बदले 'मिच्छहरिणीमंसभोअणं ...' और 'सिहरिणीमंस भोअणं....' ऐसे पाठ प्राप्त हैं। मूल पाठ ऐसा ही होगा किन्तु उनका कहना ऐसा है कि प्रतिलिपि करने वालों ने जानबूझकर बदल दिया होगा। प्रस्तुत शब्दों का 'हिरन का मांस' और 'मांसभोजन' ऐसा अर्थ निर्माण होता है। विदूषक जैसा ब्राह्मण मांसाहार करता है यह बात उत्तर-कालीन लेखकों को अनुचित लगी होगी और उन्होंने इन शब्दों के स्थान पर 'शिखरिणी' और 'रसाला' शब्दों का प्रयोग किया होगा। प्रतिलिपि करने वाले लेखक ही नहीं बल्कि काटयवेम और रंगनाथ जैसे संस्कृत टीकाकार भी इस मोह में पड़ गये। वास्तव में 'शाकुन्तल' नाटक के विदूषक को मांसाहार त्याज्य नहीं है।[1] इस कारण बाद के

---

१. श्री शंकर पांडुरंग पंडित संपादित 'विक्रमोर्वशीय'; बाम्बे गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डिपो; १८७९; अंक ३.१०-४-५ पर की गयी पादटिप्पणी, पृष्ठ ८१।

ब्राह्मण लेखक और टीकाकारों ने मूल पाठ में बदल करके 'शिखरन' और 'अमरस' ऐसे पदार्थ ब्राह्मण विदूषक के मुँह में से डाला होगा।

'विक्रमोर्वशीय' के एक आधुनिक संपादक प्रि० करमरकर को श्री पंडित का ऊपरी मत ग्राह्य नहीं है। उनका कहना है कि प्रचलित पाठ ही ठीक है और शाकुन्तल के विदूषक के मांसाहारी होने के उल्लेख का अलग ही स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। वे लिखते हैं यहाँ का सब वर्णन केवल विदूषक को ही नहीं बल्कि सारी सेना के लिए लागू है। उसकी शिकायत शिकार के प्रति है। अगर विदूषक मांसाहारी होता तो उसकी यह शिकायत व्यर्थ है क्योंकि वहाँ पर उसे खाने के लिए काफी भुँजा मांस मिलता है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि सेना के सभी लोगों को भुँजा हुआ मांस मिलता था जिसके कारण वे आनंदित भी हैं। लेकिन बेचारे विदूषक को थोड़ा सा ही शाकाहारी भोजन मिलता था जिस पर उसे संतुष्ट रहना पड़ता था। इसके अलावा उत्तर के ब्राह्मण यद्यपि मत्स्याहार करते हैं फिर भी वहाँ मांसाहार की पद्धति नहीं है।[1]

करमरकर जी का यह सब समर्थन बहुत ही कमजोर दिखाता है। इसमें पहली जो गलती दिखती है वह है कालविपर्यय की। प्रचलित प्रथा से प्राचीन प्रथाओं की तुलना होने लगे तो इतिहास और उत्क्रांति का कोई मूल नहीं रहेगा। मूल में ही यह गलती करने से ग्रंथ का मूल्यांकन ठीक नहीं हुआ है। वास्तव में 'शाकुन्तल' के दूसरे अंक के प्रारंभ में विदूषक का जो दीर्घ स्वगत है उसका पहला ही वाक्य 'हाय! कहाँ जाकर मैंने इस शिकारप्रिय राजाकी मित्रता की!'[2] यह क्या सारी सेना को उद्देश्य करके कहा है? और आगे इसी भाषण में बन में धूप में भटकने की, घोड़े पर सवार होने से कचूमर निकलने की, अपूर्ण निद्रा की, बेवक्त खाने-पीने आदि शिकायतों की भरमार पेश की है। क्या इन शिकायतों में सभी सेना की अवस्था का वर्णन प्रकट होता है? थकने पर भी सैनिक कभी शिकार खेलने से अघाते हैं? इस कारण स्पष्ट है कि विदूषक की इस शिकायत का अर्थ इतना ही है कि सुखलोलुप विदूषक का यह दुःख निजी है। खाने पीने के संम्बन्ध में विदूषक की सच्ची क्या शिकायत है इस ओर श्री करमरकर का ध्यान ही नहीं गया है। जो खाना मिलता है वह समय पर नहीं मिलता। विदूषक की शिकायत है कि शिकार के मजे में कभी भी खाना समाप्त करने की नौबत आती है (अनियतवेलम्)

---

१. करमरकर संपादित 'विक्रमोर्वशीय; दूसरी आवृत्ति, १६३२, अंक ३ की टिप्पणी, पृष्ठ २०१।

२.—देखें 'भो! दिष्टम्। एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि' शाकुंतल; २।

और जो खाना सामने आता है वह भी ठीक पका हुआ मसालेदार रुचिकर मांस नहीं होता क्यों कि जंगल में ऐसी पाकसिद्धि कैसे हो सकती है ? इस कारण उसकी दूसरी शिकायत यह है कि उसे ठीक पका हुआ मांस नहीं मिलता क्योंकि मारे हुए जानवरों का गोश्त लोहे की सलाक पर भूनकर खाना पड़ता है (शूल्यमांसभूमिष्ठ आहारो भुज्यते) । भोजनप्रिय और रुचिर पदार्थ खाने वाले विदूषक को भूख का समय टलने पर भी केवल भुना मांस खाने की नौबत आयी है । वास्तव में यही उसका वैयक्तिक दुःख है ।

मांसाहार के प्रसंगों के उल्लेखों को वेदकाल से ढूँढकर निकाला जा सकता है । लेकिन यहाँ पर उसकी जरूरत नहीं । संस्कृत नाटकों के बारे में कहना हो तो 'मृच्छकटिक' और 'उत्तररामचरित' के उदाहरण काफी हैं । वसंतसेना की पाकशाला में मैत्रेय ने जो अनेक दृश्य देखें उनमें एक दृश्य यह भी था कि एक खटिक का लड़का जानवरों की आंतड़ी धो रहा था ।[1] जिस सरसता और लालच से यह सारा वर्णन मैत्रेय ने किया है उसे देखकर खाने का आमन्त्रण पा पैर धोने के लिए पानी दिए जाने की अपेक्षा करने से वह 'शाकाहारी' खाने की ही अपेक्षा कर रहा था ऐसा कहा नहीं जा सकता । लेकिन भवभूति जैसे श्रोत्रिय ब्राह्मण ने पुरातन मधुपर्क विधि के वर्णन में मानार्ह अतिथि के स्वागत में गाय, बैल या बकरी का मांस परोसने की प्रथा वेद और धर्मशास्त्र संमत होने को स्पष्ट लिखा है ।[2]

इसलिए शूद्रक और कालिदास के समय मांसाहार निषिद्ध नहीं दीख पड़ता । इस कारण ब्राह्मण विदूषक के द्वारा मांसाहार के उल्लेख करने में इन नाटककारों को 'अब्रह्मण्य' लगने की कोई जरूरत नहीं थी । सत्रहवीं शताब्दी के महादेव कवि कृत 'अद्भुतदर्पण' नाटक का विदूषक रावण का सहचर होने से उसके मांसाहार का स्पष्ट वर्णन आया है ।[3] कालांतर और विशेषकर धर्मकल्पना के प्रभाव से आहारपद्धति बदल गयी और मांसाहार निषिद्ध माना गया । यही ऐतिहासिक सत्य है ।

१—देखें: 'अयमपरः पटच्चरमिव हतपशूदरपेशि धावति रूपिदारकः ।' मृच्छकटिक ४.२७ -१७

२—देखें: समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्यमानाः श्रौत्रियायाभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा महाजं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः तं । हि धर्मं धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति उत्तररामचरित, अंक ४, मिश्रविष्कम्भक ।

३—देखें: अद्भुतदर्पण, अंक ५, श्लोक ३०, यहाँ विद्युज्जिह्व पात्र के विदूषक का वर्णन इस प्रकार किया है :

'मज्जास्नेहविनिष्पक्वमांसमोदकस्वादनैः ।
विजिह्मितमुखो मन्दं विह्वलं चाभिवर्तते ॥'

इसी दृष्टि से पेय का भी विचार किया जा सकता है। भोजन के साथ 'पान' आ ही गया। सामान्यतया इसका अर्थ पानी है। लेकिन संस्कृत नाटकों से ऐसा स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में मद्य या 'मधु' अर्थात् मीठे मादक पेय का उत्सवों में प्रयोग किया जाता था।[1] इस कारण कम से कम ऐसे प्रसंगों में तो मद्यपान के लिए विदूषक का आक्षेप नहीं रहा होगा। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक का विदूषक उसे प्राप्त मोदकों का वर्णन 'कण्णिल-लड्डुआ' शब्दों में करता है, जिनका अर्थ है 'मद्य में बनाये गये, आटे के लड्डू।' इन्हीं मोदकों का वर्णन श्रमणक ने 'णिट्ठाणिआ सुरा विअ महुराणि' अर्थात् सुगंधित मद्य की तरह मधुर ऐसा किया है। विदूषक ये मोदक खाने के लिए तैयार था। इससे ऐसा लगता है कि मद्यपान के लिए उसका कोई प्रतिकार नहीं होता रहा होगा।

प्रमदवन में मालविका को आती देखकर अग्निमित्र की ओर मुड़कर गौतम कहता है, 'मद्य पिये उन्मत्त के सामने मानो यह शक्कर ही आयी है।'[2] 'गौतम का यह उल्लेख केवल औपचारिक नहीं है।'

शारदातनय ने धीरललित नायक के सहचर के रूप में जिस विदूषक का वर्णन किया वह विहित और निषिद्ध दोनों प्रकार के खाद्य चाहता है।[3] विदूषक को चित्रित करते समय नियमानुसार या तत्कालीन अ-आहार-विहार के सामाजिक संकेतों के अनुसार, नाटककारों ने मांसाहार और पान का संबंध विदूषक के साथ जोड़ा होगा। इसमें भले बुरे का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सामाजिक रिवाज जैसे बदलते गये वैसे विदूषक के खान-पान में भी बदल आया होगा। इस कारण पुराने नाटकों के मांसाहार या मद्यपान के उल्लेखों से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका सिर्फ इतना ही मतलब है कि विदूषक की पोशाक की तरह उसके खाने-पीने का सम्बन्ध भी तत्कालीन सामाजिक व्यवहार से जुड़ा है।

○ ● ●

---

१. देखें : 'कुमारसंभव, २.३८। रत्नावली में वसंतोत्सव के वर्णन में 'मधुमत्त कामिनीजन'... (१.६–३-४), और 'क्षीबाया नुपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ।' (१.१६) ऐसे दो उल्लेख स्त्रियों के मदिरापान के आये हैं।

२. देखें : 'ही ही ! शीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिका उपनता।'
मालविकाग्निमित्र, ३.५–१२-१३।

३. देखें : 'भक्ष्याभक्ष्यप्रियो...' भावप्रकाशन, गायकवाड;
प्रकरण ६, पृ० २७२, पंक्ति ३.

६.

विदूषक की भाषा

विदूषक का ब्राह्मण होने का संकेत संस्कृत रंगमंच पर रूढ़ हुआ था। फिर भी उसके बोलने की भाषा प्राकृत ही है। इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र का नियम स्पष्ट है। भरत के विधानानुसार विदूषक की भाषा 'प्राच्या' अर्थात् पूर्वदेशीय प्राकृत है।[1]

सागरनन्दी ने भाषा का यही नियम दिया है।[2] रामचन्द्र ने कहा है कि विदूषक नीच पात्र है जिससे यह स्पष्ट है कि उसकी भाषा प्राकृत ही होगी।[3] अन्य शास्त्रग्रंथों में विदूषक की भाषा के बारे में कोई उल्लेख नहीं है। लेकिन उन्हें ऊपरी नियम संगत होगा ही। संस्कृत नाटककारों ने तो इस नियम का पूर्ण रूप से पालन किया है।

ब्राह्मण प्राकृत भाषा बोले यह ऊपर से असंगत लगता है। इस असंगति के कारणों को हम ढूंढ़ेंगे—

---

१. देखे :—'प्राच्या विदूषकादीनां—' नाट्यशास्त्रः गायकवाड १७.५२; काव्यमाला, १७.५१; 'प्राचया विदूषकादीनां योज्या भाषा अवन्तिजा।' काशी १८.३८। डॉ० कोपरकर 'प्राचया : दि डायलेक्ट ऑफ दि विदूषक' नामक लेख (बुलेटिन् ऑफ दि डेक्कन रिसर्च इन्स्टिट्यूट, व्हॉल्यूम ४,१९४३; पृष्ठ ३८७-३९७) लिखा है; उसमें भाषा की दृष्टि से विवरण दिया गया है।

२ देखें :—शौरसेनीमथ प्राच्यामावन्तीं कर्हिचित् पठेत्।
एता एव वणिक्श्रेष्ठिबालकाश्च विदूषकाः॥
नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ—९०, पंक्ति ५१—५२।

३. देखें : नाट्यदर्पण, गायकवाड, ४.१६७।

(१) नाट्यशास्त्र के एक अध्याय में भाषाविधान आया है। उसके अनुरोध में भरत ने नाटकीय पात्रों का त्रिविध वर्गीकरण सुझाया है। उत्तम—इसमें नायक, अमात्य तापस और पुरोहित आते हैं : मध्यम—इसमें सामान्य ब्राह्मण, शिष्य, कंचुकी, राजा, अधिकारी आदि आते हैं; और हीन या अधम इसमें सामान्यतया सभी स्त्रियाँ और राजमहल की दासियाँ और नौकर आते हैं।[1] भरत का यह वर्गीकरण सामाजिक संबंधों पर आधारित नहीं है। या उससे सामाजिक दर्जा सूचित नहीं किया जाता। अन्यत्र सामाजिक दृष्टि से श्रेष्ठत्वप्राप्त ब्राह्मण वर्ग और रानी को अधम या हीन मानने का कोई कारण नहीं था। भरत के वर्गीकरण का सम्बन्ध नाटक के संविधान से है। नाटक के कथानक में पात्र के स्थानानुसार उसकी श्रेणी और बोलने की भाषा तय की गयी है। इस दृष्टि से विदूषक 'नीच' पात्र है। रामचन्द्र ने वैसे तो स्पष्ट शब्दों में ही कहा है।[2] ऐसे नाट्य संकेत के अनुसार विदूषक की भाषा प्राकृत निश्चित होती है। भास के 'कर्णभार' नाटक में कर्ण और उसका सूत शल्य संस्कृत में बातचीत करते हैं तो ब्राह्मण याचक का रूप लेकर आया हुआ इन्द्र प्राकृत में बातचीत करता है, इसका रहस्य भी यही है। इसीलिए हमें ध्यान में रखना चाहिए कि संस्कृत नाटकों के पात्रों की भाषा इस प्रकार नाट्यसंकेतों के अनुसार निश्चित हुई है।

(२) विदूषक ब्राह्मण का विडंबन है। इसी विडंबन के कारण विदूषक की भाषा प्राकृत बनी। इसके अलावा, एकाध पात्र दूसरे प्रांतकी भाषा का प्रयोग करता है तो उससे हास्यनिर्माण होता है। इस दृष्टि से विदूषक की 'प्राच्या' योजना का विधान बन गया। ऐसे दो मत इस संदर्भ में व्यक्त किये जाते हैं। ब्राह्मण जैसे उच्चवर्णीय के प्राकृत का अवलंब करने में जो स्वाभाविक असंगति है वही विनोद के अनुकूल है। उसी तरह अन्य भाषा से उच्चारण और व्याकरण में स्वाभाविक रीति से गड़बड़ी होकर हास्यनिर्मिति होती है। ये दोनों बातें सच हैं। लेकिन एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या विदूषक के प्राकृत बोलने के लिए प्रस्तुत परिस्थिति ही कारणीभूत थी? बारीकी से देखने पर ये कारण विदूषक के लिए लागू नहीं होते।

---

१. देखें : 'उत्तमै : मध्यमै : हीनै : ये संभाष्या: नरा: यथा।' नाट्यशास्त्र; गायकवाड, १७ (भाषालक्षण) ६५; काव्यमाला, १७. (काकुस्वरविधान) ६५; काशी १८. (भाषाविधान) २. इसके सिवा;

'समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता।
पुरुषाणामथ स्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा'॥

नाट्यशास्त्र, गायकवाड, काव्यमाला, २४. १; काशी, ३४.१–२।

२. देखें : 'नीचा विदूषक-क्लीब-शकार-विट-किङ्कराः।' नाट्यदर्पण, ४.१६७। इसका विवरण' 'एषां च नीचत्वं नैसर्गिकम्।' ऐसा है।

इसका उल्लेख पिछले प्रकरण में आ गया है कि विदूषक के पात्र में ब्राह्मणों का उपहास होता है। लेकिन यह कहना कि विदूषक ब्राह्मण वर्ग का विडंबन है विदूषक के चरित्रचित्रण में अकारण मर्यादा डालना है। इससे विदूषक का चरित्र एकांगी बनता है ? विदूषक केवल ब्राह्मणों की ही नहीं बल्कि सभी लोगों की हँसी उड़ाता है। इसलिए विडंबन के बारे में उसकी प्राकृत भाषा के प्रयोग का समर्थन एकांगी और अधूरा हो जायगा।

वास्तव में यह असत्य है कि विदूषक की भाषा पहले से ही प्राकृत थी। भरत ने देवता के सहचर के रूप में जिस विदूषक को बताया है उसका प्राकृत में बोलना असंभव है। देवताविषयक नाटकों में विदूषक के रूप में सामने आने वाला नाट्य संस्कृत में ही बातचीत करता रहा होगा। जावा द्वीप में जो नाट्य परंपरा की जानकारी प्राप्त हुई है उससे यह निश्चित किया जा सकता है कि प्राचीन नाटक संपूर्णतः संस्कृत भाषा में थे। जावा की नाट्यकला भारतीय कला के प्रभाव से जन्मी और पनपी। इन नाटकों का विदूषक जैसा विनोदी पात्र तद्देशीय उच्च भाषा में—संस्कृत भाषा में बोलता है। यदि यह सारी नाट्यरचना संस्कृत नाटक के अनुसार हुई हो तो यह मान्य करना ही पड़ेगा कि मूल संस्कृत नाटक का विदूषक भी संस्कृतभाषी रहा होगा।[1] इसलिए विडंबन के उद्देश्य से अन्य प्राँतीय भाषा को अनभिज्ञता से उपयोग में लाकर हास्यनिर्मिति करने के लिए विदूषक द्वारा प्राकृत भाषा कहलायी गयी आदि विधान कमजोर बन जाते हैं।

वास्तव में भाषा का उपयोग सामाजिक और सांस्कृतिक अंगों से निश्चित होता है। भाषा सामाजिक और सांस्कृतिक वस्तुस्थिति का प्रतीक है। इनका संबन्ध प्रदर्शित करने का भाषा एक साधन है। इस अर्थ से भाषा एक सजीव संस्था है और उसमें हमेशा परिवर्तन होते रहते हैं। संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के इतिहास के अनुशीलन से दिखायी देगा कि संस्कृत एक समय आम जनता की भाषा थी फिर भी कालांतर से उसकी जगह प्राकृत ने ली। संस्कृत का प्रयोग सुशिक्षित और साहित्य के लिए मर्यादित रहा और लोकव्यवहार में प्राकृत भाषा का उपयोग होने लगा। इसी कारण ही 'कामसूत्रकार' वात्स्यायन को संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषा का प्रयोग न करने की सूचना नागरिकों को देना ठीक जँचा।'[2]

प्राकृत लोकव्यवहार की भाषा हो जाने पर, स्वाध्याय पूरा होने तक और वाणी, उच्चारण पर योग्य संस्कार होने तक, संस्कारयुक्त ऐसी 'संस्कृत' भाषा का प्रयोग

---

१. देखें : प्रकरण, पादटिप्पणी (३१) और (३२), पृष्ठ २४.
२. कामसूत्र, १.४. ५०. प्रकरण २. पादटिप्पणी (२०), पृष्ठ ५८ देखें।

न करके ब्राह्मण वर्ग भी स्वाभाविक अर्थात् 'प्राकृत' भाषा का प्रयोग करता रहा होगा। भवभूति ने दिखाया है कि वाल्मीकि-आश्रम का एक छात्र अब तक प्राकृत बोल रहा है। इस पर डा० बेलवलकर कहते हैं, 'यह नटखट और खिलाड़ी था लेकिन उम्र में छोटा था। वह शुद्ध वर्णोच्चारण करने में असमर्थ था। इसलिए वह संस्कृत न बोलकर प्राकृत अर्थात् बोलभाषा का प्रयोग करता है।'[1] इस चित्रण का संबन्ध सामाजिक घटनाओं से होना स्वाभाविक है। प्राकृत सामान्य बोलभाषा बन गयी थी और इससे यह सिद्ध होता है कि अपढ़ ब्राह्मण भी संस्कृत आने तक, या रोज के व्यवहार में प्राकृत का ही प्रयोग करते थे। प्रसंगानुसार शिक्षित लोग संस्कृत भाषा का उपयोग करते रहे होंगे। उसी प्रकार ब्राह्मण वर्ग भी समय आने पर या अपनी वर्णश्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए भी, प्राकृत छोड़कर संस्कृत का सहारा लेता रहा होगा। 'विद्धशालभञ्जिका' -नाटिका का नायक जब वसंत ऋतु के भ्रमरक्रीड़ा का वर्णन संस्कृत श्लोक में करता है तब विदूषक भी उससे संस्कृत में बोलने लगता है। राजा विदूषक से कहता है, 'तुम संस्कृत भी अच्छी तरह जानते हो।[2]

इसके साथ ही यह भी दिखायी देता है कि अध्ययन के पीछे न पड़ते हुए केवल वर्णश्रेष्ठता के बल पर समाज के अग्रभाग में रहकर धार्मिक कार्य में मिलने वाली दक्षिणा और भोजन पर उपजीविका चलाने वाले अनेक अशिक्षित ब्राह्मण इस वर्ग में जरूर रहे होंगे। आज भी ऐसे भिक्षुक और याज्ञिकों की कमी नहीं जिनकी भाषा में अशुद्ध वर्णोच्चारण और असंस्कृत शब्दप्रयोग पाये जाते हैं। विदूषक का साम्य यदि किसी से होता हो तो इस ब्राह्मण वर्ग से और इसी वर्ग का उपहास इस पात्र के द्वारा नाटककार ने किया है।

लेकिन एक मुख्य विषय यह हैं कि नाटक के भाषाविधान का सम्बन्ध एक दृष्टि से प्रत्यक्ष सामाजिक परिस्थिति से है। यह बात संस्कृत नाटक के विद्वानों को ज्ञात है कि संस्कृत नाटक विशिष्ट जीवनमूल्य या ध्येयेवाद और यथार्थता का विभिन्न मिश्रण है। संस्कृत नाटक के पात्र घटना या कथानक विशिष्ट आदर्श के प्रतीक रूप में आते हैं; लेकिन नाटक की पूर्ण पार्श्वभूमि और वातावरण यथार्थ रूप में चित्रित करने की नाटककारों की निजी पद्धति है। इसी लिए पुराणकथा चित्रित करते समय संस्कृत नाटककार उसके लिए जो ढाँचा तैयार करते हैं; वह तत्कालीन वास्तव रंगों से चित्रित रहता है। इसी संदर्भ में भरत ने नाटकीय पात्रों की भाषा सम्बन्धी विधान किया है;

---

१. डॉ बेलवलकर कृत उत्तररामचरित का मराठी अनुवाद (प्रथमावृत्ति) पुणे, १९१५, पृष्ठ १७४। उत्तररामचरित, ४.१-१ की पादटिप्पणी (३).

२. देखें: विद्धशालभञ्जिका, १.३० और आगे के उद्‌गार, 'संस्कृतेऽपि प्रगल्भसे।

और उसका सम्बन्ध यथार्थ से है। नाटक लोकाभिमुख होने से तत्कालीन यथार्थ समाज-स्थिति का प्रतिबिम्ब उसमें हो यही यहाँ पर शास्त्र का हेतु है।[1]

डॉ० भांडारकर भी कहते हैं, 'अपने साहित्य में कुछ पात्रों के बारे में बोलभाषा का उपयोग और विशेषतः वह निचले दर्जे के हों तो विनोद के साधन के रूप में कहना कवि के लिए स्वाभाविक है। सभी देशों के साहित्यिकों ने इस पद्धतिका प्रयोग किया है। लेकिन संस्कृत नाटककारों ने इन (प्राकृत) भाषाओं का जो उपयोग अपने नाटकों में किया वह केवल मनोरंजन के लिए न होकर औचित्य को दृष्टि से भी किया है। विशिष्ट प्राकृत भाषाओं का प्रयोग विशिष्ट पात्र ही करें यह बताते समय जो सूक्ष्म दिग्दर्शन (शास्त्रग्रंथ में) किया हुआ दीखता है इसका अर्थ सामने दिखानेवाली समाज-स्थिति का यथार्थ दर्शन नाट्यसाहित्य में हो यही मूल कल्पना है और ऐसा अर्थ लगाये बिना उपर्युक्त दिग्दर्शन का स्पष्टीकरण नहीं दे सकते।'[2]

इसलिए यह स्पष्ट है कि विदूषक की प्राकृत भाषा तत्कालीन वस्तुस्थिति का और यथार्थ का परिणामस्वरूप है।

(३) विदूषक के प्राकृत उपयोग करने में और एक लोकाभिमुख दृष्टि होगी। नाट्यप्रयोग से आचार्य और पंडितों को संतुष्ट करके राजा से प्रशंसा पाने की इच्छा रहने पर भी नाटककार प्रेक्षकों की उपेक्षा नहीं कर सकता। नाटक लोकानुरंजन का स्वाभाविक साधन है। इस कारण पंडितों की प्रशंसा पाने की दृष्टि से या राजाज्ञा से जिस प्रकार नाटक खेले जाते रहे होंगे उसी प्रकार उत्सव या मेले के निमित्त एकत्रित होने वाले सामान्य भीड़ के लिए भी नाटक अवश्य खेले जाते रहे होंगे। इस वर्ग को जो भाता है वही नाटक के रूप में देना ही एक दृष्टि से नाटककार की जिम्मेदारी है। विशेषतः विदूषक जैसे लोकप्रिय पात्र का विनोद, उसका मुक्त या मार्मिक परिहास और उसके संभाषण का आनंद आदि बातें प्रेक्षकों को समझने के लिए करनी हों तो कम से कम ऐसे पात्रों को तो बोलभाषा का प्रयोग करना आवश्यक है।

सामाजिक व्यंग्य पर मार्मिक प्रकाश डालने के लिए विनोद एक प्रभावी साधन है। इस साधन का बोलभाषा में ठीक प्रयोग करने पर वह अधिक प्रभावी होता है।

---

१. देखें: 'एवं भाषाविधानं तु कर्तव्यं नाटकाश्रयम्।
अत्र नोक्तं मया यत्तु लोकाद्ग्राह्यं बुधैस्तु तत्॥'
नाट्यशास्त्र: गायकवाड, १७.६४; काव्यमाला १७.६३; काशी, १८.४९.
विश्वनाथ का भी कथन है, 'यद्देशं नीचपात्रं तु तद्देशं तस्य भाषितम्।'
साहित्यदर्पण, ६.१६७।

२. देखें: विलसन् फिलोलॉजिकल लेक्चर्स, 'व्याख्यान ७वाँ; पृष्ठ २७७.

इसलिए विनोद के प्रमुख सांकेतिक माध्यम के रूप में संवाद के लिए प्राकृत अर्थात् बाल भाषा विदूषक के लिए उपयुक्त ही है।

(४) केरल रंगमंच पर संस्कृत नाटक प्रस्तुत करने की जो प्रथा है वह इस संदर्भ में उद्बोधक है। केरल में 'कूट्टु' नामक एक नाट्यप्रकार है। इसमें नायक अभिनय के द्वारा श्लोक कहता है और विदूषक उसका अर्थ देशी भाषा में बताता है। इसमें या 'संघक्कर्कों' नामक नाट्यप्रदर्शन में प्रेक्षकों को नाटक समझाने का कार्य विदूषक का होता है। विदूषक विनोद भी करता है, और वह समाजस्थिति पर मार्मिक टीका करता है। लोगों के साथ बोलने वाले इस पात्र की भाषा प्रचलित बोलभाषा ही होती है क्योंकि विदूषक यह प्रत्यक्ष समाजजीवन से अवतरित यथार्थ पात्र होता है। बोलभाषा का अवलंब करने में यहाँ बिडंबन का हेतु नहीं होता क्योंकि ये नाट्यप्रयोग लोकप्रिय होकर अंशतः धार्मिक स्वरूप के रहते हैं। गौतमबुद्ध या महावीर जैसे धर्मप्रसारकों में धार्मिक उद्देश्य से जिस बोलभाषा का प्रयोग किया वह नाट्यदर्शन में लाभदायक हुआ इतना ही कहा जा सकता है। अतः केरल रंगमंच का इतिहास ऐसा बताता है कि विदूषक को प्राकृत भाषा का जन्म विडंबन के द्वारा न होकर लोकप्रियता और लोकाभिमुखता से हुआ है।[1]

(५) विदूषक की भाषा प्राकृत होने पर उसमें विनोद का बीज आप ही आप आ जाता है। असंगति विनोद का मर्म है। ब्राह्मण जैसे उच्चवर्णीय द्वारा पात्र निचले वर्ग की भाषा के प्रयोग में एक स्वाभाविक असंगति है। इसे देखकर कि यही असंगति स्वाभाविकता से हँसानेवाली है। नाटककारों ने यदि विनोद के साधन के रूप में प्राकृत भाषा की योजना विदूषक के द्वारा की हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

इस प्रकार, विदूषक की यह प्राकृत भाषा प्रथम विशिष्ट नाट्यसंकेतों से आ गयी। इसमें यथार्थता का तत्त्व भी अनुस्यूत था। आगे चलकर नाट्यविकास में अशिक्षित ब्राह्मणों के प्रतीक के रूप में जैसे विदूषक माना गया वैसे प्राकृत की उसकी स्वाभाविक भाषा बनती गयी होगी। नाटककारों को भी प्राकृत के प्रयोग में वास्तविकता साधकर उसके साथ ही विनोद की और उपहास की लोकप्रियता समाज के सभी स्तरों तक पहुँचाने का एक प्रभावी साधन भी उपलब्ध हुआ। धार्मिक प्रचार के लिए बोलभाषा का होने वाला प्रभावी प्रयोग उन्हें दिखायी देता था। नाटक की विशेषकर विनोद की जो लोकाभिमुख रंजनप्रवृत्ति है उसे बोलभाषा का सहयोग मिलने से उसकी लोकप्रियता की अभिवृद्धि को नाटककार कैसे भुला सकते थे?

---

१. देखें: के० राय पिषारटि का 'केरल थिएटर' लेख; जर्नल ऑफ दि अन्नमलाय युनिवर्सिटी, व्हॉल्यूम ३, क्र० २ आक्टोबर १९३४।

७. विदूषक का नामकरण

विदूषक यह सामान्य संज्ञा है। भरत के नाट्यशास्त्र में उसी का उल्लेख है। आगे चलकर कुछ शास्त्रकारों ने विशेष संज्ञाएँ बनायी हैं। शारदातनय के विदूषकों के दिए हुए नाम हैं—वात्स्यायन, शाकल्य, मोद्गल्य, वसंतक और गालव।[1] विश्वनाथ के के अनुसार विदूषकों के नाम—कुसुम, वसंत हों।[2] शिङ्गभूपाल ने कहा है कि वसन्तक, कापिलेय नामों से विदूषक का संबोधन हो।[3]

अश्वघोष के नाटक के विदूषक का नाम 'कौमुदगन्ध' है। इसका अर्थ है 'कमल जैसा गन्ध होनेवाले का पुत्र' और यह नाम भी विश्वनाथ के बताये नियम के अनुसार है। भास के स्वप्नवासवदत्त' एवं 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटकों के और श्रीहर्ष के 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' नाटकों के विदूषकों का नाम 'वसन्तक' है। इन चारों विदूषकों के नाम एक ही होने से आश्चर्य होता है। लेकिन उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया जा सकता है : भास ने उदयन के विदूषक का नाम वसन्तक पसन्द किया है। कथासरित्सागर की उदयन-कथा में उदयन के सहचर का नाम वसन्तक ही है। भास

---

१. देखें—भावप्रकाशन (गायकवाड), प्रकरण ६, पृ० २७७, पंक्ति ५–६।

२. देखें—कुसुमवसन्ताद्यभिधः ······।' साहित्यदर्पण ३–४२।

३. देखें—'वसन्तकः कापिलेयो इत्याख्येयो विदूषकः।' रसार्णवसुधाकर (त्रिवेंद्रम) ३–३२६ (पृष्ठ ३०२)।

के उपर्युक्त दोनों नाटक उदयन कथा पर आधारित होने से उनके विदूषकों के नाम भी एक ही हैं। यह नाम चाहे कथा की परम्परा से रूढ़ हुआ हो या चाहे श्रीहर्ष के उपर्युक्त दोनों नाटक उदयन कथा पर रचित होने के कारण रूढ़ हुआ हो, श्रीहर्ष ने अपने नाटकों में विदूषक के लिए उसी नाम का प्रयोग किया है।

शास्त्रकारों द्वारा बताये अन्य नाम संस्कृत नाटकों में प्राप्त नहीं होते। लेकिन इन नामों का परिशीलन करने पर इनका त्रिविध सम्बन्ध दीख पड़ता है: वसन्त ऋतु या फूल से, ब्राह्मण जाति से और शारीरिक व्यंग्य से। इनमें से पहले प्रकार में आने वाले 'वसन्तक' के जैसे नामों से विदूषक का सम्बन्ध उत्सव के साथ दिखायी देता है। संस्कृत नाटकों के प्रयोग वासंतिक या शारदीय उत्सवों के समय होते थे। श्रीहर्ष ने 'रत्नावली' के पहले अंक में तो विदूषक को नाच-गाने में प्रत्यक्ष हिस्सा लेकर थोड़ी देर तक मनोरंजन करता हुआ दिखाया है। पिछले प्रकरण में आये उल्लेखानुसार तत्कालीन समाजजीवन में विदूषक अपने विनोदी स्वभाव से और सामाजिक सम्बन्ध से लोकप्रिय व्यक्ति था। विदूषक के इस लोकप्रिय और सामाजिक सम्बन्धों में से शास्त्रकारों ने और नाटककारों ने उत्सवों से सम्बन्धित ऐसे ही नामों को लिया होगा। सामूहिक लोकप्रिय उत्सवों का नाटक के विकास पर जो अपरिहार्य प्रभाव पड़ा उसे देखकर उसका एक पहलू विदूषक के प्रस्तुत इस नाम में दिखायी देगा।

विदूषक के नाम का दूसरा सम्बन्ध ब्राह्मण जाति से है। सागरनन्दी ने कहा है कि राजा के साहचर्य में आने वाले विदूषकादि ब्राह्मण व्यक्तियों के नाम 'फलाने का पुत्र' इस अर्थ से तद्धित शब्द बनाकर प्रयोग करें।[1] इस या ऊपरी नियम से साम्य रखने वाले कुछ ब्राह्मण जातिवाचक नाम, कुछ उपलब्ध नाटकों में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, मालविकाग्निमित्र का 'गौतम' मृच्छकटिक का 'मैत्रेय' नागानन्द का 'आत्रेय' कौमुदीमहोत्सव का 'वैखानस'; (इस नाम से तापस का बोध होता है लेकिन वह केवल ब्राह्मण जातिवाचक ही होगा); विद्धशालभञ्जिका का 'चारायण' चण्डकौशिक का 'बोधायन'; रतिमन्मथ का 'सांख्यायन'। विदूषक का ब्राह्मण होने का संकेत संस्कृत रंगमंच पर रूढ़ हुआ था। इस कारण कुछ नाटककारों ने जातिवाचक नामों का जैसे जान-बूझकर प्रयोग किया होगा वैसे अन्य नाटककारों ने भी, विदूषक को ब्राह्मणगृहीत होने से नाम से जाति सुझाने के बदले अन्य कुछ सुझाने के लिए नामों को चुना होगा।

---

१. देखें—'तद्धितापत्यविहितैः प्रत्ययैः ब्राह्मणादयः ।
राज्ञो विदूषकामात्यसूतकञ्चुकिनस्तथा ॥'
नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ ९२, पंक्ति, २२०५—२२०६ ।

विदूषक के नाम से सूचित होने वाली तीसरी बात है शारीरिक व्यंग्य। शास्त्र-ग्रंथ का 'कापिलेय' नाम भूरा वर्ण सूचित करता है। इसका साहचर्य कपि से 'कर्पूरमञ्जरी' के 'कपिञ्जल' नाम से 'भूरे वर्ण का मर्कट' अर्थबोध आसानी से हो सकता है। इससे वासंतिक उत्सव और ब्राह्मण जाति की तरह शारीरिक विकृति भी एक तीसरी बात विदूषक से सम्बन्धित होकर उसका नाम निश्चित करने के लिए कारणीभूत होगी। इस दृष्टि से कालिदास का 'माणवक' नाम या महादेव का 'महोदर' नाम ध्यान देने योग्य है। पहले का अर्थ है 'बौना'[1] और दूसरे का 'तोंदल'।

शास्त्रकारों द्वारा न सुझाई हुई लेकिन नाटककारों द्वारा योजित नामों से सूचित होनेवाली एक और बात है जिसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। शारीरिक विकृति के आगे की सीढ़ी मानसिक विकृति, दुर्बलता है। शाकुंतल का 'माढव्य' नाम मूढ़ता का द्योतक है।'[2]

मानसिक दोषों के अनुसार नाम से ही मानसिक गुण भी सुझाए जा सकते हैं। भास के विदूषक का 'संतुष्ट' नाम और उसके 'चारुदत्त' का और शूद्रक के 'मृच्छ-कटिक' का 'मैत्रेय' नाम संतोषवृत्ति का, गाढमित्रता का द्योतक है।'[3]

विदूषक के नाम की बात गौण है लेकिन शास्त्र में इसका उल्लेख आने का कारण यह होगा कि यह पात्र सांकेतिक स्वरूप का रहा होगा। इस कारण विदूषक का नाम देते समय कुछ सम्बद्ध संकेत की सूचना होने को कल्पना रही होगी।

शास्त्रग्रंथों में उल्लिखित नाम और उपलब्ध नाटकों में मिलने वाले नामों में जो अन्तर दिखता है वह आश्चर्यकारक है। कालिदासादि नाटककारों के नाटक उत्तर-कालीन शास्त्रकारों के सामने रहे होंगे। फिर उन्होंने विदूषक के नाम के सम्बन्ध में

---

१. 'माणवक' की व्युत्पत्ति 'ह्रस्वः मानवः 'या' मनोरपत्यं कुत्सितं माणवः, अनुकम्पितः माणवः माणवकः।' ऐसी है। न > ण यह बदल पाणिनि ४।१।१६१ के पातंजल महाभाष्य में स्पष्ट किया है। विक्रमोर्वशीय नाटक के विदूषक का नाम 'माणवक' है। शाकुन्तल के माढव्य को उद्देश्यकर दुष्यन्त माणवक शब्द का प्रयोग करता है (केन आत्तगन्धः माणवकः। ६.२५-१८) इसे ध्यान में लेना होगा। यहाँ शारीरिक विकृति के साथ अनुकंपा भी सूचित है।

२. माढव्य का अपना सबूत देखें, 'मयाऽपि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्।' शाकुन्तल ६.८, २७-२८।

३. 'संतुष्ट' का अर्थ स्पष्ट है। 'मैत्रेय' का 'मित्रे साधुः मैत्रेयः' ऐसा स्पष्टीकरण दिया जा सकता है।

नियम बनाते समय इन प्राचीन नाटकों की तरफ ध्यान क्यों नहीं दिया ? इसके लिए एक ही पर्याय दिखता है और वह यह है कि उन्होंने उस समय के प्रचलित लोकप्रिय नाटकों को ही ध्यान में लिया होगा क्योंकि अभिजात नाटक कालप्रवाह में नष्ट हुए थे। दूसरा पर्याय ऐसा यह हो सकता है कि वाङ्मय का परिशीलन करके नियम बनाने के बदले शास्त्रकारों ने केवल तात्विक नियम बनाये होंगे। इस कारण शास्त्र और अभिनय में साम्य के साथ अन्तर भी है। संस्कृत साहित्यशास्त्र को सम्पूर्ण रूप से देखने पर दूसरा पर्याय ही ठीक लगता है।

शास्त्रविचार में साहित्यिक संकेतों का भी विचार है। विदूषक के बारे में तो यह संकेत इतना रूढ़ हुआ दीखता है कि नाटकीय पात्र के रूप में विदूषक का उल्लेख केवल सामान्य नाम से ही होता है। विदूषक के विशेष नाम का उल्लेख होता है तो वह संवाद के प्रवाह में ही। इतना ही नहीं, नाटक का नायक राजा होने का जो संकेत दरबारी नाटकों के कारण हुआ उससे नाटककार नायक का नाम 'राजा' ही रखने लगे। दंतकथा पर आधारित या प्रकरण रूप सामाजिक नाटकों में नायक का नाम प्रत्यक्ष दिया हुआ होने पर भी 'अविमारक' 'मृच्छ-कटिक' आदि नाटकों में विदूषक की योजना में उसका सामान्य नाम दिया हुआ दीखता है। इन रूढ़ संकेतों के प्रभाव से ही विदूषक का विशेष नाम संवाद के बगैर समझ में नहीं आता।

विदूषक की व्युत्पत्ति क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर अब हमें ढूँढना है। डॉ० कीथ के अनुसार विदूषक की मूल प्रकृति महाव्रत के ब्रह्मचारी और सोमक्रयण के शूद्र में होकर उस अनुरोध से उन्होंने विदूषक का अर्थ 'गाली गलौज करनेवाला' दिया है। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है कि यह अर्थ गलत है।'[1]

व्युत्पत्ति का और एक प्रयत्न ऐसा है : राजा के व्यक्तिगत कार्यकर्ता के नाते हमेशा राजा के साथ रहने वाले विद्वान पुरोहित का भी विडंबन इस विदूषक के द्वारा हुआ है। विदूषक नाम का आधार प्राकृत है। प्राकृत 'विउसो' या 'क-प्रत्यय' लगाकर 'विउसओ' ये रूप संस्कृत 'विद्वस' से हुए हैं; इन रूपों का फिर संस्कृतीकरण होते समय 'विउसो'-'विउसओ', विदूषक शब्द बना है। माने विदूषक 'विद्वान' पुरोहितों का विडंबन है।[2]

यह उपपत्ति मानना असंभव है। विदूषक के पात्र में ब्राह्मण जाति का उपहास

---

१. प्रकरण १ देखें। विशेषतः पृ० १६–२०, २१

२. डॉ० उपाध्ये, 'चन्द्रलेखा' (भारतीय विद्या सीरीज् पु० ६, मुंबई १९४५); प्रस्तावना पृ० २६-२७।

है ही : साथ ही वह दूसरों का भी उपहास करता है। इसलिए विदूषक को ब्राह्मणों का विडंबन मानना एकांगी है। इसके अलावा विदूषक द्वारा ब्राह्मणों की जो हँसी उड़ायी गयी है वह सामान्य रीति से आयी है। ऐसा मानना प्रामादिक है कि ब्राह्मणों के एक विशिष्ट वर्ग का या व्यक्ति का उपहास विदूषक के द्वारा हुआ है। उसमें भी यदि एकाध वर्ग का उपहास किया गया हो तो वह वर्ग श्रोत्रियों का है, पुरोहितों का नहीं। पुरोहितों को राजदरबार में एक विशिष्ट सम्मान का स्थान था। पुरोहित वंशपरंपरागत रहता था। स्वस्तिवाचन का भोज और दक्षिणा प्राप्त करने के लिए पुरोहित राजा की कृपा की इच्छा नहीं रखता था। प्राचीन काल में तो पुरोहित राजा के साथ युद्ध पर भी जाता था। अर्थात् विदूषक के चित्रण में जो आवश्यक कायरता का गुण है वह पुरोहितों में नहीं था। आगे चलकर पुरोहितों का कार्य धार्मिक या प्रासंगिक बातों में ही यद्यपि मर्यादित हुआ फिर भी उसका ज्ञान और विद्वत्ता इतनी निर्विवाद थी कि राजा उसके सामने नतमस्तक होता था। ऐसे व्यक्ति का विडंबन क्या किया जाय ? इसके सिवा कालिदास ने 'शाकुन्तल' में और विजय भट्टारिका ने अपने 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक में पुरोहित और विदूषक ऐसे दो पात्रों की योजना की है। यह बात विडंबन की कल्पना करने के पूर्व ध्यान में रखने योग्य है। क्योंकि मूल व्यक्ति और उसका विडंबन दिखाने वाला पात्र ऐसे दोनों पात्र का एक ही नाटक में आना कला की दृष्टि से कठिन है। विडंबन यदि विशिष्ट व्यक्ति का न होकर सामान्य जाति का हो तो तो यह घटना सम्भव है।

पुरोहित की मूल प्रतिष्ठा आगे न रही होगी। आगे चलकर राजा की धार्मिक या ज्योतिषविषयक कार्यपूर्ति की जिम्मेवारी पुरोहित पर आ पड़ी होगी। और इसके साथ ही राजा का मनोरंजन करने का कार्य भी कभी-कभी उसने लिया होगा। राजशेखर के 'विद्धशालभञ्जिका' नाटक का विदूषक अन्त में राजा के विवाह में पौरोहित्य करता है। महादेव कवि के 'अद्भुतदर्पण' नाटक का विदूषक महोदर रावण का कुल-पुरोहित है। इन उदाहरणों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष सामाजिक परिस्थिति से होने से पुरोहित के बदलते कार्य का इतिहास हमें यहाँ दिखायी देगा। लेकिन फिर भी इन उदाहरणों में विदूषक और पुरोहित के अभिनयों का संगम हुआ है। एक दूसरे का विडंबन नहीं है। वास्तव में विदूषक के ब्राह्मण और उसकी प्राकृत भाषा के प्रश्नों की चर्चा विदूषक के नाम की चर्चा में अनावश्यक है। इनका उत्तर अलग दिया जा सकता है।

संस्कृत विद्वस् से विउसो या विउसओ, और उसका फिर संस्कृतीकरण विदूषक यह व्युत्पत्ति भाषाविज्ञान के अनुसार सम्भव होने पर भी निराधार है। एक तो यह

क्रम स्वीकार करने से संस्कृत का मूल प्राकृत नाटक हो जाता है। इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।'[1] दूसरी बात यह है कि 'पउमचरिय' प्राकृत ग्रंथ में 'विदूसग' रूप आया है न कि 'विउसो।'[2] और यह स्पष्ट है कि यह संस्कृत 'विदूषक' शब्द का प्राकृतीकरण है। इस लिए ऊपरी क्रम को, ग्रंथ का पुष्टीकरण नहीं है। तीसरी बात यह है कि विदूषक नाम में विद्वानों का विडंबन नहीं है। उल्टे कथासरित्सागर में विदूषक नाम के एक ब्राह्मण की ही कथा है जिसमें वह तरुण, पराक्रमी, गुणवान, सात्विक लोगों का अग्रणी वर्णित है। साथ ही उसने तप के द्वारा अग्नि को प्रसन्न कर लिया था। उसमें ऐसा बताया गया है कि अग्नि का ध्यान करते ही सामने आने वाला उत्कृष्ट खड्ग उसने प्राप्त कर लिया था।'[3]

इस चर्चा में उपर्युक्त व्युत्पत्तियाँ असंतोषजनक दीखती ही हैं; किन्तु विदूषक के नाम की व्युत्पत्ति नाटक के संदर्भ में ढूँढ़ना अनावश्यक है।

पूर्वरंग में 'त्रिगत' नाम का एक अंग है। इसमें सूत्रधार, पारिपार्श्विक और विदूषक तीनों का संवाद होता है। इसका वर्णन भरत ने 'विदूषकविदूषित' शब्दों में किया है। इसका पाठांतर 'विरूपित' ऐसा है।'[4] यहाँ विदूषक नाम का अर्थ स्वाभाविक रूप से सूचित हुआ है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'दूष' धातु से यह शब्द बना है। 'दूष' का अर्थ 'दोष देना, दोष ढूँढ़ना, बिगाड़ना' है। 'विरूप' का अर्थ 'बिगाड़ना' ही है। त्रिगत में पारिपार्श्विक नये नाट्य प्रयोग के बारे में कुछ बातें करता रहता है। विदूषक इस संवाद के बीच पड़कर हँसी की बातें कहता हुआ नाटक और नाटककार का दोष बताता है। विदूषक के दोषारोपण में हँसी का भाग होने से सूत्रधार को हँसी आती है; लेकिन वह उसका निराकरण करके नये नाटक की अपनी कल्पना बताता है। इन तीनों के संवाद का नाम त्रिगत है। और विदूषक के मजाक में किये गये

---

१. प्रकरण १. पृ० १३, २२, २३ देखें।

२. प्रकरण ३ पृ० ५० पर पादटिप्पणी १ में पउमचरित के श्लोक का पूर्ण अवतरण दिया है।

३. कथासरित्सागर, लावाणक-लम्दक ३, तरङ्ग ४। विशेषतः श्लोक १०९-११० देखें।

४. देखें—'पारिपार्श्विकसञ्जल्पो विदूषकविदूषितः (°विरूपितः)।
स्थापितः सूत्रधारेण त्रिगतं संप्रयुज्यते ॥'
नाट्यशास्त्र, गायकवाड, ५. १४१।

दोषारोपण को उद्देश्यकर यह 'वि' उपसर्ग आ गया है। विदूषक का दोषारोपण हँसी लानेवाला न होता तो सूत्रधार भी नहीं हँसता। इसका मतलब यह है कि अपनी विशिष्ट उपहास करने की पद्धति (विशेषण, विशिष्टं यथा स्यात् तथा) प्रयोग के साधनों में कुछ दोष ढूँढ़ निकालकर (दूषयति) थोड़ी देर हँसी उड़ाने का कार्य विदूषक पूर्वरंग में करता रहता है। इससे बढ़कर सरल और सीधी व्युत्पत्ति और क्या हो सकती है?

नाटक में ही विदूषक की बोल-चाल विशिष्ट प्रकार की याने हँसी उड़ाने की पद्धति की होने से, वह औरों के दोष निकालता है या प्रस्तुत प्रसंग को विनोद का रूप देकर बिगाड़ देता है। आगे के शास्त्रकारों में रामचन्द ने विदूषक के इस कार्य का स्पष्टीकरण दिया है; नायक के विरहावस्था में या अकेला होने पर उनके अनुरूप सहचर विदूषक अपनी विशिष्ट पद्धति से शांति में झगड़ा, और झगड़े में शांति निर्माण करते हैं अर्थात् शांति वा झगड़ा मिटाते रहें (विनाशयन्ति); लेकिन नायक के विरहदुःख को वे अपने विनोद से भुला देते हैं (विस्मारयन्ति)।[1] रामचन्द्र का यह स्पष्टीकरण देखने पर 'विशेषेण दूषयन्ति…इति विदूषकाः' यही व्युत्पत्ति वह सुझाता है। 'दूषयन्ति' पद का 'विनाशयन्ति और 'विस्मारयन्ति' ऐसा उसने जो अनुवाद किया उससे झगड़ा न होने की जगह उसे निर्माण करना, झगड़े के अन्त का प्रयत्न करना और नायक की विरहा-वस्था में विनोद लाकर उसके दुःख को भुला देना यह विदूषक का नाटकीय कार्य स्पष्ट है। यह सारा कार्य विदूषक अपनी विशिष्ट पद्धति से करता रहता है। जानबूझ कर दोष निकालने में, आलोचना करने में या प्रस्तुत प्रसंग को बिगाड़ने में उसका उद्देश्य विनोद उत्पन्न करके सब को हँसाना ही होता है। विदूषक यह केवल 'दूषक' नहीं है। उसकी बोलचाल की सर्वपद्धति वैशिष्ट्यपूर्ण है, हँसानेवाली है।

सामाजिक संदर्भ में विदूषक का यह अभिनय टीकाकार का वेष धारण करता है। नागरक और गणिका का स्नेह और विश्वास संपादन करने से, उनकी भूल होने पर विदूषक कड़ी आलोचना करता है (अपवदते); इस लिए उसे 'विदूषक' कहा गया है। लेकिन अपने स्वच्छंद स्वभाव से साहित्यिक बैठक में या गणिका के सहवास में वह

---

१. **देखें—एषां वियोगिनां विप्रलम्भशृङ्गारवतामौचित्यानतिक्रमेण लिङ्ग्यादयो यथासंभवं सन्धिं विग्रहेण विग्रहं सन्धिना च विशेषेण दूषयन्ति विनाशयन्ति विप्रलम्भं तु विनोददानेन विस्मारयन्तीति विदूषकाः' नाट्यदर्पण, ४.१६८ का विवरण (गायकवाड, पृ० १९९)।**

अनेक मार्गों से हास्यनिर्माण करता है; इसीलिए उसे कामसूत्रकार ने 'वैहासिक' दूसरा नाम दिया है।[1]

विदूषक में कटु टीकाकार और विनोदवृत्ति से हास्यनिर्माण करने वाले के अभिनय एक हुए हैं। 'दूष' धातु से टीकाकार का अभिनय मालूम होता है तो 'वि' उपसर्ग के अर्थ से उसकी विनोदीवृत्ति ध्यान में आती है।



१. देखें—'स च वेश्यां नागरकं वा कश्चित्प्रमाद्यन्तं लब्धप्रणयत्वादपवदत इति विदूषकः, क्रीडनत्वाच्च वेशे गोष्ठ्यां च विविधेन हासेन चरतीति वैहासिकः, इत्युभयनामा।' कामसूत्र, १.४.४६ का भाष्य।

८.

विदूषक के प्रकार

भरत ने चार प्रकार के नायकों की कल्पना की है; धीरोद्धत : इसमें देवता का समावेश है; धीरललित : इसमें राजाओं का समावेश है, धीरोदात्त : इसमें अमात्य और सेनापति आते हैं; धीरप्रशान्त : इसमें ब्राह्मण और वणिक् आते हैं।

भरत का कहना है कि इन चार प्रकार के नायकों के अनुसार ही चार प्रकार के विदूषक होते हैं। 'लिङ्गी' या तापस देवता-नायक का विदूषक, 'द्विज' राजा का विदूषक, 'राजजीवी' अर्थात् राजाश्रित, राजसेवक पुरुष या अमात्य का विदूषक; और 'शिष्य' यह ब्राह्मण नायक का विदूषक होता है।[1]

---

१. देखें—नाट्यशास्त्र, गायकवाड, २४. १६-२० :

धीरोद्धता धीरललितर धीरोदात्तास्तथैव च।
धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः॥
देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा।
एतेषां तु पुनर्ज्ञेयाश्चत्वारस्तु विदूषकाः॥
लिङ्गी द्विजो राजजीवी शिष्यश्चेति यथाक्रमम्।
देवक्षितिभृतामात्यब्राह्मणानां प्रयोजयेत्॥

काव्यमाला आवृत्ति में (२४.५) विदूषक के बारे में श्लोक नहीं है। काशी आवृत्ति में (३४.१६-२०) है लेकिन, 'लिङ्गानि ते वरज्वा शिष्टाश्चेति यथा-क्रमम्।' ऐसा अशुद्ध पाठ है।

बाद के शास्त्रकारों में रामचंद्र ने भरत का नियम दिया है लेकिन उसका स्पष्टीकरण थोड़ा सा अलग ही है। इसके अनुसार देवता का विदूषक तापस और ब्राह्मण का शिष्य-विदूषक होना योग्य है; लेकिन राजा नायक होने पर शिष्य के अलावा किसी भी प्रकार का विदूषक चल सकता है। वणिक् आदि नायकों के बारे में भी यह नियम ठीक है।[1]

भरत द्वारा बनाये गये नायक और विदूषक के भेद शारदातनय ने भी दिए हैं। लेकिन वह आगे कहता है कि नाट्यकथावस्तु के रसानुकूल नायक के प्रकार वैशिष्ट्य में कभी कभी बदल हो सकता है।[2] शारदातनय का यह कहना प्रत्यक्ष नाटक के संदर्भ में योग्य दिखायी देता है। भरत ने राजा को 'धीरललित' प्रकार का नायक माना है; शारदातनय उसे 'धीरोदात्त' मानता है। संस्कृत नाटक का नायक राजा प्रकृति से ललित होने पर भी उदात्त भी होता है। इसी के अनुसार शारदातनय के 'धीरललित' ठहराया अमात्य या सेनापति जाति का नायक भरत के अनुसार 'धीरोदात्त' प्रकार का है। भरत का यह वर्णन 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक के नायक महामंत्री यौगंधरायण पर लागू होता है। शास्त्र में धीरोद्धत यह देवता-नायक का वर्णन है, लेकिन प्राप्त-संस्कृत नाटकों को देखने पर यह वर्णन भास के दुर्योधन को या 'वेणीसंहार' के भीम को अर्थात् क्षत्रिय-नायक को लागू होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शास्त्र नियम का बारीकी से पालन करना आवश्यक नहीं है। कथावस्तु और रस के अनुसार नायक की प्रकृति में परिवर्तन लाने को नाटककार स्वतंत्र था।

शारदातनय के कथन से ऐसा लगता है कि नायक के अनुकूल विदूषक की प्रकृति में भी प्रसंगानुसार परिवर्तन करने का अधिकार नाटककार को रहा होगा।

---

१. देखें—स्निग्धा धीरोद्धतादीनां यथौचित्यं प्रियोगिनाम्।
लिङ्गी द्विजो राजजीवी शिष्याश्चैते विदूषकाः॥
नाट्यदर्पण (गायकवाड) ४.१६८। इसका विवरण ऐसा है, 'उचितस्त्र लिङ्गी देवतानाम्, ब्राह्मणस्य शिष्यः, राज्ञां तु शिष्यवर्जास्त्रयः, एवं वणिगादेरपि। (पृष्ठ १६६)

२. देखें—भाव प्रकाशन (गायकवाड), अधिकार ६. पृष्ठ २८१ :
देवा धीरोद्धता ज्ञेया धीरोदात्ता नृपादयः।
अमात्यसेनापतयो ललिताश्च स्वभावतः॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजश्च ये।
कथारसवशात्तेऽपि व्यत्यस्ताः स्युः क्वचित् क्वचित्॥
नायकनामथैतेषां चत्वारः स्युर्विदूषकाः।

इसके बारे में अभिनव का कथन समझ लेना कठिन है। क्योंकि नाट्यशास्त्र के प्रस्तुत श्लोक पर की हुई अभिनव भारती की टीक का पाठ अशुद्ध है।[1]

लेकिन रामचंद्र का स्पष्टीकरण भरत के नियम से भिन्न है। भरत के अनुसार राजा का विदूषक 'द्विज' है, रामचंद्र के अनुसार राजा का विदूषक 'शिष्य' छोड़कर किसी भी प्रकार का हो सकता है। यह कहना कठिन है कि यह अंतर केवल तात्त्विक ही है या रामचंद्र के सामने ऐसे भी नाटक रहे हों जिनमें विदूषक राजा के सहचर रहे हों। लेकिन प्रचलित संस्कृत नाटकों में राजा का विदूषक 'द्विज' अर्थात् ब्राह्मण ही दिखाया गया है।

विदूषकों के चारों प्रकारों को प्राप्त नाटकों में प्रत्यक्ष दिखाना कठिन है। इसके लिए दो कारण हो सकते हैं—एक तो बहुतेरे नाटक लुप्त हुए होंगे या फिर शास्त्र के विविध नियम होने पर भी नाटककारों ने अपने लेखन में निश्चित उदाहरणों को ही चुना होगा।

इस दृष्टि से देवता नायक और तापस विदूषक को पा नहीं सकते। अठारहवीं शताब्दी में (इ० स० १७११-१७२७) लिखा गया 'रतिमन्मथ' नामक एक नाटक है, जिसके नायक मन्मथ को देवता मान लेने पर भी उसका विदूषक तापस नहीं है, वह ब्राह्मण है। लेकिन इसे पहले ही सूचित किया गया है कि प्रारंम्भ में देवताविषयक नाटकों में शोभा देनेवाला विदूषक नारद ही है। नारद के सिवा तापस-विदूषक का मिलना कठिन ही है।

उसी प्रकार प्राप्त नाट्यसाहित्य में सेनापति-नायक नहीं मिलता। लेकिन अमात्य-नायक के दो उदाहरण मिलते हैं। एक तो 'मुद्राराक्षस' है लेकिन उसका नायक चाणक्य है और वह ब्राह्मण है। उसका एक शिष्य है लेकिन वह विदूषक नहीं है। सच कहना हो तो इस नाटक में विनोदी पात्र है ही नहीं। दूसरा उदाहरण है भास का 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक। इसका विदूषक मूलतः उदयन राजा का सहचर है। लेकिन उदयन प्रत्यक्ष रंगमंच पर नहीं आता है और विदूषक का साहचर्य यौगंधरायण के साथ होने से, इसे अमात्य विदूषक का उदाहरण मानने में कोई हर्ज नहीं है। इस नाटक का नायक निस्संदेह यौगंधरायण है। वह उदयन का मुख्य मंत्री है, अर्थात् वह अमात्य-नायक ही

---

१. देखें—'यथाक्रममिति क्रमिकमौचित्यमत्र यथोचितं योजना तद्यथा लिङ्गी, ऋषिः देवानां द्विजो वीरः सेनापते (?) राजा जीवी राज्ञः (?) शिष्यो ब्राह्मणस्य।' (नाट्यशास्त्र, गायकवाड आवृत्ति, खंड ३, पृष्ठ २५२) यह पाठ शुद्ध करके लेना हो तो ऐसा किया जा सकता है : '—द्विजो राज्ञः, वीरः, राजाजीवी (च) सेनापतेः (अमात्यस्य च)···।' मूल भरत का पाठ संदेहरहित है।

है। यहाँ का विदूषक ब्राह्मण है लेकिन उसे 'राजजीवी' कहा जा सकता है। क्योंकि विदूषक के नाते वसन्तक ने यद्यपि विनोद की शुरुवात की हो फिर भी यौगंधरायण की कूटनीति में, उदयन के साथ गुप्त संबंध रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य उसकी ओर रहा ही है। इसके अलावा यौगंधरायण को दूसरी प्रतिज्ञा लेने के लिए वही प्रवृत्त करता है। विदूषक के कार्य का यह राजनीतिक स्वरूप ध्यान में लेने पर उसे 'राजजीवी' कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

भरत द्वारा कल्पित चौथे नायक-प्रकार में ब्राह्मण और वणिक् आते हैं। इन दोनों का संगम 'मृच्छकटिक' के चारुदत्त में हुआ है। इस नाटक में विदूषक है; लेकिन वह 'शिष्य' न होकर 'द्विज' अर्थात् ब्राह्मण है।

इस चौथे प्रकार के नायक और विदूषक के उदाहरण प्राचीन नाटकों में नहीं मिलते, लेकिन वे प्रहसन में मिलते हैं। बोधायन कवि का 'भगवदज्जुकीय' नाम का प्रहसन है। इसके सम्पादक श्री अनुजन् अचन् और प्रस्तावक डा० विंटर निट्झ के मतानुसार यह प्रहसन भास और कालिदास के समय के आस-पास का है। इसमें परिव्राजक (भगवान) प्रमुख पात्र है और उसका शिष्य शांडिल्य है। शांडिल्य को विदूषक नहीं कहा गया है लेकिन उसका विनोद, अध्ययन में अरुचि, भुक्खड़पन, डरपोकपन आदि गुण विदूषक के ही होने के कारण उसे सहज ही विदूषक माना जा सकता है।[५] इसलिए इसको 'शिष्य' विदूषक का प्राचीन उदाहरण माना जा सकता है।

आगे के प्रहसनों में ऐसे कई और उदाहरण मिलते हैं। 'धूर्तसमागम' प्रहसन में[६] असज्जातिमिश्र नामक पुरोहित है। झगड़ों को मिटाना, श्राद्ध-कला करने के साथ ही वह वेश्याओं की मध्यस्थता और दूसरों की पत्नियों पर निगाह रखने का भी कार्य करता है। उसका शिष्य बन्धुवञ्चक गुरु के योग्य है। लेकिन उसे विदूषक के रूप में दिखाया है। और उसका व्यापार, खेती, अध्ययन आदि में मन नहीं लगता बल्कि वह लोगों को लूटने और जुआ खेलने में अपने को धन्य समझता है। आगे विश्वनगर और स्नातक, अनंगसेना नामक गणिका के बारे में अपना झगड़ा असज्जातिमिश्र की ओर ले

---

५. देखें—'भगवदज्जुकीय', सम्पादक, पी अनुजन् अचन्, दि पालियम् मॅन्युस्क्रिप्ट लायब्ररी, जयमंगलम्, १९२८ डा० विंटरनिट्झ की प्रस्तावना (पृष्ट ३)।

६. देखें—ज्योतिरीश्वरकृत 'धूर्तसमागम,' ॲन्थॉलॉजिआ संस्कृतिका, सम्पादक, सी, लासेन् बॉन् (जर्मनी) १८३८। डा० कीथ के 'संस्कृत ड्रामा', में इसका उल्लेख है (पृष्ठ २६१)। इस प्रहसन का काल इ० स० १४८७-१५०७ है।

आते हैं। उस समय यह पुरोहित उस गणिका पर अपना ही अधिकार बताता है। तब विदूषक बन्धुवंचक गणिका के कानों में कहता है कि पुरोहित बूढ़ा है, उसके पास पैसा भी नहीं है; स्नातक केवल कामेच्छा से प्रेरित हुआ है; इसलिए वह अपने यौवन का साफल्य अपने से ही (विदूषक से) प्राप्त करे। यह सब कुछ देखकर अनंगसेना को हँसी आती है और वह कहती है, 'फिर यहाँ तो धूर्तों के इकट्ठे (धूर्तसमागम) होने से फार्स हुआ है।'

खाडिलकर के 'विद्याहरण' में शुक्राचार्य और शिष्यवर की जोड़ी है। इसमें कोई शक नहीं कि शुक्राचार्य महत्त्वपूर्ण पात्र है और शिष्यवर का मदिराप्रेम और विनोद भी निर्विवाद हैं। लेकिन इसमें मतभेद हो सकता है कि यह विदूषक का परम्परागत दाय है या नहीं।

उपलब्ध संस्कृत नाटकों में हमेशा मिलने वाली परिचित जोड़ी राजा नायक और ब्राह्मण विदूषक की है। अन्य विदूषकों को ढूँढ़ने का प्रयास किया है; लेकिन उनके उदाहरण थोड़े ही हैं या बाद में निर्मित साहित्य में मिलते हैं। या तो शास्त्रकारों के सामने आये हुए नाटक आज उपलब्ध नहीं हैं या शास्त्रकारों ने तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करके, भेदों को बताकर नाटककारों को विकास की दिशा बतलायी होगी? राजनीतिक प्रभाव के कारण विदूषक का नमूना 'द्विज' ही अधिक लोकप्रिय हुआ होगा।

○○○

६. विदूषक के गुण

नायक के भेदानुसार विदूषक के चार भेदों के गुणों का वर्णन शारदातनय ने किया है। इस वर्णन के अनुसार देवता का विदूषक सत्यवक्ता, त्रिकालज्ञानी, योग्य और अयोग्य कृत्यों का अंतर जानने वाला, प्रश्न के दोनों पहलू कुशलता से समझाकर सामने रखनेवाला, वस्तुस्थिति से संबंधित बोलनेवाला होता है; उसे नाटक की पूर्ण जानकारी रहती है और परिहास द्वारा लोगों को हँसाने की कला प्राप्त होती है।[1]

इस प्रकार के विदूषक का उदाहरण नारद है। भास के 'अविमारक' और 'बालचरित' नाटकों में नारद का पात्र आ गया है लेकिन विदूषक के रूप में नहीं। यहाँ पर नारद ने खुद ही कलहप्रिय होना स्वीकार किया है। वह कहता है 'हर रोज वीणा पर जिस प्रकार स्वर निकालता हूँ उसी प्रकार संसार में अलग-अलग उपायों से झगड़े भी निर्माण करता हूँ।'[2] इसके अलावा 'देवासुरों के युद्ध के पश्चात्

---

१. देखें—भावप्रकाशन, अधिकार ६, पृ० २८१-८२ :

'नायकानामथैतेषां चत्वारः स्युर्विदूषकाः।
विदूषकस्तु देवानां सत्यवाक्च त्रिकालवित्॥
कृत्याकृत्यविशेषज्ञ ऊहापोहविशारदः।
यथादृष्टार्थवादी च नाट्यवित् परिहासकः॥'

२. देखें—अविमारक, ६.११ :

उत्पादयाम्यहरहर्विविधैरुपायै-
स्तन्त्रीषु च स्वरगणान्कलहांश्च लोके॥

आकाश मार्ग में नित्य की शान्ति निर्माण होने पर मैं ऊब जाता हूँ। उस समय वेदाध्ययन करने के बाद शेष समय में मैं वीणा के तारों को जिस तरह तानता हूँ उसी तरह वैर को भी दृढ़ करता हूँ।[१] बाद के 'रतिमन्मथ' नाटक में दिखाया गया है कि नारद शिष्य के साथ मन्मथ और शम्बूक का युद्ध देख रहे हैं। यहाँ नारद के उद्‌गार हैं 'हरिनाम के बाद अगर कोई दूसरी बात अच्छी लगती है तो वह देवासुरों का युद्ध देखना। और जब यह असंभव होता है तब 'प्रेमी दंपति का किसी बात पर बढ़ा हुआ झगड़ा, खाने की चीज़ के कारण बालकों की झट से होने वाली मारपीट या सींग को निकाल कर चौराहे में हल्ला करने वाला साँड ऐसे दृश्य मैं बड़े मजे के साथ देखता हुआ पृथ्वी पर भटकता रहता हूँ।'[२] इस या कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में ऊपर वर्णित नारद का अभिनय प्रत्यक्ष प्रसंग के रूप में चित्रित नहीं किया गया है। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि यह वर्णन नारद के स्वभाव से मिलने वाला है।

'सौभद्र' या 'कृष्णार्जुन' जैसे मराठी नाटकों में नारद का अवतार देखने को मिलता है। भास जैसे प्राचीन नाटककार के वर्णन से स्पष्ट होता है कि पुराण काल में निश्चित हुए नारद के स्वभाव विशेषता की पहले से ही जानकारी थी। शारदातनय का वर्णन भी नारद को सभी ओर से लागू होता है। दैवी पुरुष और तापसी होने से त्रिकाल-ज्ञान, कृत्याकृत्य को जानकर उसकी चर्चा करने की शक्ति, सत्यवादिता और वास्तविकता को लेकर बोलने की वृत्ति आदि गुण नारद के सिवा किसी अन्य विदूषक में होना असंभव है। नाट्य वेद को सुचारु स्वरूप देने का महत्त्वपूर्ण कार्य नारद ने किया है जिसका उल्लेख भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। इस कारण 'नाट्यविद्' यह गुण नारद में है ही। इतना ही नहीं, 'वेदविद्' ऐसा विदूषक का वर्णन शारदातनय ने जो अन्यत्र किया है[३] वह सिर्फ नारद के ही बारे में सत्य दिखता है। नारद कहता है

---

१. देखें—बालचरित. १.४ :

क्षीणेषु देवासुरविग्रहेषु नित्यप्रशान्ते न रमेऽन्तरिक्षे।
अहं हि वेदाध्ययनान्तरेषु तन्त्रीश्च वैराणि च घट्टयामि।

२. देखें—रतिमन्मथ, ४. २८ :

दम्पत्योरनुरक्तयोरपि मिषात् सम्पादितं वाक्कलिं
प्रक्रान्तं सहसा नियुद्धमथ वा भक्ष्योत्सुकैर्बालकैः।
उक्ष्णो वाथ चतुष्पथेऽभिपततो योद्धुं विषाणोद्धुरां
पश्यन्निर्वृतमानसोऽनवरतं हिण्डे महीमण्डले॥

३. भावप्रकाशन, अधिकार ८, पृ० २८९।

कि 'वेदगायन करके मैं ब्रह्मदेव को संतुष्ट करता हूँ।'[1] इसके साथ भास के बताये हुए दो गुण, कलहप्रियता और हँसी उड़ाना आ जाने से नारद का चित्र पूर्ण होता है। ऊपरी वर्णन से लगता है कि भास और शारदातनय की आँखों के सामने देवता के विनोदी सहचर से रूप में नारद ही रहा होगा। प्रारंभ में देवताविषयक नाटकों में प्रथम विदूषक के रूप में नारद की जो कल्पना की गयी उसको इस विवेचन से पुष्टि मिलती है।

राजा के विदूषक के गुण ऐसे हैं : सुसंस्कृत लोगों को भी हँसाने की पात्रता उसमें होती है; सुवर्ण और स्त्री के बारे में उसका बर्ताव शुद्ध होने के कारण वह रानी और परिजनों को प्रिय है; रनिवास में उसे प्रवेश होने के कारण वह ईर्ष्या उत्पन्न करके झगड़ा लगाता है; यह मार्मिक बोलनेवाला है; इस कारण प्रेम के झगड़े में वह रानी का कोप थोड़ा शांत कर सकता है; राजा और उसकी प्रेयसी में वह प्रेम और रतिनिर्माण करता है; और कभी-कभी जैसे वह उनका मिलन भी कराता है वैसे वियोग भी निर्माण करता है।[2]

प्राचीन नाट्यसाहित्य में प्राप्त विदूषक का ऊपरी वर्णन सामान्यतया ठीक लागू होता है। विदूषक की बात कई बार मार्मिक होती है और उसकी बात से विद्वान और विचक्षण लोगों को भी हँसी आती है। 'मालविकाग्निमित्र' में गौतम नृत्य प्रसंग में मूर्ख के समान बकता है, लेकिन उसके उद्गार इतने अनपेक्षित हैं कि पंडित कौशिक को हँसी आती है, मालविका मुस्कराती है। विदूषक राजा के साहचर्य में दूसरों की या खुद राजा का जो उपहास करता है उसमें ज्यादातर मार्मिक अवलोकन रहता है, चातुर्य रहता है। राजा का अंतरंग साथी होने से विदूषक के लिए रनिवास का द्वार खुला रहता है। उसके विनोदी स्वभाव के कारण राजमहल के सभी लोगों को, रानी और उसकी दासियों को भी इसका साहचर्य अच्छा लगता है। लेकिन कभी-कभी

---

१. अविमारक, ६.११ : 'वेदैः पितामहमहं परितोषयामि।'

२. भावप्रकाशन, उपरिनिर्दिष्ट :

विदूषकस्तु भूपानामग्राम्यपरिहासकः।
अर्थिषु स्त्रीषु शुद्धश्च देवीपरिजनप्रियः॥
ईर्ष्याकलहकारी स्यादन्तःपुरचरः सदा।
नर्मवित् प्रणयक्रोधे देव्याः किञ्चित्प्रसादकः॥
भूपतेर्भोगिनीनां च मिथः प्रीतिं रतिं तथा।
क्वचिच्च घटयत्येव क्वचिद्विघटयत्यपि॥
विदूषकश्च भूपानामेवमादिगुणो भवेत्।

दासियाँ विदूषक की पेटू वृत्ति से उसकी हँसी उड़ाती हैं, या 'शाकुंतल' नाटक में जैसा दिखाया गया है उसी प्रकार सभी दासियाँ विदूषक को घेर लेती हैं और उसकी खिल्ली उड़ाती हैं। लेकिन विदूषक का साहचर्य अच्छा लगने के कारण ही ये सारी बातें घटती हैं। रनिवास में ईर्ष्या तथा झगड़े निर्माण करने का विदूषक का जो स्वभाव है उसे हम तभी जान सकते हैं जब नाटककार कथावस्तु में वैसे प्रसंगों को गूँथता है। लेकिन ये विशेषताएँ हमें गौतम के उदाहरण से सहज दिखायी देती हैं। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में गणदास और हरदत्त नाट्याचार्यों में गौतम झगड़ा लगाता है। इसी के परिणामस्वरूप और मालविका के बारे से ईर्ष्या निर्माण होकर बड़ी रानी धारिणी और छोटी इरावती दोनों भी चिढ़ जाती हैं। 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक में वसंतक कहता है कि दयालु पद्मावती, उसे भाती है। इससे उसके साथ अज्ञात वेश में होनेवाली वासवदत्ता का चिढ़ जाना स्वाभाविक ही है। रानी का क्रोध मिटाने का कार्य गौतम करता हुआ दिखता है। प्रमदवन में मालविका और अग्निमित्र को साथ देखकर इरावती चिढ़ती है। उस समय गौतम उस पर परदा डालने का प्रयत्न करते हुए अग्निमित्र को उसकी क्षमा मांगने को सूचित करता है। धारिणी जब चिढ़कर मालविका को समुद्र गृह में छिपाकर रखती है तब गौतम सर्पदंश के नाटक से धारणी को ही संकट में लाकर, युक्ति से उससे राजमुद्रा प्राप्त करके मालविका को मुक्त करता है। अंत में इन दोनों रानियों को अपना क्रोध व्यर्थ दिख पड़ता है। अग्निमित्र को मालविका प्राप्त करा देने के लिए गौतम ने हर प्रकार से उसकी मदद की है। इस दृष्टि से प्रेमप्रसंग में राजा को विदूषक की सहायता होती ही रही है।

यह सहायता किस प्रकार की है और कितनी है आदि विदूषक के चरित्र-चित्रण पर अवलंबित हैं क्योंकि नाटककार ने भी कभी-कभी विदूषक की मूर्खता से नायक नायिका को एक दूसरे से क्षण भर दूर जाते हुए दिखाया है। माणवक को पुरूरव्य का उर्वशी-प्रेम पसंद नहीं है। शकुंतला के प्रेम में फँसने के कारण माढव्य दुष्यंत की हँसी उड़ाता है। मैत्रेय ने अनेक बार चारुदत्त को गणिका के पीछे न पड़ने का उपदेश दिया है। कुरंगी और अविमारक जब एकांत में थे तब संतुष्ट पागल जैसा वहीं रुक कर उनकी विचित्र अवस्था बना देता है और जब तक दासी उसका हाथ पकड़ कर खींच नहीं ले जाती तब तक वह वहीं खड़ा रहता है। स्वप्नवासवदत्त नाटक में विदूषक का उदयन से पूछना कि 'आपको कौन सी रानी प्रिय है?' भी इसी कोटि का है क्योंकि उत्तर देने से पद्मावती या वासवदत्ता में से एक का मन अवश्य दुखेगा। तात्पर्य यह कि विदूषक, जैसे राजा की सहायता करता है वैसे कभी-कभी अपनी मूर्खता से या उपहास के रूप में नायक और नायिका में वियोग भी उत्पन्न करता है।

अमात्य आदि तीसरे प्रकार के नायक के विदूषक के गुण इस प्रकार हैं: इसकी बातें अश्लील होती हैं; पतिपत्नियों के गुनाहों को वह प्रकट रूप से कहता है; खाने पीने का विधि-निषेध उसको नहीं है; वह मर्म पर हाथ रखकर विनोदी बातें करता है, स्वार्थ के लिए या प्रयोजन के लिए वह अपना स्नेह व्यक्त करके स्त्रियों की प्रणयपूर्ति में सहायता करता है; उसका भाषण अधिकतर परिहासात्मक होता है और उसे परिहासात्मक बातें ज्यादातर पसंद आती है।'[1]

इस प्रकार के विदूषक का उदाहरण सिर्फ 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' नाटक का वसन्तक ही है। उसके संभाषण में एक ग्राम्य उपमा आ गयी है। उसे भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं हैं; क्योंकि मदिरा में तैयार किए गये आटे के लड्डू खाने की उसकी तैयारी थी। वह स्पष्ट कहता है कि उदयन बंधनागार में पड़कर छूटने का प्रयत्न करने के बदले वासवदत्ता के साथ प्रेम कर रहा है और यौगंधरायण को उदयन का सहचर न बनने की सलाह देता हैं। इस नाटक में विदूषक का सम्बन्ध प्रेम प्रकरण या स्त्री के साथ कहीं भी नहीं आता, इस कारण यह गुण छोड़कर बाकी के सभी गुण वसन्तक के चित्रण में आये हैं।

वणिग्-नायक के विदूषक का गुणवर्णन ऐसा है : यह धूर्त है; उसका वेश; उसका शरीर और उसके बोलने की पद्धति सभी में कुरूपता दिख पड़ती है। उसके विनोद और रंगमंचीय अभिनय में कुरूपता, अश्लीलता है।[2]

---

१. भावप्रकाशन, उपरिनिर्दिष्ट :

अश्लीलवाक्च दम्पत्योरपराधं व्यनक्ति च ॥
भक्ष्याभक्ष्यप्रियो नित्यं मर्मस्पृङ् नर्म वक्ति च।
अर्थलाभे प्रीतिदानं रमयत्येव भोगिनीः ॥
परिहासप्रायवाक्यः परिहासकथारुचिः।
एवमादिरमात्यादेर्विदूषकगुणक्रमः ॥

'अर्थलाभे' इसके दो अर्थ हो सकते हैं : विदूषक अपना स्नेह दिखाता है यह भोगिनियों की प्रेम में सहायता है (प्रीतिदानं) वह भी कुछ स्वार्थ से (अर्थ = द्रव्य), या ऐसा करने से उसका हेतु सिद्ध होता है। (अर्थ = प्रयोजन, हेतु)।

२. भावप्रकाशन, उपरिनिर्दिष्ट :

शठो विरूपवेषश्च विरूपाङ्गवचक्रमः ॥
विरूपपरिहासश्च विरूपाभिनयान्वितः ॥
इत्यादिभिर्गुणैर्युक्तो वणिजश्च विदूषकः।

'मृच्छकटिक' का चारुदत्त वणिग् नायक है, और मैत्रेय उसका विदूषक है जिसके लिए यह वर्णन लागू नहीं होता ।मैत्रेय का विनोद हाजिरजबाबी है साथ ही गणिकाओं की वह काफी हँसी उड़ाता है। लेकिन मैत्रेय को 'शठ' कैसे कहा जा सकता है ? और बाह्य रूप या वेष की कुरूपता मैत्रेय में होना भी असाधारण वैशिष्ट्य नहीं है। सभी नाटककारों ने शारीरिक विकृति और पर्याय से वेष की विचित्रता को विनोद-निर्मिति का एक आवश्यक अंग मानकर अपने विदूषक में उसका प्रयोग किया है ।

अन्य शास्त्रकारों ने विदूषक के प्रकार तथा भेदानुसार गुणवर्णन न। करके सामान्यतः विदूषक के गुण ही बताये हैं।

उदाहरण के लिये भरत ने बताया है कि शारीरिक विकृति के साथ विदूषक हाजिरजबाब है। यह विदूषक का स्वाभाविक गुण कहा जा सकता है। इसके सिवा उसकी वृत्ति विनोदी होकर उसका बोलना मार्मिक विनोद में फूट निकला हुआ लगता है। उसके भाषण का ही गुण है।[1]

रुद्र भट्ट ने काव्य प्रबन्ध के सम्बन्ध में विदूषक के गुणों का वर्णन किया है। विनोद और क्रीड़ा में सहायता देनेवाले तीन प्रकार के 'नर्मसचिव' नायक के पास होते हैं ! वे हैं पीठमर्द, विट और विदूषक । नर्मसचिव के पास कुछ बातें छिपा रखने की पात्रता चारित्र्य की शुद्धता, प्रभावी और मार्मिक बोलने का ढंग, विश्वासी और प्रणय में रूठी हुई स्त्री को मनाने की चातुरी आदि गुण हों। नायक और नायिका के साथ पीठमर्द हमेशा रहता है। विट साहित्य या कला जैसी एक विद्या में पारंगत रहता है। विदूषक

---

१. देखें—नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, ३५.२५ :

प्रत्युत्पन्नप्रतिभो नर्मकृता नर्मगर्भनिर्भेदैः ।
छेदविभूषितवदनो विदूषको नाम विज्ञेयः ।।

काशी, ३५.७१ का पाठ थोडा अलग हैं,

प्रकृत्युत्पन्नप्रतिभो नर्मकृता नर्मगर्भनिर्भेद्यः ।
यस्तु विभूषितवचनो विदूषको नाम विज्ञेयः ।।

'पहले विशेषण का अर्थ 'हाजिरजबाब' या 'मूलतः तेज बुद्धिवाला' है। 'मर्मकृता' दूसरा पद कृत् = कृति संज्ञा का तृ० ए० व० माना जा सकता है। निर्भेद का अर्थ है फूटकर निकलना, outburst. विदूषक की कृति से और बातों से विनोद बरसता रहता है। इसलिए वह 'निर्भेद्य, है—अंतर्गत विनोद से फूटकर निकलनेवाला है। 'विभूषितवचनः' इस पाठ में विदूषक की 'बातें' (मार्मिक विनोद से) सजी हुई, ऐसा अर्थ होता है ।

स्वच्छन्द वृति का होता है; अपने शरीर, वेष और भाषण के द्वारा वह हँसीनिर्माण करता है। अपने विनोद के काम में वह सिद्धहस्त रहता है।[1]

अग्निपुराण में ऊपर बताये जैसा ही वर्णन है। साथ ही कहा है कि पीठमर्द, विट और विदूषक श्रृंगारप्रकरण में नायक के नर्मसचिव के रूप में साथ रहते हैं; नायक को स्त्री प्राप्त करने में पीठमर्द की मदद मिलती है; विट धनवान होता है और साथ ही नायक के नगर का ही होता है, और नायक नायिकाओं से भेदानुरूप विदूषक हास्यनिर्मिति में कुशल होता है।[2]

धनंजय ने नायक के सहचरों में विदूषक की गिनती की है। उसका कार्य हँसाना ही है। उसका विकृत-रूप, वेश आदि सब हास्य के लिए पोषक होते हैं।[3]

---

१. देखें—रुद्रभट्ट, शृङ्गारतिलक, १.२६-३१ :

अथ नर्मसचिवलक्षणम्।
गूढमन्त्रः शुचिर्वाग्मी भक्तो नर्मविचक्षणः।
स्यान्नर्मसचिवस्तस्य कुपितस्त्रीप्रसादकः॥
पीठमर्दो विटश्चापि विदूषक इति त्रिधा।
स भवेत्*प्रथमस्तत्र नायिकनायकानुगः॥
एकविद्यो विटः प्रोक्तः कीडाप्रायो विदूषकः।
स्ववपुर्वेषभाषाभिर्हास्यकारी च नर्मवित्×॥

[पाठन्तरः *संभवेत् × कर्मवित्, स्वकर्मवित्.]

२. अग्निपुराण, अध्याय ३३९, श्लोक ३९-४० :

पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः।
शृंगारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः॥
पीठमर्दो सम्भलकः श्रीमांस्तद्देशजो विटः।
विदूषको वैहासिकस्त्वष्टनायकनायिकाः॥

(सम्भलक—'शंभली' अर्थात् स्त्री की प्राप्ति करा देने वाली औरत, procuress; 'सम्भलक' अर्थात् इसी प्रकार का पुरुष।)

३. दशरूपक, २.९ : 'हास्यकृच्च विदूषकः।' टीका में कहा है : 'हास्यकारी विदूषकः। अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते।'

सागरनन्दी कहता है कि राजा का मित्र और सहचर ही विदूषक है। राजा के रनिवास में वह भटकता है और उसे विनोद का मंत्री कहा जाता है।[1]

शारदातनय ने विदूषक का वर्णन कहीं अन्यत्र भी दिया है। उसके अनुसार विदूषक कुरूप है और नायक का विनोद मंत्री भी। वह स्वभाव से बातूनी है; नायक और नायिका में झगड़ा उत्पन्न होने पर उसे आनन्द आता है, वह भोजनप्रिय है; लेकिन साथ ही वह सभ्य है, अपने काम को वह ठीक रूप में जानता है, सभी भाषाओं से वह परिचित है और वह सभी को हँसाता है, सच-झूठ बातें करने का विधि-निषेध उसमें नहीं है, उसे वेद का ज्ञान है, मार्मिक विनोद मालूम है, और वह यह भी जानता है कि चतुर्विध नर्मविनोद का प्रयोग कैसा किया जाय।[2]

विश्वनाथ ने शृङ्गारप्रकरण में नायक के सहाय्यक के रूप में विट, चेट, विदूषक आदि को बताया है। ये विश्वासी, चरित्र से शुद्ध, नर्मभाषण में प्रवीण और कुपित बधू को नर्म बनाने वाले होते हैं। ऐसे विदूषकों का नाम कुसुम, वसन्त जैसा होता है

---

१. नाटकलक्षणरत्नकोश पृ. ६२, पंक्ति २१६६-२२०० :
   वयस्यकः सहचरः स एव विदूषकः।
   अन्तःपुरचरो राज्ञां नर्मामात्यः प्रकीर्तितः॥
   [विक्रमोर्वशीय अंक २ (निर्णयसागर आवृत्ति १६१४, पृ. २६) में ऊपरी अवतरण देते समय रंगनाथा ने अपनी टीका में 'सहचर' के बदले 'चाटुपटुः' ऐसा पाठ लिया है। इसका अर्थ 'बातूनी और होशियार' या 'मार्मिक बातों में चतुर' ऐसा होगा।]

२. भावप्रकाशन, अधिकार ६ (अनुक्रम, पृष्ठ २४४, पंक्ति ६, पृ. २७७, पंक्ति १७-२०; पृ. २८६, पंक्ति ४-५) :
   (१) नेतुः स्यान्नर्मसचिवो विरूपस्तु विदूषकः।
   (२) स्वाभावचपलो नेतुः प्रियायाः कलहप्रियः।
   दक्षिणः कार्यविच्चैव सर्वदा भोजनप्रियः॥
   सर्वभाषाविकल्पज्ञः सर्वेषां परिहासकः।
   सत्यासत्यवचोवक्ता पण्डितः स्याद्विदूषकः।
   (३) तदात्वप्रतिभो नर्मचतुर्भेदप्रयोगवित्।
   वेद विन्नर्मवेदी यो नेतुः स स्याद्विदूषकः॥

और वह अपनी कृति, शरीर, वेश और भाषण के योग से हास्य निर्माण करने वाला और झगड़ों को चाहने वाला और अपने काम में होशियार होता है।[1]

शिङ्गभूपाल द्वारा किया गया वर्णन भी इसी प्रकार है। और उसने शृङ्गार नायक के सहाय्यक के गुण ऐसे दिए हैं : देश और काल का ज्ञान, बोलने में माधुर्य, विदग्धता, नायक को प्रेम में प्रोत्साहन देने की कुशलता, उसी प्रकार सत्य वृत्तान्त बताने की और कुछ बातें छिपा रखने की वृत्ति।[2]

विदूषक के बारे में बताते समय उसका हास्यनिर्मिति का मुख्य गुण ही भरत के मन में सामान्यतया रहा है। लेकिन अन्य शास्त्रकारों ने विदूषक के प्रकार भेदों को यद्यपि प्रस्तुत नहीं किया है फिर भी उनकी दी हुई गुणों की सूची देखने पर एक विशिष्ट सन्दर्भ में, अर्थात् मुख्यतः शृङ्गारसप्रधान सुखात्मक नाटकों के नायक के सहचर के रूप में ही, उन्होंने विदूषक को माना है क्योंकि ऐसे सन्दर्भ में विदूषक के विविध गुणों के प्रकट होने की संभावना है। रामचन्द्र ने भरत की तरह नायक के अनुसार विदूषक के भी चार भेद बताये हैं, और शृङ्गार प्रकरण में होने वाले झगड़े को मिटाना या झगड़े का निर्माण करना, और विरहावस्था में नायक को विनोद उपलब्ध कर देना आदि गुण सामान्यतया वर्णित हैं।[3] अन्य शास्त्रकारों को ये भेद अमान्य होने पर विदूषक के विविध गुणों की संगति बिठाना कठिन है।

ऊपर वर्णित गुणों में से कुछ ही गुण संस्कृत नाटक के विदूषक के चित्रण में मिलते हैं। विदूषक का सब से महत्त्वपूर्ण गुण माना गया है—विनोदी और मार्मिक

---

१. साहित्यदर्पण, ३. ४०, ४२ :

शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः।
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः॥
कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः॥

२. रसार्णवसुधाकर १. ८६, ९२, ९३ :

अथ शृङ्गारनेतृणां साहाय्यकरणोचिताः।
निरूप्यन्ते पीठमर्दविटचेटविदूषकाः॥
अथ सहायगुणाः।
देशकालज्ञता भाषामाधुर्यं च विदग्धता॥
प्रोत्साहने कुशलता यथोक्तकथनं तथा।
निगूढमन्त्रतेत्याद्याः सहायानां गुणाः मताः॥

३. देखें :—नाट्यदर्पण ४. १६३, विवरण पृष्ठ १९९

भाषण। ऐसे भाषण के लिए चातुर्य की जरूरत है। इस दृष्टि से गौतम, मैत्रेय के जैसे विदूषक विदग्ध या विद्वान हैं। वेदज्ञान का गुण केवल नारद में मिलता है। अन्य विदूषकों के बारे में यह केवल उपहास का विषय बना है।

नायक के सहचर के रूप में विदूषक के लिए अंतःपुर का द्वार खुला रहता है, और धन तथा स्त्रियों के बारे में उसका बर्ताव निष्कलंक है। प्रहसन का नाट्यप्रकार छोड़ देने हर अन्यत्र कहीं भी विदूषक का चरित्र कलंकित नहीं है।

नायक का अन्तरंग मित्र होने के कारण उसके प्रेम प्रकरण का रहस्य विदूषक को मालूम रहता है, और नायक भी इस बात में उसकी सलाह लेते हैं या उसकी सहायता की अपेक्षा रखते हैं। विदूषक की नायक को भरसक सहायता मिलती है। इस कारण गौतम या 'प्रियदर्शिका' के वसन्तक का निद्रा में नायक के प्रेम को प्रकट करना, माणवक का उर्वशी का लिखा हुआ प्रेमपत्र खो देना, या मैत्रेय का नींद में बड़बड़ाकर वसन्तसेना के अलंकार ठीक शर्विलक के हाथों में ही देना आदि उदाहरण विश्वासघात के नहीं हैं। इनके द्वारा विदूषक की मूर्खता दिखाकर कथा को विनोदी मोड़ देने का नाटककारों ने प्रयत्न किया है।

विदूषक की स्वामिभक्ति सभी नाटककारों को मान्य है। विदूषक की मूर्खता से इस परस्पर स्नेह में न बाधा आती है, न उसके प्रमाद से इस मित्रता में अन्तर आता है। विदूषक के बातूनी स्वभाव के कारण ही दुष्यन्त ने उसे अपने प्रेम प्रकरण से दूर रखने को सोचा, या जीमूतवाहन ने तापसव्रत स्वीकार करने के कारण विदूषक की उपेक्षा की; फिर भी ऐसे बर्ताव से नायक और विदूषक की मित्रता में अन्तर नहीं आया। इसके विपरीत कुछ नाटककारों ने इस परस्पर स्नेह का अति उदात्त चित्रण किया है।

नायक और विदूषक के परस्पर सम्बोधन के बारे में भरतकृत नियम से ऐसा दीख पड़ता है कि नायक और विदूषक का गाढ़ स्नेह भरत को मान्य था।[1] नियम ऐसा है कि विदूषक राजा को 'वयस्य' या 'राजन्' से सम्बोधन करे और राजा विदूषक को उसके नाम से या 'वयस्य' कहकर सम्बोधन करे। ठीक इसी नियम का अनुवाद अप्रत्यक्ष

---

१. देखें—वयस्य राजन्निति वा भवेद् वाच्यो महीपतिः ॥
विदूषकेण राज्ञी च चेटी च भवतीत्यपि।
नाम्ना वयस्येत्यपि वा राज्ञा वाच्यो विदूषकः ॥
नाट्यशास्त्र : गायकवाड, १७. ८१-८२; काव्यमाला, १७. ८०-८१; काशी, १६. १७-१८।

रीति से सागरनंदी ने[1] और प्रत्यक्षरीति से रामचन्द्र[2] और शिङ्गभूपाल ने[3] किया है। संस्कृत नाटककारों ने केवल इस नियम का पालन ही नहीं किया है बल्कि इस सम्बोधन में अभिप्रेत परस्पर स्नेह भी दिखाया है।

विदूषक बातूनी है यह स्पष्ट है। बातूनी वृत्ति ही उसके विनोद और हास्य-निर्मिति का प्रमुख साधन है। इसमें कहीं अतिरेक हुआ हो तो आश्चर्य नहीं है। विदूषक के इस बातूनी स्वभाव के कारण ही उदयन के सामने प्रश्न आ गया कि वह पद्मावती की अपेक्षा वासवदत्ता से अधिक प्रेम करने की बात विदूषक को बतायें या न बतायें। दुष्यन्त के सामने भी ऐसा ही प्रश्न आता है। 'शाकुन्तल' के दूसरे अंक के अन्त में विदूषक को बिदाई देते समय दुष्यन्त ने विदूषक को उद्देश्यकर ही 'चपल' विशेषण का प्रयोग किया है। शारदातनय द्वारा किये गये गुणवर्णन में यह गुण पाया जा सकता है।[4]

ऊपर गौतम के उदाहरण से विदूषक की कलहप्रियता दिखायी गयी है। कुछ नाटककारों ने विदूषक और दासी के परस्पर झगड़े को चित्रित किया है। अश्वघोष के नाटक में गणिका और विदूषक का झगड़ा है। राजशेखर ने अपने नाटक में विदूषक और दासी के झगड़े का वर्णन किया है।

संस्कृत नाटक में नायक और विदूषक का सम्बन्ध प्रमुखतः प्रेमप्रकरण के संदर्भ में ही आता है। शास्त्रानुसार विदूषक इस बात में नायक का 'सहाय' है। लेकिन नाटककारों ने सहायता करते समय विनोदनिर्मिति की दृष्टि से विदूषक द्वारा गलतियाँ करायी हैं। इसलिए कुपित वधू को शांत करने का जो गुण विश्वनाथ ने बताया है एकाध गौतम जैसे उदाहरण में प्रत्यक्ष दिखता है लेकिन उसका तात्पर्य वाच्यार्थ के

---

१. देखें—नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ ६२, पंक्ति २१६६।
'वयस्यकः सहचरः स एव विदूषकः।'

२. देखें—नाट्यदर्पण, ४. २०२, (पृष्ठ २११-२१२) :
'मान्यो नामान्तरै राजा लिङ्गिनाऽथ विदूषकैः।
वयस्योऽप्यधमैर्भट्टो लोकैर्देवेति भूपतिः॥'
इसका और इसके बाद के श्लोक का विवरण ऐसा दिया है :
'विदूषकैः पुनर्भूपतिर्वयस्यशब्देन अपिशब्दाद्राजन्शब्देन च।
वयस्य-सखीत्यादयो मित्राख्याः ताभिर्विदूषको राज्ञा सम्भाष्यः।'

३. देखें—रसार्णवसुधाकर, ३. ३१२ (पृष्ठ ३०१) :
'विदूषकेण तु प्रायः सखे राजन् इतीच्छया।...'

४. देखें—ऊपरी १५ वीं टिप्पणी।

लेने में कोई उपयोग नहीं है। शारदातनय का दिया हुआ नियम देख लेने पर यह गुण प्रमुखतः पीठमर्द का दिखायी देता है।[1]

इस दीर्घ विवेचन का एक उद्देश्य तो यह है कि विदूषक का स्वभाव चित्रण ठीक तरह से समझ में आवें और साथ ही शास्त्र और प्रयोग का परस्पर साम्य और भेद स्पष्ट होने में सहायक हो। नाटककारों ने शास्त्रनियमों का पालन किया हो या प्रत्यक्ष उल्लेख न किया हो फिर भी इन साम्य स्थानों के बारे में स्पष्टीकरण देते समय कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों ने अपने सामने नाट्यसाहित्य को रखकर ही नियम तैयार किये होंगे। लेकिन शास्त्र और प्रयोग इनका विरोध आश्चर्यकारक है। उसका स्पष्टीकरण देते समय अलग अलग कारणों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। विदूषक की पात्रनिर्मिति में किन गुणों का अन्तर्भाव होना चाहिए इसे शास्त्रकारों ने तात्विक दृष्टि से ही बताया होगा; और ऐसा करते समय उनके मन में केवल नाटक ही नहीं बल्कि काव्य प्रबन्ध भी रहें होंगे। ग्रंथ देखने पर रुद्रभट्ट का वर्णन काव्यरचना के साथ आया हुआ स्पष्ट दिखायी देता है। प्रणयलोलुप स्त्रियों को सहायता करने का या प्रेमकलह को मिटाने के लिए समझौता कराने का जो विदूषक का गुण शास्त्र में दिया है वह नाटक में दिखायी देने पर भी उसे सामाजिक या काव्य प्रबन्ध के संदर्भ में समझा जा सकता है। इस प्रकार के विदूषक का चित्रण जिस साहित्य में आया होगा वह आज अप्राप्य है ऐसा कहना पड़ता है।

लेकिन दूसरा विचार ऐसा भी आता है कि शास्त्रों का आदर करने पर भी नाटककार को रचनास्वातंत्र्य भी रहा होगा। उन्होंने सर्वमान्य संकेतों का यद्यपि पालन किया हो फिर भी खुद की कल्पना के अनुसार नयी निर्मिति भी की होगी। इसके सिवा नाट्य का संविधानक, उसकी घटना या प्रसंग के अनुरोध से विदूषक के चित्रण में किन गुणों की योजना करनी होगी इसका विचार करना भी अपरिहार्य है।

ऐसा मानने की कोई जरूरत नहीं है कि शास्त्रकार द्वारा दिये गये गुण किसी एक विदूषक को लेकर हैं। शृङ्गारनायक के सहायक के रूप में विदूषक के अलावा पीठमर्द, विट, चेट आदि पात्र होते हैं। नाटक में विदूषक में दिखायी न देने वाले गुण अन्य पात्रों के माने जा सकते हैं।

इसलिए, शास्त्र और प्रयोग को एक सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ ही है। शास्त्र का ठीक ठीक पालन करने की जिम्मेदारी किसी भी ललित लेखक पर नहीं हो सकती और शास्त्रकारों को भी ऐसी अपेक्षा नही रही होगी।

● ● ●

---

१. देखें—भावप्रकाशन, पृष्ठ ६४, पंक्ति ५ :
'स पीठमर्दो विश्वास्यः कुपितस्त्रीप्रसादकः।'

१०.

विदूषक की भूमिका और कार्य—(१)

भरत के नाट्यशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन करने पर दिखायी देता है कि यद्यपि विदूषक का सामान्यतः रङ्गमंच पर एक ही मुख्य कार्य होता है फिर भी भरत ने उसको और विविध कार्य सौंप दिया है।

(१) प्रायोगिक भूमिका : पूर्वरंग का नट

भरत मानता है कि सूत्रधार और पारिपार्श्विक के साथ विदूषक भी नटमंडली का एक आवश्यक अंग है। प्रत्यक्ष नाटक प्रारंभ होने के पहले पूर्वरंग नामक विधि में नट के नाते विदूषक का एक आवश्यक कार्य था। पूर्वरंग के जिस भाग में विदूषक का अभिनय रहता था उसे 'त्रिगत' नाम दिया गया है। पूर्वरंग के १९ भागों में 'त्रिगत' १७ वाँ भाग है; और नाम के अनुसार इसमें तीनों का संवाद है। पूर्वरंग के कुछ अंग परदे के पीछे किये जाते थे तो कुछ प्रेक्षकों के सामने ही। त्रिगत प्रेक्षकों के सामने होता था और उसमें सूत्रधार, पारिपार्श्विक और विदूषक तीनों का सूत्रक और अंशतः विनोदी संवाद प्रस्तुत किया जाता था। सूत्रधार और उसके साथी रंगमंच पर पहले से ही होते हैं। ऐसे समय झट से वहाँ विदूषक प्रकट होता है। असंबद्ध निवेदनयुक्त भाषण करता है। इससे सूत्रधार हँसता है। लेकिन विदूषक की बातें चलती ही रहती हैं क्योंकि अब पारिपार्श्विक के साथ बात करने लगता है; बीच में ही उसे रोकता है; सांकेतिक भाषा में बातें करता है; 'ऐसा कौन है ?' 'किसकी उन्नति हुई ?' आदि प्रश्न पूछता है; पारिपार्श्विक के विधानों में दोष दिखाकर उसे टोकता है; और अंत में सूत्रधार उनके बीच में पड़कर खुद को क्या कहना है उसका स्पष्टीकरण देता है और प्रस्तुत कार्य को पूरा करता है। इस प्रकार सूत्रधार और पारिपार्श्विक की बातों में व्यत्यय लाकर,

पारिपार्श्विक के विधान पर विदूषक आक्षेप करता रहता है, तभी सूत्रधार बीच में आकर प्रस्तुत कार्य की सिद्धि करता है; इस प्रसंग के तीनों के संवाद को त्रिगत नाम दिया है।[1]

यह वर्णन बहुत ही संदिग्ध है। लेकिन इसकी कल्पना करना भी कठिन नहीं कि यहाँ क्या घटित होता होगा। नृत्त, संगीत, नांदी गाय आदि अंशतः धार्मिक और अंशतः प्रेक्षक के मनोरंजन के लिए नियोजित अंग प्रस्तुत करने पर सूत्रधार और पारिपार्श्विक उसी दिन प्रस्तुत करने वाले प्रयोग के बारे में बातचीत करते लगते हैं। इतने में अचानक विदूषक आता है और पहले ही असंबद्ध बातें करके हँसी उत्पन्न करता है और पारिपार्श्विक के दोष गिनने लगता है। भरत के 'काव्यप्ररूपिणी' शब्द से ऐसे लगता है कि विदूषक की बातों का संपूर्ण नाटक से सम्बन्ध होगा। बाद के नाटकों में जहाँ विदूषक को नाटक में काम करना पड़ता है जिसकी वह शिकायत करता है। लेकिन सूत्रधार ने जो नाटक प्रस्तुत करने का निश्चय किया है उस पर सामान्यतः विदूषक के आक्षेप होते हैं। पारिपार्श्विक कहे कि 'आज हम एक नया नाटक खेलने वाले हैं।' विदूषक झट से कहेगा 'रहने दो······कौन ऐसा बड़ा नाटककार है? कस्तिष्ठति ?' पारिपार्श्विक सामान्य शब्दों में नये नाटक की और उसके लेखक की बड़ाई गाने लगता है और अभिनय के यश के बारे में बोलने लगता है। उस पर विदूषक फिर कहता है, 'हमें मालूम है। पिछड़ी बार क्या हुआ था? किसकी जीत हुई (जितं केन)? किसकी हँसी होने की बारी आयी थी?' अंत में सूत्रधार इस वाद में आकर नये नाटक के बारे में कहता है; और प्रेक्षकों को वह प्रयोग पसन्द आयेगा ऐसी आशा करके और विदूषक के आक्षेपों का निराकरण करके आगे कार्य शुरू करता है; यही त्रिगत का

---

१. देखें—तथा च भारती भेदे त्रिगतं सम्प्रयोजयेत् ॥
विदूषकस्त्वेकपदां सूत्रधारस्मितावहाम् ।
असम्बद्धकथाप्रायां कुर्यात् कथनिकां ततः ॥
वितण्डां गण्डसंयुक्तां नालीकं च प्रयोजयेत् ।
कस्तिष्ठति जितं केनेत्यादिकाव्यप्ररुपिणीम् ।
पारिपार्श्विकसञ्जल्पो विदूषकविदूषितः ।
स्थापितः सूत्रधारेण त्रिगतं सम्प्रयुज्यते ॥

नाट्यशास्त्र : गायकवाड, ५. १३७-१४१; काव्यमाला, ५. १२४-१२५ (यहाँ ऊपरी प्रथम तीन पंक्तियों से मिलने वाली बातें हैं) : काशी, ५.१३६-१३८ (यहाँ ऊपरी पाँच पंक्तियाँ हैं, चौथी पंक्ति में 'नालीकं' के बदले 'नामिकां' पाठ भेद है); घोष का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ १३७-१४१।

का स्वरूप है। इसमें नाटक, नाटककार और अभिनय के संबंध में तीनों का स्थूल दृष्टि से संवाद होता है और उसमें विदूषक दोष दिखाकर, प्रश्न पूछकर और अभिनय द्वारा हास्यनिर्माण करता है। पूर्वरंग के त्रिगत के बाद का अंग 'प्ररोचन' होता हैं। इसमें नाटक और नाटककार का प्रेक्षकों से परिचय कराया जाता है और उसे नाटक की ओर रसिकता के साथ ध्यान देने के लिए प्रार्थना की जाती है। यह ध्यान में लेने पर त्रिगत के उद्दिष्ट पर प्रकाश पड़ता है और इन दोनों अंगों का भेद स्पष्ट होता है। दोनों अंगों का उद्देश्य नाटक और नाटककार का प्रेक्षकों से परिचय करना होता है फिर भी प्ररोचन में नाटक का नाम बताकर नाटककार के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी दी जाती है। इसके विपरीत त्रिगत में सब भाषा स्थूल होती है; और विदूषक के विनोदी आक्षेपों से जैसे एक ओर प्रेक्षकों को हँसाया जाता है, उसी प्रकार उनका कौतूहल भी जाग्रत किया जाता है। प्रेक्षकों की यह उत्कंठा प्ररोचन में प्रत्यक्ष नाम बताकर पूर्ण की जाती है। आज के विज्ञापन और वृत्तपत्र के युग में इस प्रस्तावना की महत्ता समझना कठिन है। लेकिन प्राचीन काल में प्रकाशन के साधनों के अभाव में कौन-सा नाटक है, नाटक-कार कौन है, आदि प्रश्न प्रेक्षक के सामने रहे होंगे; और उनका सही उत्तर देने का उत्तरदायित्व सूत्रधार और उसकी नटमंडली पर आ पड़ा। इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए त्रिगत और प्ररोचना, पूर्वरंग के इन दो अंगों का प्रयोग होता था। उसमें से त्रिगत में स्थूल भाषा में और विनोद के आश्रय से नाटक और नाटककार के बारे में प्रेक्षकों में कौतूहल निर्माण किया जाता था; और झट से प्ररोचना में उनका पूर्ण परिचय दिया जाता था। इतना हो जाने के बाद नाटक प्रारंभ होता था।

ऐसा दिखता है कि पूर्वरंग के इस अंग में भरत की दी हुई 'त्रिगत' संज्ञा से हमेशा विदूषक भी रहता था। अन्यथा उसे 'तीनों का' संभाषण कैसे कहा जा सकता है? बाद की 'प्ररोचना' सूत्रधार को नहीं, पारिपार्श्विक या विदूषक की सहायता से करना होता है।[1] अर्थात् प्ररोचन में विदूषक का कार्य ऐच्छिक होता है।

---

१. देखें—नटी विदूषको वापि पारिपार्शिवक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैरन्यथापि वा।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावना तु सा॥
नाट्यशास्त्र : गायकवाड, २०. ३०-३१; काव्यमाला, २०. २८-२९; काशी, २२. २८।
ऊपरी श्लोकों पर अभिनव की टीका इस प्रकार है।

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

वास्तव में विदूषक नाटकमंडली का एक अंग और सूत्रधार का सहायक जैसा है। अभिनव कहता है कि यदि पारिपार्श्विक विदूषक का वेष पहनकर उसके बोलने की पद्धति को अपनाता है तो वही विदूषक बनता है।[1] रामचंद्र ने भी विदूषक का वेष ओढ़े हुए पारिपार्श्विक को विदूषक ही कहा है।[2] "शारदातनय के अनुसार सूत्रधार, नट, नटी, पारिपाश्विक और विदूषक नाटक के लिए आवश्यक होते है।[3] प्ररोचन के संबंध में भरत के इस नियम का अनुवाद अग्निपुराण में रामचन्द्र और विश्वनाथ ने अपने-अपने ग्रंथों में किया है। रामचन्द्र इस अंग को 'आमुख' कहता है।[4] अग्निपुराण-कर्ता,[5] और विश्वनाथ[6] भरत का अनुवाद करके 'आमुख' और 'प्रस्तावना' ऐसे दो नाम देते हैं। शिगभूपाल ने[7] इसे 'स्थापना कहा है.।

उपर्युक्त शास्त्र विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं: विदूषक नट मंडलियों का आवश्यक अंग था। और उस पर पूर्वरंग का एक विशिष्ट कार्य सौपा गया था।

प्ररोचन में विदूषक की आवश्यकता नहीं थी; फिर भी कुछ नाटकों के प्रारंभ की प्रस्तावना में विदूषक का उल्लेख है और पहले अंक का आरम्भ विदूषक के प्रवेश से होता है। यहाँ प्रस्तावना में विदूषक प्रत्यक्ष आता नहीं। फिर भी सूत्रधार द्वारा जान

'वा-शब्देन व्यस्तानां नटीप्रभृतीनां सूत्रधारेण सङ्घातमाह।
......एव शब्दः सूत्रधारस्यावश्यंभावं दर्शयति।'
नाट्यशास्त्र, गायकवाड, खण्ड ३, पृष्ठ ६२।

१. नाट्यशास्त्र, ५. २९ पर अभिनवभारती :
'विदूषक इति : पारिपार्श्विकयोरन्यतरो विदूषकवेषभाषाचारी विदूषकः'
(गायकवाड, खण्ड १, पृष्ठ २२१)

२. नाट्यदर्पण, ३. १०५ का विवरण (पृष्ठ, १५३) :
'पारिपार्श्विक एव विदूषकवेषधारी विदूषकः।'

३. भावप्रकाशन, अधिकार १० (पृष्ठ २८७, पंक्ति, १८-२०) :
'सूत्रधारः प्रथमतो नटः पश्चात्ततो नटी॥
स पारिपार्श्विकः पश्चात्ततस्ते च कुशीलवाः।
विदूषकेण सहिता नाट्यकर्मोपयोगिनः॥'

४. नाट्यदर्पण, ३. १०५ (गायकवाड, पृष्ठ १५३)।

५. अग्निपुराण, ३३८. ५. ११-१३।

६. साहित्य दर्पण, ६. ३१-३२।

७. रसार्णवसुधाकर ३. १६० (त्रिवेंद्रम, पृष्ठ २७२)।

बूझकर किया गया प्राकृत का प्रयोग और भोजन के आमंत्रण देने के लालच से विदूषक से परदे की ओट से किया हुआ संप्राषण आदि बातें प्राचीन नाट्यपद्धति के द्योतक माने जा सकते हैं।

बाद में महादेव कवि के 'अद्भुतदर्पण नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार और विदूषक का संवाद है। विदूषक मूल रोमांथक नामक एक नट है; और उस पर नाटक में रावण के काम सचिव का—महोदर नाम के विदूषक का—अभिनय सौंपा गया है। पहले ही यथेच्छ मोदक खिलाकर सूत्रधार ने उसे खुश किया है। फिर भी विदूषक शिकायत करता है कि नटों के दुर्दैव से उन्हें भोजन करते ही नाचना पड़ता है। लेकिन सूत्रधार जब उसे आश्वासन देता है कि उसकी ओर सिर्फ भाषण करने का कार्य है और उसका प्रवेश काफी देर से (पाँचवे अंक में) है तब विदूषक साँस लेकर उतनी देर तक सोने के लिए चला जाता है।

पण्डित जगन्नाथ के 'रतिमन्मथ' नाटक में भी विदूषक प्रस्तावना में एक बार झाँक-कर जाता है। नान्दी, प्रस्तावना आदि समाप्त करके सूत्रधार जब यह बताने वाला ही रहता है कि खुद वह कौन सी भूमिका करने वाला है तब इतने में एक नट रंगमंच पर आता है और घोषित करता है कि खुद विदूषक की भूमिका करने वाला है। यहीं प्रस्तावना समाप्त होकर पहला अंक शुरू होता है।

केरल रंगमंच पर 'करट्टु' नामक नाट्य प्रस्तुत करने का काम विदूषक की ओर होता है। इस नाट्यदर्शन में प्रस्ताविक बातें हो जाने पर तीसरे दिन विदूषक का प्रवेश होता है, और फिर आगे तीन दिनों तक पुरुषार्थ पर विनोदी पद्धति से उसका प्रवचन शुरू करता है। कोकण के देहातों में नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करते समय प्रस्तावना के सूत्रधार की भूमिका अधिकतर विदूषक ही करता है। कम से कम उसका विनोदी प्रवेश आवश्यक माना जाता है।

भरत द्वारा संकल्पित पूर्वरंग बहुत विस्तृत और उलझा हुआ है। यह स्पष्ट विदित होता है कि बाद में जैसे जैसे अधिकाधिक अभिनय योग्य नाटक प्रचार में आते गये और अच्छा नाटक तैयार करने की जिम्मेदारी पूर्ण रूप से नाटककारों ने अपनी ओर ली तभी के पूर्वरंग का महत्त्व आप ही आप घटता गया। भरत को इस वस्तुस्थिति की कल्पना होगी ही। इसलिए भरत ने ऐसी सूचना दी है कि नान्दी जैसा आवश्यक अंग

रखकर अन्य अंग विस्तार से प्रस्तुत करके खुद न थके और प्रेक्षक को भी न उबाये।[१] नाटककार जब नान्दी, प्रस्तावना, नाटक और नाटककार का परिचय आदि प्रारंभ की आवश्यक बातें खुद ही लिखने लगा तब आप ही आप नटमंडलियों की जिम्मेदारी कम होती गयी और उन्होंने भी लम्बा सा पूर्वरंग करने की पद्धति को छोड़ दिया। अधिकतर सभी संस्कृत नाटकों में नान्दी के बाद सूत्रधार के मुँह से प्रथम 'अलमतिविस्तरेण' यह वाक्य निकल पड़ता है। यह अतिविस्तार' शब्द पूर्वरंग को ही उद्देश्य कर होगा। इस नये सुधार से पूर्वरंग के त्रिगत और प्ररोचना की आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि, नाटककार खुद ही प्रस्तावना लिखता था। इसलिए बहुतेरे नाटकों में विदूषक का पात्र प्रारंभ में ही लाना नाटककार को आवश्यक न लगा होगा। इसे हम पहले देख चुके हैं कि कुछ नाटककारों ने अपनी प्रस्तावना में विदूषक की योजना की है। इस सुधार का पूर्ण अमल होने के पहले बीच के समय में त्रिगत-प्ररोचनादि अंग सूत्रधार की करने ही लगे होंगें और उसमें विदूषक भी अवश्य आता रहा होगा। लेकिन यह भाग नटमंडलियों का होने के कारण नाटक के हस्तलिखित में उसका उल्लेख न मिलना स्वाभाविक ही है।

इस विवेचन से यह मालूम होता है कि नाट्यपद्धति में यद्यपि बदल होता गया फिर भी पूर्वरंग में विदूषक का कार्य यही रहा। इतना हीं नहीं तो, आगे चलकर संस्कृत नाटकों में और केरल या अपने देशी रंगमंच पर प्रारंभ की नाट्यप्रस्तावना में विदूषक दिखायी देता है, यह पद्धति एकदम नयी नहीं है, यह त्रिगत-प्रारोचना की ही परंपरागत दाय है, या इसे पुरानी पद्धति का ही देशी रूप कहा जा सकता है। नट के रूप में पूर्वरंग में विदूषक की भूमिका और कार्य क्या होता है इसकी अब कल्पना आ सकती है।

२. नाटक में भूमिका : नायक का सहचर

नाट्यशास्त्र से स्पष्ट होता है कि विदूषक केवल पूर्वरंग में भाग लेने वाला नट

---

१. देखें—कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र नृत्तगीतविधिं प्रति।
गीतवाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽतिप्रसङ्गतः॥
खेदो भवेत् प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकाणां तथैव च।
खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते॥
ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत्।
नाट्यशास्त्र : गायकवाड, ५. १६५-१६७, काव्यमाला, ५. १४६-१४८, काशी ५. १८०-१८२।

न होकर नाटक का पात्र भी होता है। नाटकीय पात्रों के दैवी संरक्षण के उद्देश्य से भरत ने कहा है :

'इन्द्र नायक का संरक्षण करता है, सरस्वती नायिका की रक्षा करती है, ओंकार विदूषक की रक्षा करता है, अन्य पात्रों की रक्षा शिव करता है।'[1]

इस श्लोक पर अभिनव की टीका इस प्रकार है, प्रमुख पात्रों की रक्षा के लिए अलग-अलग प्रार्थना करना ही ठीक है। इसीलिए भरत ने नायक आदि पात्रों का अलग उल्लेख किया है। विदूषक का जानबूझ कर यहाँ उल्लेख इसलिए किया जाता है कि वह हास्य और शृंगार का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी वचन में नाटक के दस प्रकारों की सूचना भी है, क्योंकि 'समवकार' जाति के नाटक में विदूषक नहीं होता।[2]

भरत का ऐसा विधान है कि शृङ्गार रस से हास्य का निर्माण होता है; अर्थात् शृङ्गार रस के तत्व के साथ हास्य सम्बन्धित है।[3] शृङ्गार और हास्य का सम्बन्ध नायक और विदूषक का परस्पर 'वयस्य' से सम्बोधन करने का नियम, और नायक के अनुरूप विदूषक की योजना की सूचना आदि के कारण नाटकीय पात्र के रूप में विदूषक की भूमिका निश्चित की हुई दिखाई देती है। शृंगारप्रधान सुखांत नाटक के नायक के सहचर के रूप में ही विदूषक का पात्र चित्रित किया हुआ मिलता है।

भरत के वचन का अनुवाद बाद के शास्त्रकारों ने किया है।[4] अग्निपुराण में पीठमर्द और विट के साथ विदूषक को नायक का सहचर कहा है और उसे शृंगार रस

---

१. देखें—'नायकं रक्षतीन्द्रस्तु नायिकां तु सरस्वती।
विदूषकमथोङ्कारः शेषास्तु प्रकृतीर्हरः॥
नाट्यशास्त्र, गायकवाड, १. ९६-९७, काव्यमाला, १. ९३, काशी, १. ९७-९८ घोष, १. ९६।

२. नाट्यशास्त्र, गायकवाड, खण्ड १ (पृष्ठ ३३) :
'प्रधानपात्राणि पृथग्रक्षणीयानीत्याह नायकमिति। हास्यशृङ्गाराङ्गत्वाद्विदूषकमित्युक्तम्। अत एव दशरूपप्रयोगसूचनमेतत्। समवकारे विदूषकाभावात्।'

३. देखें—'शृङ्गाराद्धि भवेद् हास्यो…।
शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।'
नाट्यशास्त्र : गायकवाड, ६. ४४, ४५, काव्यमाला, काशी, ६. ३९, ४०।

४. देखें—'शृङ्गाराद् जायते हास्यो…।' अग्निपुराण, अध्याय ३३९, श्लोक ८.
'ततः शृंगारानुगामित्वाद् हास्यः…।' रामचन्द्र, नाट्यदर्पण : विवरण, पृष्ठ १६३।

के दर्शन में 'नर्मसचिव' ऐसी संज्ञा दी है।[१] सागरनन्दी विदूषक को 'नर्म-अमात्य' कहता है।[२] रामचन्द्र ने कहा है कि शृंगार प्रकरण में प्रेम के झगड़े निर्माण करने का और उन्हें मिटाने का तथा विरहावस्था में नाटक के दुःख को विनोद के आश्रय से कम करने का कार्य विदूषक करता है।[3] शारदातनय ने विदूषक का वर्णन 'कामसचिव' और 'नर्मसचिव' के रूप में किया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि विदूषक शृङ्गार प्रकरण में और विनोदनिर्मिति में भाग लेता था।[४] विश्वनाथ और शिङ्गभूपाल ने नायक का 'सहाय' सहायक के रूप में विदूषक का वर्णन किया है।[५]

'प्रकरण' जाति का नाटक छोड़ देने पर उपलब्ध प्राचीन संस्कृत नाटकों में अधिकतर राजा को नायक के रूप में दिखाया है और नाटक का मुख्य विषय प्रेमकथा होता है। इस कारण नायक के सहचर के रूप में राजा को प्रेमप्राप्ति में मदद करने का कार्य आप ही आप विदूषक की ओर आ गया। इस दृष्टि से यह देखना आवश्यक है कि नाटक के संदर्भ में विदूषक किस प्रकार अपनी भूमिका को प्रकट करता है। यह भूमिका द्विविध दिखाई देगी : प्रेमपूर्ति में सहायता और विरहावस्था में विनोद।

१. प्रेमपूर्ति में सहायता

प्रणयप्रधान संस्कृत नाटकों में राजा के सहचर के रूप में विदूषक नायक की सहायता करता है। उसके अलग अलग प्रकार हैं।

(अ) नायिका की प्राप्ति

कई बार नायक को विदूषक से इतनी सहायता मिलती है कि विदूषक के कर्तृत्व फल के रूप में नायिका की प्राप्ति होती है। इसके एक सुन्दर उदाहरण के रूप में 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के गौतम का कार्य और उसकी भूमिका दी जा सकती

---

१. प्रकरण ६, टिप्पणी २ देखें। पृष्ठ ६२।
२. प्रकरण ६, टिप्पणी २ देखें। पृष्ठ ६३।
३. प्रकरण ७, टिप्पणी १ देखें। पृष्ठ ७६।
४. देखें – भावप्रकाशन, अधिकार ४, पृष्ठ ६३, पंक्ति २१-२२ :

एते स्युः कामसचिवाः पीठमर्दो विटस्तथा।
विदूषकश्च सख्यादिपरिवारेण संयुतः॥

इसके अलावा प्रकरण ६, टिप्पणी २ देखें—पृष्ठ ६३।

५. प्रकरण ६, टिप्पणी १,२ देखें—पृष्ठ ६४।

है। अग्निमित्र और मालविका के प्रथम मिलन के लिए नाट्याचार्यों में झगड़ा निर्माण करने से लेकर अन्त तक ज्येष्ठ रानी मालविका का हाथ राजा के हाथ में देती है सारी घटनाओं की योजना गौतम ने की है। प्रेमियों के मिलन के लिए वह अलग अलग मार्गो का अवलंबन करता है, धारिणी और इरावती का क्रोध शान्त करता है; असूया से कारागार में रखी गयी मालविका की मुक्ति असामान्य युक्ति से करता है; और इस प्रकार पूर्ण विरोध और अनपेक्षित अड़चनों का परिहार करके अग्निमित्र और मालविका का विवाह करा देता है और राजा को प्रणयपूर्ति का सम्पूर्ण समाधान प्राप्त करा देता है। इन सब घटनाओं में, शास्त्रों में उल्लिखित नय और निपुणता के गुण गौतम में प्रकर्ष के साथ दिखायी देते हैं। 'कामतन्त्र सचिव' अर्थात्' 'प्रेम विभाग का मन्त्री, के रूप में रानी ने चिढकर गौतम का जो वर्णन किया है वह उस पर ठीक ही लागू होता है।

(आ) प्रेम में उत्तेजन :

गौतम का कर्तृत्व सभी विदूषकों में दिखायी देना कठिन है फिर भी प्रेम में फँसे हुए नायक को उत्तेजन देने का कार्य अधिकतर विदूषक ही करता है। नायक विदूषक को अन्तरंग मित्र होने के कारण अपने विश्वास में लेकर प्रेम को प्रकट करता है। ऐसे समय पर नायिका के बारे में या प्रेम के बारे में मनचाही बातें करने के लिए विदूषक उत्तेजन देता है। वह हमेशा नायक के साथ रहकर नायिका से जहाँ मिलन हो सकता है ऐसी जगहों में नायक को ले जाता है। कभी-कभी दोनों के मिलन के प्रसंगों का निर्माण करता है।

उदाहरण के लिए, प्रेम की सफलता में अनेक अड़चनें दिखाई देते हुए भी संतुष्ट अविमारक के, कुरंगी के प्रेम को उत्तेजित करता है। नायिका के महल में प्रवेश प्राप्त करने के साहस की प्रशंसा करता है। रात के समय उसके साथ नगर में जाता है और रात ज्यादा होने तक उसे सुरक्षित स्थल में गुप्त आश्रय देता है। माढव्य दुष्यन्त को जान-बूझकर शकुन्तला के बारे में बोलने के लिए बाध्य करता है। अपने प्रेम के समर्थन में जैसे दुष्यन्त उत्साह से बातें करने लगता है और जैसे जैसे उसके मन में होने वाली तीव्र भावनाओं का प्रकटीकरण होने लगता है वैसे कालिदास का काव्य भी भर-भर के बहने लगता है। श्रीहर्ष के दोनों उदयन नाटकों में विदूषक का ऐसा ही कार्य है। 'रत्नावली' का विदूषक राजा को कदलीगृह में ले जाता है, वहाँ उन्हें चित्रफलक मिलता है, और थोड़ी देर में ही नायिका मिलती है। नाट्यप्रयोग के समय नायिका और राजा की भेंट होने के लिए, नायिका की सखी अपनी भूमिका राजा को देने की जो गुप्त चालाकी करती है, उसमें विदूषक का हाथ है। यह बात अलग है कि यह

चालाकी पहले ही प्रकट हो जाती है। 'प्रियदर्शिका' नाटिका में भ्रमर को हटाने के लिए आगे होने की सूचना राजा को विदूषक ही देता है और उसके फलस्वरूप डरी हुई नायिका राजा को अपनी सहचरी मानकर उसके बाहुपाश में पड़ती है। नाटक में नायक और नायिका का मिलन कराने की चालाकी यहां भी स्पष्ट है। 'नागानन्द' नाटक का नायक प्रारंभ में तापसव्रती है जिसके कारण उसे प्रेम के लिए उत्तेजित करके विवाह के लिए प्रवृत्त करने का मौका आत्रेय को सहज ही प्राप्त हुआ है। 'विद्ध-शाल भञ्जिका' नाटक में विदूषक चारायण राजा को मकरंदोद्यान और क्रीडा-पर्वत की ओर ले जाता है। वहाँ एक शिल्प प्रतिमा में अपने स्वप्न की सुन्दरी दिखायी देती है, यह स्वप्नसुन्दरी ही प्रत्यक्ष नायिका है, वही स्फटिक की दीवार के पीछे खड़ी होती है और इस समय उसकी राजा से भेंट होती है।

(इ) कुपित वधू का प्रसादन :

संस्कृत नाटक का नायक बहुपत्नीक होने से यहाँ पर नायक के नये प्रेम प्रकरण के साथ दूसरा एक अपरिहार्य प्रश्न निर्माण होता है और वह है रानी या रानियों का क्रोध शांत करने का। ऐसे कठिन प्रसंगों के समय राजा को अपने सहचर की सहायता की बहुत आवश्यकता प्रतीत होती है।

संस्कृत नाटकों की घटनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि ऐसे नाज़ुक प्रसंगों से नायक को मुक्त करना विदूषक को कठिन होता है। नायक-नायिका की प्रणयारा-धना के समय जब रानी सामने आ जाती है तब स्थिति संभालने के लिए विदूषक बात बनाता है,·बलपूर्वक विनोद निर्माण करता है, या प्रसंग को बदलकर उसे निराला ही स्वरूप देने का प्रयत्न करता हैं, और इतने पर भी रानी चुप नहीं होती है तो राजा को, उससे क्षमा मांगने के लिए कहता है या खुद ही राजा की ओर से क्षमा माँगता है। विदूषक के ये हमेशा ही के मार्ग हैं। अग्निमित्र अशोक वृक्ष के पास मालविका से प्रणय याचना करता रहता है और इतने में अचानक रानी इरावती प्रमदवन में आती है। ऐसे समय गौतम जैसा हाजिरजबाब विदूषक भी सँभल नहीं पाता और उसे नौ दो ग्यारह होने के सिवा दूसरा कोई भी मुक्ति-मार्ग नहीं दिखता है।

सभी विदूषकों को लगता है कि नायिका से प्रेम करते समय सफलता प्राप्त करने के लिए पहली रानी का गुस्सा ठंडा करके उसकी सहानुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। उसी प्रकार कुछ विदूषक नायक को सर्वप्रथम रानी को खुश रखने की सलाह ज़ान-बूझकर देते हैं। लेकिन कुछ रानी को शांत करने की विदूषक की जो भूमिका है वह कालिदास के नाटकों में जितनी स्पष्ट दिखायी देती है इतनी अन्यत्र

कहीं भो नहीं। गौतम को अनेक युक्तियों का प्रयोग करके धारिणी का सब विरोध दूर करना पड़ता है, सर्पदंश या नाटक करके उसको ब्रह्महत्या की आपत्ति में फँसाकर अपने पक्ष में कर लेता है। इरावती का भी क्रोध उसके हाजिरजवाबी के कारण ज्यादह देर तक नहीं टिकता। माढव्य जैसा मूर्ख विदूषक भी दासियों से पीटे जाने की संभावना होने पर भी दुष्यंत के आग्रह से हंसपदिका के समाधान के लिए उसके महल में जाता है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का माणवक भी जो राजा का उर्वशी के प्रति होते वाला मोह दूर करने का आश्वासन दासी के द्वारा रानी को देता है। शायद उसमें रानी को प्रसन्न करने का ही उद्देश्य रहा होगा।

(ई) विरोधी वृत्ति :

लेकिन कुछ नाटकों में विदूषक की सहायता या नायक की पहली पत्नी के प्रसादन का प्रश्न नहीं आता। 'अविमारक' और 'नागानंद' नाटक के नायक इतने तरुण हैं कि उनकी पहली पत्नी नहीं है। 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक में माना जाता है कि ज्येष्ठ रानी वासवदत्ता अग्निदाह में जल गयी है और वह संपूर्ण नाटक में वेश बदल कर घूमती रहती है जिससे उसके क्रोध को शांत करने का प्रत्यक्ष प्रसंग कहीं पर आता ही नहीं। उसी प्रकार उदयन का विवाह पद्मावती से निश्चित सा घटित होने से वहाँ भी विदूषक की प्रेम में सहायता करने की भूमिका नहीं रही। 'मृच्छकटिक' नाटक की धूता इतनी उदार है कि वसंतसेना के बारे में ईर्ष्या पैदा होने को बात उसके मन को छू तक नहीं पायी है।

'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक का प्रश्न कुछ अलग है। यहाँ विदूषक मुख्यतः अमात्यनायक का सहचर है। इसलिए उदयन की वासवदत्ता के साथ शुरू हुई प्रणयाराधना अमात्य की प्रतिज्ञा पूर्ति में रोड़े अटकाती दिखती है और इस भूमिका से वह उदयन के प्रेम का विरोध करता है।

इसके विपरीत 'विक्रमोर्वशीय' का माणवक पुरुरव्य के प्रेम के बारे में प्रारम्भ से नाराज है। राजा ने उसे अपने विश्वास में लेकर उर्वशी के बारे में कहा है और इस प्रेम रहस्य को गुप्त कैसे रखा जाय इस विचार से वह बेचैन है। दासी द्वारा रहस्य प्रकट होने पर रानी के समाधान के लिए वह राजा के मन को परिवर्तित करने को तैय्यार है। 'शकुन्तला' का माढव्य दुष्यंत से अनेक प्रश्न पूछकर उसके प्रेम के बारे में शंका प्रकट करता है। आगे चलकर दुष्यंत इस प्रेम-प्रकरण से विदूषक को दूर रखना चाहता है। वसंतसेना से चारुदत्त का मन पराङ्मुख करने के लिये जब-जब मौका प्राप्त होता है मैत्रेय उसे सजग करता है। वसंतसेना के बारे में बोलते समय मैत्रेय की जीभ रुकती

ही नहीं। इन सब उदाहरणों में ऐसा दिखता है कि नायक का प्रणय इतना दृढ़ है कि अंत में विदूषक को अपना विरोध छोड़ना पड़ता है।

लेकिन रानी के बारे में सामान्यतया विदूषक की भूमिका रानी से दूर रहने की ही है। 'स्वप्नवासवदत्ता' का विदूषक वासवदत्ता के क्रोध से डरता है। हर्ष के 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' के विदूषक इसी कारण से रानी से डरते हैं। प्रेमपूर्ति में राजा की मदद करते समय उन्हें रानी के कोप से कारागृह में जाना पड़ा है। 'शाकुन्तल' के माढव्य ने राजा के अंतःपुर को कालकूट की या शिकारी के जाल की जो उपमा दी है उससे विदूषक की विरोधी-वृत्ति का कारण समझ में आता है।

(२) विरहावस्था का विनोद

प्रेम में सफलता प्राप्त होने तक या कुछ कारणों से नायिका से वियोग हो जाने पर नायक को विरहावस्था का कठिन दुःख सहना पड़ता है। इस विप्रलंभ-शृङ्गार में नायक को विदूषक का साहचर्य अधिक उपकारक होता है। विदूषक नायक की प्रेमयातनाओं को कम करके प्रियमित्र के समान दुःख के समय में उसका साथ देता है। वह अन्य विषयों या दृश्यों की ओर नायक का ध्यान आकृष्ट कर उसे अपना दुःख भुलाने के लिए बाध्य करता है, मनोरंजन की या धीरता की बातों से उसके मन का तनाव कम करता है; और इस प्रकार विनोद का साधन निर्माण करके सच्चे मित्र के समान नायक का साथ देता है।

शास्त्र में सुझायी हुई यह भूमिका संस्कृत नाटकों में पूर्ण रूप से देखने को मिलती है। नायिका की प्राप्ति में विदूषक की सहायता न मिली हो; कुपित रानी को वह प्रसन्न कर सकता हो; लेकिन विरह-यातनाओं को सहन करने के बारे में नायक को विदूषक की सहायता जरूर हुई है। प्रेमपीड़ा या नायिका के विरह में संस्कृत नाटक का नायक अपने विदूषक को साथ लेता है; और विदूषक भी इधर-उधर की बातों से या उपदेशों से या अन्य मार्गों से क्षण-भर भी क्यों न हो नायक का मनोरंजन किये बिना या उसका दुःख कम किये बिना नहीं रहता।

इस विषय में विदूषक का हमेशा का एक उपाय यह है कि नायक को राज-महल के निकट के प्रमद वन में ले जाना, वहाँ के सौंदर्य स्थलों की ओर या ऋतु-कालीन वनश्री की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करना और उसे अपनी प्रेमयातनाओं को क्षणभर भुलाने के लिए बाध्य करना। कई बार विदूषक नायक को जान-बूझकर नायिका के बारे में बताने के लिए कहता है। नायक जब तन्मयता में अपनी प्रेयसी का वर्णन करने लगता है तब उसके मन का तनाव आप ही आप कम हो जाता है।

माढव्य इस तरह बोलने के लिए और शकुन्तला का चित्र खींचने के लिए दुष्यन्त को उत्तेजित करता है; भास का वसंत सीधा-उलटा सुनाकर उदयन से मजे की बातें कहने लगता है। नायक की शंकाओं का समाधान करके उसे धीरज देना नायिका की प्राप्ति या पुनर्मिलन का आश्वासन देना, या उस दृष्टि से सहायता करने की तैयारी दर्शाना आदि प्रकार की बातें तो विदूषक करता ही रहता है। सांत्वना के ये उपाय करते समय बीच में ही असंबद्ध बातें करके या अनपेक्षित उद्गारों से हँसी लाकर विनोद निर्माण करना तो विदूषक का बायें हाथ का खेल है।

विरह की इस अवधि में विदूषक की नायक को प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त होकर उसमें से कुछ भी निष्पन्न न होने पर भी, उन दोनों के परस्पर स्नेह की गवाही ऐसे ही प्रसंगों द्वारा मिलती है। जान-बूझकर प्रेम प्रकरण से विदूषक को दूर रखने वाला दुष्यन्त शकुन्तला के विरह में दुःख से छुटकारा पाने के लिए माढव्य को साथ लेता है। अविमारक को संतुष्ट की गाढ़ी मित्रता की याद आती है। जीवन मृत्यु के प्रसंग के समय चारुदत्त मैत्रेय को बुलाता है। ये उदाहरण इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य हैं।

विदूषक की स्वामिभक्ति को विशेष गुण के रूप में शास्त्रकारों ने ध्वनित किया है। लेकिन इस भक्ति या स्नेह की परिसीमा जानने के लिए हमें संस्कृत नाटकों की ओर मुड़ना पड़ेगा। सभी विदूषक केवल विनोदी या मूर्ख नहीं हैं। नाटकों में बलात् सिर्फ हँसी निर्मिति के लिए उन्हें नही लाया गया है। वास्तव में वे ही नायक के सुख-दुःख में हाथ बँटा सकते हैं। 'रत्नावली' के 'वसन्तक' सन्तुष्ट और मैत्रेय के चरित्र-चित्रण को देखने पर मानव की उदारता की सीमा कल्पित की जा सकती है। विदूषकों के ये चित्र नायक के लिए प्राणत्याग करने वालों के हैं। उदार मानवता का यह चित्रण संस्कृत नाटककारों की स्वनिर्मिति है।

(३) लोकप्रिय भूमिका : विनोदी पात्र

पूर्वरंग में या नाटक की भूमिका करते समय विदूषक का मुख्य कार्य विनोद के आश्रय से हास्यनिर्मिति ही करना है। भरत ने कहा है कि शृङ्गार रस के चित्रण में विदूषक की आवश्यकता है और वह चतुर, हाजिरजवाब होता है।[१] अग्निपुराण में विदूषक को 'वैहासिक' शब्द से संबोधित किया है।[२] रामचंद्र कहता है कि विदूषक

१. देखें, प्रकरण ६, टिप्पणी १ पृष्ठ ६१।
२. देखें, प्रकरण ६, टिप्पणी २ पृष्ठ ६२।

'हास्य का निमित्त' है।[1] धनंजय, शारदातनय और विश्वनाथ उसका वर्णन 'हास्य उत्पन्न करने वाला, हँसाने वाला' शब्दों में करते हैं।[2] जब शास्त्रकार कहता है कि विदूषक 'अपने काम में होशियार' रहता है तब उन्हें विनोद-निर्मिति के बारे में ही कहना होता है।[3]

विनोदनिर्मिति के लिए विदूषक का प्रयोग स्वाभाविक रूप में किया जाता है।[4] भरत का कहना है कि अपनी बड़ाई से, या सरल प्रसंग में अपनी बातों से या कृति से विकृति लाकर हास्यकारक रंगभूषा के कृत्रिम साधनों से जो विनोद विदूषक निर्माण करता है उसका प्रेक्षकों द्वारा खुले दिल से स्वागत किया जाय।[5]

---

१. देखें—'तत्राद्यो विदूषको हास्यनमित्तं भवति।'
नाट्यदर्पण ४. १६७ का विवरण।

२ देखें—'हास्यकृच्च विदूषकः।' दशरूपक, २. ८;
'सर्वेषां परिहासकः।' भावप्रकाशन, ८; पृष्ठ २७७ पंक्ति १६;
'हास्यकारः' ''साहित्यदर्पण ३.४२।
रुद्रभट्ट ने (शृंगारतिलक, १.४१) और शिङ्गभूपाल ने (रसार्णवसुधाकर १.९२) 'हास्यकारी' शब्द का प्रयोग किया है।

३. देखें—साहित्यदर्पण ३.४२; 'स्वकर्मज्ञः' ऐसा पद यहाँ होकर उसका अर्थ काणे आवृत्ति में 'स्वकर्म भोजनादि' स्पष्टीकरण है और निर्णयसागर आवृत्ति में 'स्वकर्म हास्यादि' कहा गया है;
शृंगारतिलक १. ४१ का पाठ 'नर्मवित्,' 'कर्मवित्', 'सकर्मवित्' हैं।
प्रकरण ६. टिप्पणी २ देखें, पृष्ठ ९२।

४. देखें—भावप्रकाशन, अधिकार १०, पृष्ठ २८९ पंक्ति २:
'विदूषकोऽपि सर्वत्र विनोदेषूपयुज्यते।'

५. देखें—नाट्यशास्त्र, गायकवाड, काव्यमाला, काशी, २७.८:
'विदूषकोच्छेदकृतं भवेत् शिल्पकृतं च यत्।
अतिहास्येन तद्ग्राह्यं प्रेक्षकैर्नित्यमेव तु॥'
'उच्छेद' का वाच्यार्थ 'मोड़तोड़' है; विनोद के संदर्भ में सिर्फ बोलना या प्रसंग विनोद से उल्टे करने की विदूषक की जो वृत्ति है उससे इस पद का सम्बन्ध लगाना चाहिए। इसका पाठभेद 'उच्छेक' है; इसका अर्थ 'बड़ाई मारने की आदत' है। (घोष का अनुवाद, पृष्ठ ५१२ देखें)
शिल्प का अर्थ 'कृत्रिम साधन—तरकीब' है; और उसमें हास्यकारक रंगभूषा या नेपथ्य सूचित होगा।

विदूषक के काम करनेवाले नट के रंगमंचीय बर्ताव के बारे में भरत ने सूक्ष्म दिग्दर्शन किया है। रंगमंच पर विदूषक के प्रवेश होने पर उसकी हालचाल से जो हास्यनिर्मित होती है उसके 'अंगकृत,' 'काव्यकृत' और 'नेपथ्यज' ऐसे त्रिविध प्रकारों का वर्णन भरत ने किया है : दँतुला, गंजा, कुबड़ा, लँगडा, बिकराल चेहरेवाला अर्थात् कुछ शारीरिक विकृति धारण करके विदूषक जब प्रवेश करता है तब जो हास्य निर्माण होता है वह 'अंगहास्य' है। उसी प्रकार, बक के जैसे लम्बे पाँव रखते या लम्बा डग भरते और आँखें झट से ऊपर नीचे घुमाते हुए विदूषक रंगमंच पर चलता है तब का हास्य 'अंगकृत' होता है। 'काव्यहास्य' उसे कहते हैं जो विदूषक के बोलने के भाषण से निर्माण होता है। विदूषक के असंबद्ध, निरर्थक और खींचातानी की हुई या समयानुकूल ग्राम्य बातों से काव्यहास्य निर्माण होता है, और जब बिदूषक पेड़ की खाल, भस्म के पट्टे या गेरू का रंग लगाकर आता है तब ऐसे विचित्र वेश और रंगभूषा से निर्मित हास्य को 'नेपथ्यज' कहा जाता है।[1]

विदूषक को रंगमंच पर कैसे खड़े रहना चाहिए और प्रसंगानुकूल अभिनय कैसे करना चाहिए इसका विवेचन नाट्यशास्त्र में आया है। स्वाभाविक अभिनय करते समय विदूषक को अपनी कुटिलक नाम की टेढ़ी-मेढ़ी लाठी बायें हाथ में लेकर दायें हाथ से 'चतुरक' मुद्रा करनी चाहिए; बाद में शरीर को एक बाजू, सिर, हाथ और पैर

---

१. देखें—नाट्यशास्त्र, गायकवाड, १२ । १३७–१४२; काव्यमाला, १२ । १२१-१२४; काशी, १३ । १३५–१४०; घोष, १३७–१४० ।

विदूषकस्यापि गतिर्हास्यत्रयविभूषिता ॥
अंगकाव्यकृतं हास्यं हास्यं नेपथ्यजं स्मृतम् ।
दन्तुरः खलतिः कुब्जः खञ्जश्च विकृताननः ॥
यदीदृशः प्रवेशः स्याद् अंगहास्यं तु तद् भवेत् ।
यदा नु बकवद् गच्छेद् उल्लोकितविलोकितैः ॥
अत्यायतपदत्वाच्च अंगहास्यो भवेत्तु सः ।
काव्यहास्यं तु विज्ञेयमसम्बद्धप्रभाषणैः ॥
अनर्थकैर्विकारैश्च तथा चाश्लीलभाषणैः ।
चीरचर्मनसीभस्मगैरिकाद्यैस्तु मण्डितः ॥
यस्तादृशो भवेद् विप्रा (प्रो ?) हास्यो नेपथ्यजस्तु सः ।

लय और ताल के अनुसार क्रमशः झुकाने चाहिए।[1] यह स्वाभाविक गति है। इसके अलावा कृत्रिम अर्थात् जानबूझकर लायी हुई गति और है। उदाहरण के लिए, गर्व या शोक की भावना दिखानी हो तो ऐसीं गति का लय द्रुत और काल विलंबित होता है। इसके विपरीत भोजन या वस्त्रादि उपहार विदूषक को अचानक प्राप्त होने से वह तन कर खड़ा रहता है, और शारीरिक हलचल न करते हुए स्तब्ध रहेगा।[2] यह जो त्रिविध हास्य बताया है वह 'आंगिक,' 'वाचिक' और 'आहार्य' अभिनय में आ जाता है।

भरत के इस विधान का अनुवाद अन्य शास्त्रकारों ने किया है—रामचन्द्र कहता है कि हास्यनिर्मिति के लिए ही विदूषक रंगमंच पर जान-बूझकर बेढंगी चाल से चलता है।[3] भरत द्वारा वर्णित त्रिविध हास्य का रामचन्द्र ने वर्णन किया है। उसमें नेपथ्यज हास्य में उसने विदूषक के 'अत्यायत अंबर' अर्थात् बेढंगी धोती का उल्लेख किया है, लेकिन विदूषक के आँख ऊपर नीचे घुमाकर देखने के और अभिनय का रामचंद्र

---

१. देखें—नाट्यशास्त्र, गायकवाड, १२०. १४२–१४५; काव्यमाला, १२.१२५–१२६; काशी १३. १४१–१४४; घोष, १३. १४१–१४६;

गतिप्रकारं विभजेत् नानावस्थान्तरात्मकम्।
स्वभावजायां विन्यस्य कुटिलं वामके करे॥
तथा दक्षिणहस्ते च कुर्याच्चतुरकं पुनः।
पार्श्वमेकं शिरश्चैव हस्तोऽथ चरणस्तथा॥
पर्यायशः संनमयेद् लयतालवशानुगः।

२. वही—नाट्यशास्त्र, १२. १४५–१४६ :

स्वभावजा तु तस्यैषा गतिरन्या विकारजा॥
अलाभलाभाद् भुक्तस्य स्तब्धा तस्य गतिर्भवेत्।

इसकी अभिनय द्वारा की गयी टीका ऐसी है:
अन्या द्रुतलयत्वेन प्लुतकालमानाद् बाहुल्येन शोकादिः स्वभावजा।
गर्वात्मकोऽपि विकारो भवतीत्याशयेनाह अलाभलाभादिति।
अलाभः लाभपूर्वकाल्लाभात्। भुक्तं वस्त्राद्युपलक्षयति।
(गायकवाड आवृत्ति, अध्याय १२, श्लोक १४५–१४६, पृष्ठ १६०)

३. देखें—नाट्यदर्पण, ३. १०३; विवरण पृष्ठ १५२ :
'विदूषकोऽपि च हास्यार्थं बुद्धिपूर्वकमेव विसंस्थुलं विचेष्टते।'

ने नेपथ्य हास्य में वर्णन किया है जो गलत है, भरत के कथानानुसार यह अंगकृत या आंगिक अभिनय ही है।[1]

इस त्रिविध अभिनय में से अंगकृत या आंगिक और नेपथ्यज या आहार्य अभिनय नट पर अवलंबित है जिसे रंगमंच पर प्रत्यक्ष देखना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में कुछ दिग्दर्शन शास्त्रग्रंथ में प्राप्त हैं ही। लेकिन नाटककारों ने संवाद के प्रवाह में कुछ वर्णन किया है। उदाहरण के लिए, अंगीकृत हास्य के सम्बन्ध में बेढंगा या गंजा सिर, कूबड़, मर्कट जैसा मुख, या नाटापन आदि विदूषक की शारीरिक विकृतियों का नाटककार ने उल्लेख किया है।[2] ऐसे प्रसंग भी नाटकों में पाये जाते हैं जिनमें उसी प्रकार विदूषक को विशिष्ट प्रकार का आंगिक अभिनय करना पड़ता है।

स्वस्तिवाचन के मोदक, वस्त्र, अलंकार आदि उपहार खुशी से स्वीकार करते समय,[3] भोजन का अभिनय करते समय,[4] बैठे-बैठे ऊँघते समय,[5] भय से भाग जाते समय,[6] शरीर तना हुआ दिखाते समय,[7] ताली या चुटकी बजाकर और नाचकर फूला न समाया हुआ दिखाते समय,[8] हाथ की लाठी तानकर भ्रमर, कबूतर के पीछे या आम के पेड़ की ओर शूर का अभिनय करते दौड़ते हुए[9] या राजा का छोटा भाई या युव-

---

१. देखें—नाट्यदर्पण, ४. १६७ विवरण पृष्ठ १६६;
 'हास्यं चास्य अंगनेपथ्यवचोविकारात् त्रेधा।
 तत्रांगहास्यं खलतिखञ्जदन्तुरविकृताननत्वादिना।
 वचोहास्यमसम्बद्ध–अनर्थक–अश्लीलभाषणादिना भवति।'

२. 'विदूषक का स्वाँग' यह तीसरा प्रकरण देखें, पृष्ठ ४७–४६।

३. देखें—प्र० ३ पृष्ठ ५३; प्रकरण ५, पृष्ठ ६१-६२।

४. शाकुंतल, अंक २ : राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्येकस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्। विदूषकः—किं मोदकखादिकायाम्।

५. मालविकाग्निमित्र, अंक ४ में गौतम; प्रियदर्शिका, अंक ३ में वसन्तक।

६. स्वप्नवासवदत्त, अंक ४ में जमीन पर गिरी हुई माला को साँप समझकर विदूषक चौंकता है और पीछे हटता है। शरीर पर फेंकी गयी टेढ़ी मेढ़ी लाठी को साँप ही मानकर गौतम भौंचक्का होकर झट से जागृत होता है।

७. शाकुन्तल, दूसरे अंक में, माढव्य, 'अंगभंगविकल इव भूत्वा स्थास्यामि।' ऐसा कहते समय यह अभिनय अभिप्रेत है।

८. रत्नावली के विदूषक का यह अभिनय है।

९. स्वप्नवासवदत्त, अंक ४, मृच्छकटिक, अंक ५, शाकुन्तल अंक ६।

राज कहने पर गर्व से चेहरा खिला हुआ दिखाते समय,[१] विदूषक को उचित अभिनय दिखाने के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है। संतुष्ट स्त्री होने का बहाना बनाता है;[२] इस समय स्त्री की तरह बल खाते चलने का वह कैसा अभिनय करता होगा यह जानना कठिन नहीं है।

'नागानंद' नाटक में आत्रेय स्त्री की तरह कपड़े पहन कर चलता है। इसमें अंगकृत और नेपथ्यज दोनों प्रकार के हास्य अभिप्रेत हैं। विदूषक के यज्ञोपवीत का समावेश नेपथ्य हास्य में करने पर गौतम का साँप के छूने पर अंगुली को जनेऊ से बांधना, 'रत्नावली' के वसंतक का जनेऊ की सौगन्ध लेना, चेट द्वारा आत्रेय का जनेऊ पकड़कर उसे खींचना और जनेऊ टूटना आदि कृत्य नेपथ्यज या 'आहार्य' हास्य के उदाहरण माने जा सकते हैं।

काव्यकृत अर्थात् विदूषक के भाषण से उत्पन्न होनेवाला हास्य नाटककारों की विशिष्ट निर्मिति का भाग है। इस 'वाचिक' हास्य के उदाहरण जानबूझ कर खोजने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि विदूषक का सारा भाषण ही हास्यकारक होना चाहिए। लेकिन उसका अर्थ यह नहीं कि वह केवल अंटसंट, असंबद्ध और निरर्थक बातों से ही हँसाता है। प्राचीन नाट्य-साहित्य के भास, कालिदास, शूद्रक आदि नाटककारों ने विदूषक के उद्गारों को जैसे विनोदी बनाया है वैसे ही उन्हें बुद्धि का तेज भी दिया है। इसीलिए विदूषक जैसे लोकप्रिय विनोदी पात्र द्वारा निर्मित हास्य में न केवल अतिरेक आया किन्तु उसमें गहराई भी है। आगे चलकर पतन के समय में केवल मामूली नाटककारों ने गालियाँ और ग्राम्य उद्गारों और कृतियों के आश्रय से विनोदनिर्मिति का प्रयत्न किया है। राजशेखर के नाटकों में अश्लीलता दिखती है तो प्रहसनों में अश्लील विनोद सीमातीत वर्णित है।

○ ○ ○

---

१. शाकुन्तल, अंक २, मृच्छकटिक नाटक में मैत्रेय शकार को कहता है, 'भोः! स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावत् चण्डो भवति, किं पुनरहं ब्राह्मण' : (अंक १) तब भी इस गर्व का अभिनय कल्पना से जाना जा सकता है।

२. अविमारक अंक ५।

११.

विदूषक की भूमिका और कार्य—(२)

भरत के विदूषक की भूमिका और कार्य का त्रिविध स्वरूप कल्पित करने पर भी इससे विदूषक का प्रत्यक्ष कार्य समाप्त नहीं होता। इसका कारण स्पष्ट है। विदूषक का विनोदी पात्र का अभिनव और उसका हास्यनिर्मिति का कार्य सांकेतिक स्वरूप का, या परंपरिक स्वरूप का ही रहा है; फिर भी विदूषक को नाटकीय पात्र के रूप में स्वीकार करने पर नाट्य कथानक से इसका सम्बन्ध नाटककार को ठीक रूप में स्थापित करना ही पड़ता है। विनोद और हास्यनिर्मिति ही एक साधन के रूप में यदि विदूषक की भूमिका रह जाती तो उसका नाट्यवस्तु से अलग रहने का भय होता; या कम से कम उसका अस्तित्व एक आवश्यक और अपरिहार्य पात्र के रूप में न रहता: और यदि वैसा हो जाता तो कला की दृष्टि से रचना में एक भारी दोष रह जाता। इसलिए अन्य पात्रों के समान विदूषक को भी नाट्यवस्तु के साथ एक होना आवश्यक था। नाटक के संविधान में विदूषक को स्थान देते समय उसकी ओर नाटककार को विनोदनिर्मिति के अलावा अन्य कार्यों को भी देना पड़ता था। कथानक के संदर्भ में प्रत्यक्ष नाटक में विदूषक का यह कार्य किन रूपों में दिखाई देता है इसकी ओर शास्त्रकारों ने ध्यान नहीं दिया है। लेकिन इसके अभाव में इसे जान लेना कठिन है कि नाटककारों ने विदूषक का पात्र कैसे चित्रित किया है।

१. नाट्यनिवेदक का कार्य

प्राचीन संस्कृत रंगमंच पर बड़े-बड़े दृश्य या काफी नेपथ्य रचना का होना असंभव ही था। परदों का प्रयोग भी मर्यादित था। इसीलिए प्रेक्षक को एक दृश्य का

प्रारम्भ जानना कठिन था। वैसे ही एकाध नये पात्र के बारे में प्रेक्षक के मन में गड़बड़ी होना सम्भव था। पहली अड़चन को दूर करने के लिए संस्कृत नाटककारों ने नाट्य रचना में ही वर्णनों का समावेश किया है। संस्कृत नाटकों की नाट्य रचना काव्य की ओर अधिक झुकी है और उसमें प्रबन्ध काव्य के योग्य अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। इसका एक कारण नेपथ्य से सम्बन्धित है। जिन बातों को उस समय दृश्य रूप से दिखाना असम्भव था उनकी कमी उनके वर्णन द्वारा पूर्णकर प्रेक्षकों के सामने उसका दृश्य उपस्थित किया जाता था। दूसरी अड़चन के लिए शास्त्र में नियम दिया है कि 'असूचित पात्रों का प्रवेश न हो।' अंक के प्रारम्भ में या बीच में भी एकाध नया पात्र रङ्गमंच पर आता है तो उसके प्रवेश की सूचना नाटककार कुछ प्रचलित नाट्य संकेतों का प्रयोग करके देता है।[1]

संस्कृत नाटकों के निरीक्षण करने पर ऐसा दिखाई देता है कि बदलते हुए दृश्यों का वर्णन करने का और नायक के प्रवेश की सूचना देते का काम विदूषक करता था।

'स्वप्नवासवदत्त' नाटक का चौथा अंक विदूषक के प्रवेश से प्रारम्भ हुआ है। विदूषक अपने प्रारम्भिक भाषण में जिन घटनाओं का वर्णन करता है उनसे कथा का सूत्र समझ में आ जाता है और उसी से उदयन के प्रथम प्रवेश की भूमिका तैयार होती है। आगे चलकर विदूषक उदयन को प्रमदवन की ओर ले जाता है। यहाँ वाटिका का और फूलों की शोभा तथा विविध आकार धारण करके क्षितिज की नीली रेखा से ऊपर खूब दूर तक उड़ने वाले शुभ्र बकों की पांतियों का वर्णन विदूषक करता है। उससे दृश्य कौन सा हो सकता है इसकी कल्पना आ जाती है। बाद में विदूषक उदयन को माधवी लतामंडप के पास ले जाता है। अंक का मुख्य दृश्य यहीं से प्रारम्भ होता है। 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' नाटक के तीसरे अंक का प्रारम्भ विदूषक के प्रवेश से ही हुआ है। उसके भाषण में नाट्यस्थल का उल्लेख है, और इस नाटक के नायक यौगन्धरायण के प्रवेश की सूचना है। अंक के अन्त में विदूषक कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं को बताता है। 'अविमारक' नाटक के दूसरे अङ्क के प्रारम्भ में सन्तुष्ट प्रवेश करता है। उसके प्रथम भाषण में ही अविमारक के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है और उसकी कुरङ्गी के प्रति होने वाली प्रेम भावना का वर्णन है जो नाट्य विषय हैं। आगे चलकर

---

१. देखें—'न असूचितस्य पात्रस्य प्रवेशोऽस्ति।' रङ्गमंच पर उपस्थित पात्रों से आने वाले पात्रों के नामों का उच्चारण करके या 'चूलिका,' 'अङ्कावतार,' 'अंकमुख' आदि तांत्रिक युक्तियों को योजकर पात्र का प्रवेश सूचित किया जाता है। साहित्यदर्पण, ६. ५४-६० देखें।

वह सूर्यास्त के समय की नगर-शोभा का वर्णन करता है। चौथे अङ्क में उससे मालूम होता है कि अविमारक एकाएक अदृश्य हुआ है और इस प्रकार कथा विकास का एक आवश्यक सूत्र वह जोड़ देता है।

मैत्रेय का उल्लेख 'मृच्छकटिक' नाटक की प्रस्तावना में हुआ है। पहले अंक प्रारम्भ उसके प्रवेश से होता है। इस भाषण से कथा की पार्श्वभूमि समझ में आ जाती है और नायक के प्रवेश की सूचना भी मिलती है। तीसरे अङ्क में मैत्रेय के वाक्यों से बाहर से चारुदत्त के घर की ओर जाने का रास्ता और बाद में अंतर्मार्ग के शयन मन्दिर आदि स्थल सूचित होते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि चौथे अंक में वसंतसेना के साथ चौक वाले महल का जो वर्णन आया है वह सारा मैत्रेय द्वारा किया गया है। पाँचवें अंक के रङ्गस्थल-वृक्षवाटिका को भी मैत्रेय ने ही दिखाया है। सातवें अंक के पुष्पकरंडक नामक जीर्णोद्यान का भी ज्ञान मैत्रेय के ही भाषण से ही होता है। अन्तिम अङ्क में मैत्रेय चारुदत्त के लड़के को वधस्थान की ओर ले जाता है; इस उल्लेख में यहाँ का दृश्य सूचित किया जाता है।

नृत्य प्रतियोगिता का आयोजन गौतम ने किया है; इससे 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के दूसरे अङ्क का प्रारम्भ मालूम होता है। तीसरे अंक में गौतम राजा को प्रमदवन में ले आता है। इस समय इरावती के आगमन की सूचना का उल्लेख उसके भाषण में है। चौथे अंक के प्रारम्भ में मालविका के कैद को सूचना वह लाता है; और उससे कथा विकास एक सूत्र समझ में आ जाता है। अंतिम अंक में मालविका की विवाह पोशाक पहनने की बात बताता है जिससे अंतिम दृश्य की आप ही आप सूचना मिलती है। 'विक्रमोर्वशीय' का दूसरा अङ्क माणवक के प्रवेश से प्रारम्भ होता है। इस प्रवेश में राजा और उर्वशी के प्रेम की बात मालूम होती है। तीसरे अङ्क में माणवक राजा को स्फटिकमणियों की सीढ़ी से मणिहर्म्य की अटारी पर ले जाता है और राजा का चन्द्रोदय की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। इह उल्लेख में रंगस्थल और काल की सूचना आ जाती है। पाँचवें अङ्क के प्रारम्भ में विदूषक की बातों में बीच की घटनाओं का निर्देश है; नायक के प्रवेश की सूचना है; और गंगा जमुना के संगम पर स्थित राजा के शामियाने का उल्लेख है; पाँचवें अङ्क का रङ्गस्थल यहाँ मालूम होता है। 'शाकुन्तल' नाटक के दूसरे अङ्क के प्रारम्भ में माढव्य के स्वगत कथन में दुष्यन्त के शिकार का वर्णन है, और शकुन्तला के प्रेम की जानकारी भी मिलती है। उसने स्वगत कथन के अन्त में दुष्यन्त का प्रवेश भी सूचित किया है। पाँचवें अङ्क के प्रारम्भ में विदूषक जब हंसपदिका के गीत की ओर दुष्यन्त का ध्यान आकृष्ट करता है तब रंगस्थल की और प्रसंग की सूचना प्रेक्षकों को मिल जाती है। छठें अङ्क में माढव्य दुष्यन्त को प्रमदवन के माधवी लतामंडप की ओर ले आता है।

'प्रियदर्शिका' नाटक में दूसरे अंक के प्रारम्भ में विदूषक राजा का आगमन सूचित करता है और यहाँ रङ्गस्थल अर्थात् धारागृह उद्यान का वर्णन करता है। वह कमल तोड़ती हुई नायिका की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट करता है और बाद में राजा को उसके पास जाने की सूचना देता है। तीसरे अंक में राजा का प्रेम विदूषक द्वारा मालूम होता है। विदूषक नायिका को ढूँढने निकला है, इस उल्लेख में रंगस्थल की सूचना पायीं जाती है। 'रत्नावली' के पहले अंक में मदनमहोत्सव का और मकरन्द उद्यान का वर्णन है, उसमें विदूषक ने काफी सहायता की है। दूसरे अंक में राजा की प्रिय लता पर जादू से फूल आने की बात वही करता है, इसी में राजा के आगमन और दृश्य की सूचना भी है। बाद के सम्वाद में राजा और विदूषक घूमते-घामते कदली-गृह के पास आते हैं और वहाँ नायिका से भेंट होती है, ऐसा निर्देश है जो स्थलसूचक हैं। तीसरे अंक के विदूषक के भाषण से कथा का नया भाग मालूम होता है, विदूषक सन्ध्या का वर्णन करता है जिससे नाट्यघटना का समय मालूम हो जाता है, थोड़ी देर से विदूषक वेशांतरित रानी को सागरिका मानकर लाता है। फिर आगे चौथे अंक के प्रवेश में विदूषक की बातों से कथा विकास के सूत्र मालूम होते हैं। 'नागानन्द' नाटक में आत्रेय की बातों से नायक की पार्श्वभूमि मालूम हो जाती है। उसके वर्णन में आया हुआ मलय पवन, तपोवन और देवालय आदि का उल्लेख बदलते हुए दृश्यों की कल्पना लाकर देता है। दूसरे अंक में विदूषक नायक को चन्दन लतागृह की ओर ले आता है, नायक विदूषक द्वारा बताये गये चन्द्रमणि शिला पर बैठता है, नायक-नायिका का मिलन यहीं होता है। तीसरे अंक में विदूषक ने कुसुमाकर उद्यान का उल्लेख किया है, अंक का प्रसंग यहीं घटित होता है।

चारायण मकरन्द उद्यान का, क्रीडाशैल का और खुदे हुए साथ के शिल्प का जो वर्णन 'विद्धशालभञ्जिका 'नाटिका के पहले अंक में करता है वह ऐसे दृश्यों का सूचक है। दूसरे अंक में उसने कन्दुक-क्रीड़ा का उल्लेख किया है, उसके साँझ के निर्देशन से दूसरे अंक की धटना-समाप्ति का काल मालूम होता है। तीसरे अंक में वह राजा के साथ चाँदनी का वर्णन करता है तो चौथे अंक में भोर का समय सुझाता है।

रंगस्थल के, बदलते दृश्यों के, नाट्यघटना के काल के, नायक या नायिका के प्रवेश के निर्देश का कार्य और प्रमुख पात्र या कुछ घटनाओं के बारे में जानकारी देने का कार्य और दो अंकों के बीच में गृहीत कथा विकास के सूत्रों की जानकारी प्रेक्षकों को नम्रता के साथ प्रस्तुत करने का कार्य वास्तव में नाट्य के अंतर्गत पात्रों का नहीं है। नाट्यकथानक का विकास देखकर घटना और पात्र के बारे में प्रेक्षकों को जानकारी देने वाले और आगे विकास की दिशा सुझाने वाले निवेदक का ही यह कार्य है। यह निवेदक नट होने पर भी वह वास्तव में नाट्य वस्तु से थोड़ा अलग रहकर प्रेक्षकों की

दृष्टि से आवश्यक कार्य करता है । ग्रीक नाट्य में इस कार्य को 'कोरिक फंक्शन्' और पात्र को 'कोरस कैरेक्टर' कहते है । विदूषक की यह भूमिका 'कोरस' जैसे ही है । इसका वर्णन 'नाट्य निवेदक का कार्य' इस रूप में किया जा सकता है । एक दृष्टि से नाट्यकथानक के अन्तर्गत एक पात्र और इसके अलवा नाट्यनिवेदन करने वाला नट ऐसे दो रूपों में विदूषक रंगमंच पर आता है । इस विवेचन से ऐसा लगता है कि पूर्व रंग के त्रिगत का भाग नष्ट हो जाने पर नटमंडलियों के अंग के रूप में संयोजन का कार्य विदूषक के पास न रहने पर भी खुद नाटक में 'कोरस कैरेक्टर'—नाट्य निवेदक नट के रूप में नाटककार को विदूषक की जरूरत थी ।

२. सेवक का कार्य

नाटक की दृष्टि से विदूषक 'नीच' अर्थात् निम्न स्तर का पात्र होने के कारण कथानक के प्रवाह में कुछ मामूली काम उसे करने पड़ते हैं । उनमें सन्देश पहुँचाने का एक काम उसका हमेशा का ही है । राजा का अन्तरंग मित्र होने से नायक और अन्तःपुर का सम्बन्ध जोड़ने का कार्य विदूषक की ओर आना स्वाभाविक ही है । जब ऐसे कार्य से कथा विकास के एक महत्त्वपूर्ण अंग को जोड़ने का कार्य होता है तब ऐसा कार्य खुद विदूषक ही करता हुआ दिखायी देता है । अधिकतर उससे सेवक का काम जान-बूझकर दिया जाता है ।

उदाहरण के लिए 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक में समुद्रगृह के प्रसिद्ध स्वप्न दृश्य होने के पूर्व पद्मावती के सिर दर्द की जानकारी उदयन को देकर उसे समुद्रगृह में ले आने का कार्य विदूषक को सौंपा गया है। 'मृच्छकटिक' नाटक में जूर्णवृद्ध द्वारा भेंट रूप में प्रदत्त जातिकुसुमवासित प्रावारक (जाई के फूलों से सुगन्धित शाल) चारुदत्त के पास लाने का कार्य मैत्रेय की ओर आया है । बाद में चारुदत्त काकबलि को देहली पर रख आने का कार्य मैत्रेय को बताता है । वसन्तसेना के भूषण सँभालने का और बाद में उन्हें वसन्तसेना को पहुँचाने का कार्य भी मैत्रेय को ही करना पड़ता है । 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में उर्वशी का प्रेम-पत्र सम्भाल कर रखने का कार्य माणवक को दिया गया है ।' 'शाकुन्तल' नाटक में दुष्यंत की सेना को राजधानी की ओर वापस ले जाने का, हंस-पदिका के महल में दुष्यंत का सन्देश पहुँचाने का, और शकुन्तला के चित्र को रानी न देखे इसलिए चित्रफलक मेघप्रतिछन्न प्रासाद की अटारी पर ले जाने का कार्य माढव्य को करना पड़ा है । 'रत्नावली' नाटक में विदूषक रत्नावली को राजा के पास ले जाता है । ये काम विदूषक को सेवक की भूमिका लेकर यंत्रवत् करने पड़ते हैं ।

३. दरबारी मसखरे का कार्य

विदूषक यह केवल नायक का सहचर नहीं है। पहले ही बताया गया है कि उसकी भूमिका में मसखरे का समावेश हुआ है। अधिकतर संस्कृत नाटक का नायक राजा ही रहता है; लेकिन नाट्य का विषय राजा की प्रेम कथा होने के कारण दरबारी वातावरण का चित्रण नाटक में अधिक नहीं आता। अन्तःपुर और राजमहल के आस-पास के प्रमदवन, समुद्रगृह आदि स्थल ही कथा की पार्श्वभूमि के रूप में आते हैं। फिर भी कालिदास के नाटकों में कुछ दरबारी वातावरण मिलता है और वहाँ विदूषक के खुशामदी स्वभाव की झाँकी दिखायी देती है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में दो नाट्याचार्यों में झगड़ा लगाकर गौतम उसका मजा दूर से ही देखता है और एक नाट्याचार्य पर सरस्वती की पूजा के निमित्त मोदक प्राप्त करते रहने का आरोप करता है। 'शाकुन्तल' नाटक के दूसरे अंक में सेनापति के चरित्र-चित्रण में दरबारी ढंग का हाँ में हाँ मिलाने का नमूना देखने को मिलता है। इसलिए माढव्य ने जो उसका मजाक उड़ाया है वह ठीक ही लगता है। राजशेखर के नाटक में दरबारी वातावरण का चित्रण स्पष्ट हुआ है। 'कर्पूरमञ्जरी' नाटक में विदूषक और दासी के झगड़े के अन्त में विदूषक चिढ़ जाता है और अपने बदले में दासी को ही टोप और दाढ़ी लगाकर विदूषक के पद पर नियुक्त करने के लिए कहता है। इन शब्दों में विदूषक की दरबारी नियुक्ति की स्पष्ट सूचना है। 'विद्धशालभञ्जिका' नाटक में रानी के परिवार द्वारा विदूषक का किया गया असभ्य मजाक और उसके बदले में उसी प्रकार का विदूषक द्वारा किया गया मजाक दरबार के वातावरण पर प्रकाश डालता है। संस्कृत नाटकों की प्रणयकथा की मर्यादा आ जाने से उस दृष्टि से दरबार का वातावरण कहीं नहीं मिलता और इसलिए संस्कृत नाटकों में विदूषक को खुशामदी भूमिका करने के लिए अधिक अवसर नहीं मिलता।

४. कथाविकास में कार्य

शृंगारप्रधान सुखान्त नाटक में विदूषक के पास नायक के सहचर और सहायक की भूमिका होती है। इसमें कोई शक नहीं कि विदूषक नायक की प्रेमपूर्ति में सहायता करने का कार्य अपनी ओर से जितना बन सकता है, करता है। लेकिन शास्त्रग्रंथों में विदूषक के कार्य का जितना वर्णन हुआ है उतना प्रत्यक्ष नाटक में दिखायी देगा ऐसी अपेक्षा करना व्यर्थ है। एकाध चतुर विदूषक नायक को नायिका प्राप्त कराने में मदद देता होगा। लेकिन विदूषक विनोदी पात्र होने के कारण उसकी होशियारी

के साथ उसकी मूर्खता का चित्रण भी नाटककारों ने किया हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इसलिए कुछ विदूषक नायक की मदद करने के बदले कुछ गड़बड़ी पैदा करते हुए दिखायी देते हैं। ये बातें जान लेने पर प्रश्न निर्माण होता है कि कथावस्तु में विदूषक का क्या स्थान है? विनोदनिर्मिति विदूषक का अपरिहार्य कार्य है। लेकिन विदूषक के विनोद का कथा से दूर का सम्बन्ध हो तो नाटक की कुशल रचना में दोष आ जाता है। नाटककारों को इस कलात्मक कमी की जानकारी थी। इसलिए विनोद-निर्मिति करने वाले त्रयस्थ की भूमिका विदूषक को न देकर, कथाविकास में विदूषक के पात्र का उपयोग नाटककारों ने यथासंभव कर लिया है।

'स्वप्नवासवदत्त' नाटक के चौथे अंक में प्रमदवन का दृश्य है। माधवी लता के पास एक शिला पर उदयन बैठा है। उस समय विदूषक उससे पूछता है, 'आपको वासवदत्ता प्रिय है या पद्मावती?' पांचवें अंक में जब समुद्रगृह में उदयन पद्मावती की राह देखते हुए लेटे थे तब नींद न आ जाय इस दृष्टि से विदूषक से कहानी सुनाने को कहते हैं। इन दोनों घटनाओं का बाह्यस्वरूप विनोदी है। रानी के बारे में प्रश्न पूछते समय विदूषक जो आवेश लाता है, राजा को धमकी देता है और फिर राजा भी विदूषक की बात मान लेने का स्वाँग भरता है उसी में ही परिहास है। बाद में झट से राजा भी वही प्रश्न विदूषक को पूछकर सारे प्रसंगों की पुनरावृत्ति करता है। उस समय लतामंडप में स्थित पद्मावती को भी राजा के इस विदूषकी व्यवहार पर आश्चर्य होता है। विदूषक जब कहानी बतलाना प्रारंभ करता है तब वह राजा का नाम नगर को और नगर का नाम राजा को देकर हँसी निर्माण करता है।

इन दोनों प्रसंगों में व्यक्त विनोद स्पष्ट ही है। लेकिन नाट्य घटनाओं का परीक्षण करने पर इनमें हास्यनिर्मिति के अलावा कुछ दूसरे गहरे नाट्यहेतु दिखायी देते हैं। विदूषक राजा को माधवी लतामंडप के पास लाता है। उसी में अनजाने में एक नाट्यपूर्ण घटना निर्माण हुई है। मंडप के पास उदयन खड़ा है; इसलिए पद्मावती, वासवदत्ता और दासी वहां अंदर ही अटक गयी हैं। लेकिन इस परिस्थिति के कारण राजा और विदूषक की बातें वे स्वाभाविक रूप से सुन सकती हैं। ऐसी ही अवस्था में विदूषक राजा से पूछता है कि कौन सी रानी प्रिय है? विदूषक के प्रश्न से वासवदत्ता की मृत्यु की स्मृति जागृत होकर उदयन का दुःख उमड़ आता है लेकिन उसके उत्तर से अज्ञातवास में दुःख सहनेवाली वासवदत्ता के विषण्ण अंतःकरण को सांत्वना मिलती हैं; तो पद्मावती को गूढ मानसिक आघात पहुँच कर उसकी परिणति उसके सिरदर्द और बाद में उसके कारण घटित स्वप्न दृश्य के प्रसंग में होती है। विदूषक की मूर्खता से पूछे गये प्रश्नों से इतना नाट्य परिणाम हुआ है। पांचवें अंक में विदूषक राजा को कथा कहते समय उसका प्रारंभ उज्जयिनो नगर और वहाँ के प्रसिद्ध स्नानगहों के

उल्लेख से करता है। ये दोनों बातें उदयन और वासवदत्ता के प्रेम से संबंधित होने के कारण अनजाने में उदयन का मन फिर से वासवदत्ता की ओर आकृष्ट होता है। स्वप्न में उदयन को वासवदत्ता दिखायी देती है। इस घटना की प्रेरणा विदूषक की बातों में होना संभव है। उदयन और वासवदत्ता का पुनर्मिलन ही 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक का प्रधान हेतु है। वासवदत्ता अग्नि में जलकर स्वर्गवासिनी हुई है ऐसी उदयन की धारणा होने के कारण और कालप्रवाह में पहले के दुःख को भूलना स्वाभाविक होने से उदयन का मन धीरे-धीरे पद्मावती की ओर आकृष्ट हो रहा है। ऐसी अवस्था में एक ओर उदयन को वासवदत्ता की विस्मृति न होना और दूसरी ओर पतिप्रेम से स्वार्थत्याग करके अज्ञातवास की वेदना अनुभव करने वाली वासवदत्ता को उदयन के अविचल प्रेम का प्रमाण मिलना, इन दोनों बातों का नाट्यप्रयोजन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। विदूषक के विनोदी प्रश्न से और असंबद्ध कथा कहने से ऊपरी दोनों नाट्य हेतु सफल होते हुए दिखाई देते हैं। गीत के ध्रुवपद की तरह उदयन और उसके साथ प्रेक्षकों का भी ध्यान वासवदत्ता की ओर बार बार खींचना ही यहाँ के कथाविकास में विदूषक का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

'प्रतिज्ञायौगंधरायण' नाटक में तो बंदी उदयन से मिलकर उसे अमात्य द्वारा आयोजित मुक्ति की योजना बनाने की जिम्मेवारी विदूषक पर आयी है। आगे चलकर उदयन से मिलने पर विदूषक को पता चलता है कि वह वासवदत्ता के प्रेम में फँसा हुआ है। विदूषक उदयन के बर्ताव का निषेध करता है। इसी के परिणामस्वरूप यौगंधरायण दूसरी प्रतिज्ञा करता है। यहीं नाट्यवस्तु के साथ विदूषक का निकट संबंध स्पष्ट दिखायी देता है।

इसके विपरीत कुछ नाटककारों ने, प्रत्यक्ष नाट्यविकास में स्थान न देने पर भी अप्रत्यक्ष रीति से विदूषक के प्रमादों का प्रयोग कथा-विकास के लिए किया है। उदाहरणार्थ मैत्रेय के नींद में बड़बड़ाने से शर्विलक को वसंतसेना के अलंकार चुराने के लिए सहज ही मौका मिल जाता है। इन्हीं अलंकारों की चोरी जाने के कारण नाटक में आगे की बहुत सी घटनाएँ इसपर अवलंबित दिखायी देती हैं। फिर वसंतसेना को जेवर वापस करने के लिए निकले हुए मैत्रेय को चारुदत्त के मुकदमें की जानकारी मालूम होती है और वह न्यायालय में आता है लेकिन वहाँ शकार के साथ झगड़ा करते समय उसके अलंकार नीचे गिर जाते हैं। तब इस प्रमाद से चारुदत्त की फाँसी पक्की होती है और अंतिम वधस्थल की घटना अटल बन जाती है।

कालिदास ने विदूषक के प्रमादों का कथावस्तु में ठीक प्रयोग किया है। अक्लमंद गौतम चौथे अंक में मालविका और अग्निमित्र को समुद्रगृह में मिलाता है और बाहर दरवाजे पर बैठकर ऊँघता है, उसकी इस भूल से इरावती को राजा के मिलन

का रहस्य मालूम हो जाता है। ठीक इसी समय धारिणी की छोटी बहन को बंदर के डराने की बात मालूम होने से इरावती लौट जाती है वरना इससे न जाने और क्या अनर्थ हो जाता। रानी की दासी माणवक को बनाती है और वह भी उसे पुरुरव्य का प्रेमरहस्य बताता है। उसके पास राजा का दिया हुआ उर्वशी का प्रेमपत्र वह गँवा बैठता है और वह पत्र ठीक रानी के हाथ में पड़ता है। माणवक की उस भूल से दूसरे अंक में राजा रानी के झगड़े का प्रसंग आता है। माढव्य पागल सा है। उसके इस स्वभाव का औरों को अपनी कार्य सिद्धि में उपयोग होता है। और इसी में से कालिदास अपनी कथावस्तु के विकास को साधता है। एक ओर शकुंतला मन आकृष्ट कर रही है दूसरी ओर व्रत की सिद्धि के लिए माता का राजधानी में वापस आने का संदेश आता है; तब दुष्यंत दुविधा में पड़ते हैं। इतने में आश्रम से तापस आते हैं और दुष्यंत को तपोवन में रहकर यज्ञरक्षा करने की बिनती करते हैं। इस समय दुष्यंत शकुंतला का प्रेम आदि बातें झूठी कह कर खुद को धार्मिक कर्तव्य पालन के लिए तपोवन में रहना पड़ रहा है, ऐसा विदूषक को आभास देते हैं। विदूषक को दुष्यंत की बात सच लगती है। इसलिए एक ओर उसे शिकार की तकलीफ से छुटकारा मिलने का आनंद है तो दूसरी ओर राजा का प्रतिनिधि या राजा का भाई या युवराज हुआ है, इस अभिमान से वह फूला नहीं समाता। माढव्य की यह मूर्खता कथाविकास के लिए अधिक उपकारक बनती है। विदूषक की इन बढ़ी-चढ़ी बातों में दुष्यन्त के अनपत्य की नाट्यसूचना है। इसके साथ ही विदूषक और सेना के बंधन दूर हो जाने से यज्ञ रक्षा के कार्य के साथ ही दुष्यन्त को तपोवन में बार बार जाकर शकुंतला से परिचय बढ़ाने का मौका मिल जाता है। इसके ही परिणामस्वरूप तीसरे अंक में प्रेम की स्वीकृति और गांधर्व विवाह की परिणति आती है। पाँचवें अंक में दुष्यंत माढव्य को संदेशा देकर हंसपदिका के महल में भेजता है। वहाँ जाने पर 'अप्सराओं के हाथों में फँसे हुए तपस्वी को जैसे मोक्ष नहीं मिलता वैसे अपनी मुक्ति जल्दी नहीं होगी' यह जानते हुए भी विदूषक वहाँ जाता है। और जब शकुंतला दरबार में आती है तब वहाँ विदूषक के न होने के कारण शकुन्तला के निवेदन का समर्थन करने वाला कोई भी तीसरा आदमी नहीं रहता। पर स्मृतिनाश के कारण दुष्यंत को कुछ याद नहीं आता और शकुंतला के दारुण प्रत्याख्यान से पाँचवें अंक का अंत करुण बनता है। छठे अंक में रानी वसुमती के आगमन की बात जानते ही विदूषक चित्रफलक लेकर भाग जाता है और वह ठीक इंद्रसारथी मातलि के हाथों में फँसता है; और उसे पीटकर दुष्यन्त के क्षात्रतेज को आवाहन करने का मौका मातलि को मिलता है। इस तरह विदूषक हर जगह अपनी मूर्खता से रंग-मंच से पलायन करता है और उसके पलायन का उपयोग कथावस्तु के विशिष्ट विकास के लिए होता है।

कालिदास के इस नाट्यतंत्र का अनुकरण श्रीहर्ष ने किया है। विदूषक पागल की तरह सारिका के पीछे लगा रहता है और इसके कारण नायक नायिका की भेंट 'रत्नावली' में होती है। 'प्रियदर्शिका' नाटक में विदूषक नींद में बड़बड़ाता है। इसके कारण रानी को नायक नायिका के मिलन का रहस्य मालूम हो जाता है; परिणाम-स्वरूप नायिका और विदूषक बंदी बन जाते हैं।

५. भाष्यकार का कार्य

विदूषक का 'वेष बेढंगा' होने पर भी उसका स्वभाव झगड़ालू है। विदूषक के व्यवहारी सयानेपन को जब मार्मिक टीका का रूप मिलता है तब वह जीवन के भाष्य-कार के रूप में हमारे सामने आता है।

कथावस्तु का सांकेतिक ढाँचा और व्यावहरिक जीवन का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति राजा—कथा का नायक—संस्कृत नाटकों में ऐसी दो मर्यादाएँ होने के कारण विदूषक के मुक्त भाष्य को भी स्वाभाविक रूप से मर्यादा आ गयी है। उसी में विदूषक को परिहास 'करने वाले' के बदले परिहास के ही विषय के रूप में चित्रित करने से उसके व्यावहारिक चातुर्य को ज्यादह अवसर नहीं मिलता। इसीलिए पाश्चात्य नाटक के विदूषक की अपेक्षा संस्कृत नाटक का विदूषक जीवन के भाष्यकार के रूप में तुलना में कम पड़ता है।

लेकिन फिर भी विदूषक का चातुर्य प्रकट होने का जहाँ मौका प्राप्त होता है वहाँ उसका मार्मिक अवलोकन दिखायी देता है। इस दृष्टि से कालिदास के विदूषकों की आलोचना देखने योग्य है। मालविका के साथ प्रणयाराधन करते समय इरावती अचानक अग्निमित्र के सामने आकर खड़ी रहती है। राजा विदूषक की ओर मुड़कर धीरे से पूछता है, 'अब क्या किया जाय ?' गौतम उत्तर देता है : 'चोर को रँगे हाथों पकड़ने पर भागने के सिवा दूसरा क्या चारा है ? 'अग्निमित्र इरावती के पैर पकड़ने के लिए धरती की ओर झुकता है पर वह गुस्से में निकल जाती है जिसका अग्निमित्र को पता नहीं लगता है। गौतम राजा से कहता है : 'अब उठिए। रानी ने आप पर कृपा की है।' दुष्यंत को यकायक शकुन्तला के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है तब माढव्य कहता है : 'मीठा खजूर खाकर जीभ ऊब जाती है तो इमली खाने की इच्छा होती है, वैसे अनेक स्त्री रत्नों का उपभोग लेकर ऊब जाने से एक तापस कन्या पर आप का मन रीझा हुआ दिखता है।' उर्वशी अचानक पुरुरव्य से मिलने आती है। राजा उसे बुलाकर अपने आसन के पास बिठाता है। निकट में विदूषक है और उर्वशी की सखी भी है। इसलिए माणवक कहता है 'हाँ ? तुम दोनों के लिए क्या यहीं पर सूर्यास्त हुआ

है ?' राजा का बहुपत्नीत्व और उससे निमित हास्यप्रसंग, राजाओं की पुरुषोचित चंचलता, और सामाजिक श्रेष्ठता और अधिकार इनसे वृद्धिंगत होना प्रसंगानुसार शिष्टाचार के परे जाने वाली उत्सुकता, आदि राज-जीवन की विशेषताओं पर मार्मिक प्रहार है।

मैत्रेय की टीका-टिप्पणी को अन्तःपुर की मर्यादा नहीं है। वह अधिक विशाल सामाजिक जीवन में घूमता है। स्त्री-पुरुष, घटना और प्रसंग, रीति और रिवाज आदि अनेक बातों पर वह टीका-टिप्पणी करता रहता है। मैत्रेय की आलोचना जैसी प्रकट और मार्मिक है वैसे ही वास्तव और अच्छी लगने वाली भी है। जीवन के भाष्यकार के रूप में विदूषक को दिखाना हो तो मैत्रेय को हम निस्संदेह दिखा सकते हैं।

६. भावनात्मक मुक्ति (उतार) का कार्य

नाटक की चरम सीमा पर घटित नाट्यप्रसंग से प्रेक्षकों की भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं। ऐसे समय यह मानसिक बोझ सुसह्य करने की दृष्टि से भावनात्मक उतार (Emotional relief) निर्माण करने की आवश्यकता नाटक जैसी कला के अविष्कार में हमेशा होती है। विदूषक का विनोद इस दृष्टि से भावना का बोझ कम करने वाला हो सकता है।

लेकिन संस्कृत नाटक में प्रेमव्यथा का और विरह-दुःख का चित्रण अधिकतर विप्रलंभ शृंगार से कलात्मक चित्र का रूप लेते हैं। उसमें भावनोद्दीपन की अपेक्षा अधिकतर काव्यात्मकता ही मिलती है। इसका परिणाम ऐसा होता है कि मानवी जीवन के सजीव वेदनाओं की सच्ची उत्कटता एकाध बार ही प्रकट होती है। दुःखांत नाटक (Trag dy) संस्कृत रंगमंच के लिए स्वीकृत नहीं था। इसलिए भावनाओं की विलक्षण चरमसीमा पर पहुँचने पर इस बोझ को कम करने के लिए भावनात्मक मुक्ति के प्रसंग भी रूढ़ शृंगारप्रधान सुखांत नाटक में उस दृष्टि से कम ही आते हैं। इसी-लिए भावनाओं की समानता (Emotional eguilibrium) साधने के लिए विनोद का प्रयोग संस्कृत नाटक में अधिकतर नहीं मिलता और अधिकतर विदूषक को हास्य-निर्मिति का ही कार्य करना पड़ता है।

इसके लिए अपवाद भी हैं। कुछ संस्कृत नाटकों में भावनोद्दीपन का बोझ चरम सीमा पर जाता है कि क्षमता के लिए विनोद के उतार की योजना करनी आवश्यक होती है। 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक में वासवदत्ता की तथाकथित मृत्यु के कारण उदयन का दुःख चरम सीमा पर जा पहुँचता है। अन्तःकरण को पीड़ा देने वाली वासव-दत्ता की स्मृति और पद्मावती के गुणों से सहज प्राप्त सांत्वना का खिंचाव इन दो ध्रुवों

के बीच उदयन व्याकुल हो उठा है। ऐसी स्थिति में चौथे और पाँचवें अंक में विदूषक का विनोद उदयन और प्रेक्षकों के मन का बोझ निश्चित रूप से दूर हटाने में सहायक बनता है।

अस्वस्थ करने वाले दारिद्रय का जो चित्र चारुदत्त ने 'मृच्छकटिक' नाटक के पहले अंक में चित्रित किया है उसको मैत्रेय के शब्द और कृति के हास्यकारक विरोध का साथ मिल जाने से वातावरण की विषण्णता कम हो जाती है। तीसरे अंक में मैत्रेय का घबड़ाकर बकना, अलंकारों की चोरी से उत्पन्न होने वाले भीषण परिणाम से क्षण भर भी क्यों न हो हमें दूर ले जाता है। न्यायालय के दृश्य में मैत्रेय का चिल्लाना और बेढंगी बातों से हँसी आने वाला प्रसंग यदि चित्रित न किया जाता तो चारुदत्त जैसे सज्जन पर आए हुए हत्या का आरोप और अन्धे न्यायासन के सामने सत्य की उड़ायी गयी खिल्ली, प्रेक्षक को देखना असह्य हो जाता।

शाकुन्तल' नाटक के दूसरे अंक में विदूषक के प्रवेश से एक ओर दुष्यंत के गम्भीर प्रणय को विरोधी बल मिलता है तो दूसरी ओर दुष्यंत के सामने उत्पन्न पेची-दगी की व्याकुलता विदूषक के अकल्पित विनोद से कम हुई सी लगती है। चौथे अंक के गम्भीर कारुण्य और पाँचवें के भीषण कारुण्य की सीमा पर विदूषक का प्रवेश होता है। हंसपदिका के महल में विदूषक के साथ होने वाले मजाक का जो काल्पनिक चित्र खींचा गया है उसका हास्य दोनों बाजू के कारुण्य को समतोल रखने की दृष्टि से आवश्यक है। आगे चलकर छठें अंक के विदूषक के विनोद से और मातलि द्वारा पीटे जाने के सूचित दृश्य से सारे अंक पर फैले हुए दुष्यंत की असह्य वेदनाओं की विषण्ण छाया क्षण भर कम हुए बिना नहीं रहती।

भास, शूद्रक और कालिदास को तो भावनोद्दीपन की समानता के कलातत्त्व निश्चित रूप से मालूम थे। विदूषक का उपयोग करके उद्दीप्त भावनाओं को विनोद का उतार (Comic relief) देने का कार्य उन्हें जम गया है।

●●●

१२. विनोद का मर्म

हम देख चुके हैं कि शास्त्रग्रंथों में विदूषक के बारे में काफो जानकारी मिलती है। लेकिन इसमें दो मूलभूत प्रश्न हैं। एक तो यह कि जिस प्रकार के सुखांत या हास्यप्रधान नाटक में विदूषक जैसा विनोदी पात्र आता है उसकी नाट्यबन्ध की चर्चा; और दूसरा यह कि, विनोदी पात्र का कार्य उस विनोद या हास्य की मीमांसा। इन दोनों के उत्तर पूर्ण रूप से संस्कृत साहित्य में मिलना कठिन है। भरत ने और अन्य शास्त्रकारों ने नाट्यरचना के दस प्रकार 'दशरूपक' में वर्णन किये हैं; हर एक का कुछ वर्णन दिया है लेकिन यह चर्चा बहुत ही स्थूल रूप से, ऊपरी तौर पर हुई है। इस कारण नाट्यरचना का बाह्य रूप ध्यान में आने पर भी तत्त्व की प्राप्ति हुई सी नहीं लगती क्योंकि एकाध नाट्यप्रकार में कथा का स्वरूप कैसा हो, नायक किस प्रकार का हो, किन रसों की योजना हो, इस प्रकार का विवरण मिलता है। इनके कारण नाटककार को अपनी रचना करते समय कुछ तत्त्वों की अपेक्षा इनका मार्गदर्शक के रूप में अधिक सहाय होने की संभावना है। उपलब्ध नाटकों की जब इन नियमों के आधार पर परीक्षा करने लगते हैं तब जो गड़बड़ी पैदा होती है उसका मुख्य कारण यही है कि ये नियत प्रमुखतः बाह्य रूपों के बारे में हैं, और कथावस्तु या रचना के प्रवाह में नाटककार उनका पूर्ण रूप में अवलम्ब नहीं कर सका।

विनोद और हास्य की स्थिति ठीक ऐसी ही है। भरत ने विदूषक की हास्य-निर्मित कैसे होती है इसका उल्लेख किया है, हास्यनिर्मिति के लिए नट के लिए दिग्दर्शन किया है, हास्यप्रकार का भी वर्णन किया है और फिर भी हास्य के या विनोद के मूल में कौन से सामान्य तत्त्व हैं इनका स्पष्ट और सुसंगत विवेचन एकाध अध्याय में भी प्राप्त नहीं है। भरत और उनके अनुयायी शास्त्रकारों की बात अलग थी।

तात्त्विक चर्चा की अपेक्षा लेखन और प्रयोग के उपयुक्त नियम ढूँढ़ना ही इनका प्रमुख उद्देश्य था, और इसी अनुरोध से उन्होंने कुछ जानकारी की तात्त्विक विवेचना की, आदि बातें इस संदर्भ में माननी ही पड़ेगी।

लेकिन शास्त्रकारों को और विशेषकर नाट्यवेद की प्रथम सुसंगत रचना करने वाले भरत को तो विनोद या हास्य का मर्म प्राप्त नहीं था ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं। लेकिन यह सत्य है कि इस संबंध के विधानों को ढूँढ़कर फिर उनकी अलग रीति से चर्चा करना आवश्यक है। इतना ही नहीं तो जहाँ ये तत्त्व कम पड़ते हैं या उसमें गड़बड़ी दिखाई देती है वहाँ आधुनिक तत्त्वचर्चा को जोड़कर और जानकारी प्राप्त करके इस मीमांसा को भी ठीक करना आवश्यक है।

यहाँ हमें नाट्यसम्बन्धी चर्चा प्रस्तुत न करके विनोद की चर्चा करनी है। इस-लिए आगे का विवेचन इसी मर्यादा को सामने रखकर किया है।

भरत ने विदूषक की योजना हास्य के संदर्भ में की है, क्योंकि इस पात्र का प्रमुख कार्य हास्यनिर्मिति है। रसाध्याय में जहाँ हास्य का विवेचन किया है[1] वहाँ इस सम्बन्ध में चर्चा मिलती है।

भरत की व्याख्या है कि 'हास' नाम का जो स्थायी भाव है वही हास्य रस की आत्मा है।'[2] 'स्थायी भाव' मनुष्य के पास नित्य होने वाले स्वभावगत भाव हैं। 'हास' यह स्थायी भाव है, इसका मतलब यह कि हँसना यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य की व्याख्या हँसने वाला प्राणी के रूप में पाश्चात्य तत्त्वचर्चा में की गयी है। लेकिन यह हास्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति में या भावना में अनुस्यूत है, अर्थात् यह केवल आंतर धर्म है, इतना ही ऊपरी विधान का अर्थ किया जाय तो वह अधूरा होगा। क्योंकि हास्य केवल मानसिक घटना न होकर वह शारीरिक प्रक्रिया है, उसका सम्बन्ध अपने शरीर ग्रंथि से है।[3] हम जब हँसते हैं तब कुछ शारीरिक व्यापार होता है और मन की भी कुछ शक्ति खुलकर बाहर आती है। हास्य शारीरिक और मानसिक ऐसी जुड़ी प्रक्रिया है।

---

१. नाट्यशास्त्र : गायकवाड, ६. ५६–७४; काव्यमाला, ६. ४९–६१; काशी, ५. ४९–६१।

२. उपरिनिर्दिष्ट : 'अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः।'

३. देखें—व्ही० के० कृष्णमेनन् : 'ए थिअरी ऑफ लाफ्टर' पृष्ठ १५, २७, ४०।

ऐसी कल्पना करें कि हम कोट पहन रहे हैं। अनवधान से यदि कोट उलटा पहना गया या बाँयी बाह दाहिनी में डाली गयी तो यह प्रसंग हास्यास्पद होगा। यदि हमारे सामने ऐसी अवस्था में कोई खड़ा हो तो उसे यह प्रसंग देखकर हँसी आयेगी। वह हमारी इस गलती को दिखलायेगा। तब हम भी हँसने लगेंगे। लेकिन यदि हमें हँसी नहीं आयी तो भी इस प्रसंग के मूल में हास्यास्पदता है और हमारे न हँसने से या हमारे सामने उस वक्त किसी के न होने से नष्ट नहीं होती। उसका अर्थ यही है कि हँसने योग्य प्रसंग होते हैं, और जिसके मन की तैयारी है वह ऐसे प्रसंगों में से हास्य का आस्वाद ले सकता है।[1]

हम क्यों हँसते हैं? इसका जबाब झट से देना कठिन है। लेकिन ऊपरी उदासरण से जो बात स्पष्ट होती है वह यह कि हम किसी की तरफ देखकर हँसते हैं। इसलिए प्रश्न इस तरह से रखा जा सकता है कि हम क्या देखकर हँसते हैं?

इस प्रश्नका भरत द्वारा दिया गया उत्तर नाट्यशास्त्र की चर्चा के अनुरोध से ढूँढ़ना पड़ेगा। शृङ्गार से हास्य उत्पन्न होने का विधान भरत ने किया है।[2] नाटक में शृङ्गारप्रधान नाटक के नायक के सहचर के रूप में विदूषक की योजना की गयी है। संस्कृत नाटक में भी विदूषक का पात्र और उसका विनोद इसी संदर्भ में दिखायी देता है। भरत के उपर्युक्त विधान की दो मर्यादाओं की ओर यहाँ ध्यान देना होगा। एक तो यह कि हास्य का सम्बन्ध केवल शृङ्गार से नियत नहीं है और दूसरी बात यह कि, शृङ्गार के दर्शन से हास्य उत्पन्न हो ऐसा भी नहीं है।

भरत के विधान पर टीका लिखते समय अभिनव ने इन मर्यादाओं को दिखाकर भरत के विधानों का अर्थ स्पष्ट किया है।[3] भरत जब कहता है कि शृङ्गार से हास्य

---

१. देखें—मॅक्स ईस्टमन : 'दी एन्जॉयमेन्ट ऑफ लॉफ्टर,' पृष्ठ ७।

२. देखें—'शृंगाराद्धि भवेद् हास्यो…।' नाट्यशास्त्र, गायकवाड, ६. ४४ काव्यमाला, काशी, ६. ३९।

३. नाट्यशास्त्र, गायकवाड आवृत्ति, ६.४४ पर अभिनवभारती :

(१) 'तथाहि–तदाभासत्वेन तदनुकाररूपतया हेतुत्वं शृंगारेण सूचितम्। …
एवं तदाभासतया प्रकारः शृंगारेण सूचितः।'

(२) 'अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम् …।'

(३) 'तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते।'

उत्पन्न होता है तब शृङ्गार का जो 'रति' स्थायी भाव है वह अभिप्रेत न होकर 'रसा-भास' अभिप्रेत है ऐसा अभिनव ने स्पष्टीकरण दिया है। उसका अर्थ यह है कि 'रति' यह प्रेममूलक भावना मनुष्य जाति की स्वाभाविक नित्य भावना है। जब लेखक इस स्थायीभाव का चित्रण औचित्य से करता है तब वहाँ शृङ्गार रस के दर्शन होते हैं, इस दर्शन से प्रेक्षक को कभी हंसी नहीं आती। लेकिन इस रति के आलंबन के बदलने पर—प्रेम उद्दीप्त करने के कारण बदल जाने पर—और प्रेम के आनुषंगिक भाव ऐसी भावना में निर्माण हो जाय तो वह 'रति' न रहकर रति का आभास 'रत्याभास' होता है। ऐसे रत्याभास से हँसी आती है।

भाव और भावाभास का अन्तर भी महत्त्वपूर्ण है। उसका तत्त्व ऐसा है कि जहां अनौचित्य उत्पन्न होता है वहाँ भाव न रहकर भाव का आभास होता है और उससे हास्यास्पदता आती है।

यदि यह सत्य है तो यह परिस्थिति केवल शृङ्गार में ही दिखायी देगी ऐसी बात नहीं। किसी रस के दर्शन में उचित भाव न दिखाकर भाव का आभास दिखाया जाय तो हास्यनिर्माण हो सकता है। उचित करुण रस के दर्शन से हमारा हृदय भर आता है लेकिन यदि विदूषक अपना मोदक खाने पर रोने लगेगा या ज्यादा बदहजमी होने से शोक करने लगेगा तो यह करुण रस न होकर करुणाभास होगा और ऐसे प्रसंगों में हमें हँसी आ जायेगी। सच्चे भीषण प्रसंग से अपने मन में भय जागृत होगा। लेकिन कोई विदूषक यदि लाठी को या माला को साँप समझकर भय से चिल्लाने लगे तो हमारा मन हँसना चाहेगा, क्योंकि यहाँ वास्तव में भय न होकर भय का आभास मात्र है। इस विवेचन में हास्योद्भव का एक महत्त्वपूर्ण कारण हमें मालूम होता है—अनौचित्य या विपरीतत्व।

विनोदी नट खुद किस प्रकार हँसता है और दूसरों को भी कैसे हँसाता है इसे हास्यरस के संदर्भ में वर्णन करते समय भरत ने कहा है कि उसके 'अलंकार, बर्ताव, बोलना, वेष और शरीर के सारे विकार विपरीत होते हैं, इसमें विकृति होती है, इस-लिए हास्य निर्माण होता है।'[1] अन्यत्र कहा गया है कि विदूषक का बोलना अधिकतर

---

१. नाट्यशास्त्र : गायकवाड, ६. ५८–५९; काव्यमाला, काशी, ६. ४९–५० :

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरङ्गविकारैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ।
विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥

असंबद्ध होता है।[1] 'भरत कहते हैं कि हास्यरस का आविष्कार अधिकतर स्त्रियों और नीच पात्र में ही दिखता है।[2] सभ्य और सुसंस्कृत लोग जोर से नहीं हँसेगे। भरत का अभिप्राय है कि इस समाजमान्य संकेत से हास्य रस का आलंबन 'नीच प्रकृति' पात्र होगा। नाट्य दृष्टि से विदूषक 'नीच पात्र' है। यहाँ स्त्रियों का समावेश करने का कारण भी यही नाट्यसंकेत है। लेकिन ऊपरी वर्णन में भरत द्वारा प्रयोग किये गये विशेषण इस विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। शरीर का बाह्य रूप, वेष, अलंकार, आचार, भाषा आदि बातों में विपरीतता और विकृति आने से हास्य का आत्माविष्कार होता है। यहाँ विपरीतता या विकृति फिर चाहे वह किसी रूप में मिले—हास्य का कारण हो सकती है।

यहाँ तक का विवेचन नाट्यशास्त्र से संकलित होने के कारण शास्त्रशुद्ध हुआ है। लेकिन संस्कृत शास्त्र के नाटक का मुख्य तत्त्व रस मानने से नाट्य प्रकारों का या हास्य का विवेचन रसचर्चा संदर्भ में हुआ है। सुखान्त या दुखान्त नाटकों का द्विविधि वर्गीकरण करके सुखान्त नाटक का स्वरूप बताते समय यहाँ विनोद की या हास्य की उपपत्ति नहीं बतायी है। इसलिए विनोद के अन्य तत्त्वों को ढूँढ़ने के लिए हमें पाश्चात्य मीमांसा की ओर मुड़ना चाहिये।

प्रारंभ में ही बताया गया है कि हास्य का स्वरूप शारीरिक और मानसिक ऐसा द्विविध है। किसी भी रूप में विकृति का दर्शन होने पर जो शारीरिक प्रतिक्रिया होती है उसे हम 'हास्य' कहते है। इस प्रतिक्रिया की जो मानसिक प्रेरणा है अर्थात् विकृति के अवलोकन से हास्यरूप आस्वाद लेने की बुद्धि अपने पास होती है। इसलिए विनोद यह आनन्द धर्म है। जिसके पास यह धर्म है उसे हम 'विनोद बुद्धि का' कहते हैं। इस विनोद बुद्धि का शारीरिक बाह्य आविष्कार ही हास्य कहलाता है। इस अर्थ से हास्य यह बाह्य गुण है।' हास्य का मूलभूत कारण जो विपरीतता या विकृति है वह स्वनिरपेक्ष है, बाह्य है। इसलिए कला में और साहित्य में कुछ विपरीतता के, विकृति के चित्रण

---

१ नाट्यशास्त्र : गायकवाड, २ १३६; काव्यमाला, ५. १२५; काशी, ५. १३७ : 'असम्बद्धकथाप्रायां'।
शिवाय, गायकवाड, १२ १४०–१४१; काव्यमाला, १२. १२३–१२४; काशी, १३. १३६। प्रकरण १०, टिप्पणी २७; पृष्ठ १६१ देखें।

२. नाट्यशास्त्र : गायकवाड, ६. ६०; काव्यमाला, काशी, ६. ५१ : 'स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः।'

होने पर उस कृति को हम 'हास्यप्रधान' कहते हैं। नाट्य की 'कॉमेडी' संज्ञा ऐसे ही निर्माण होती है।

हास्यका स्वरूप बाह्य होने के कारण पाश्चात्य तत्वचर्चा में हास्य की अपेक्षा (laughter) आन्तर धर्म जो विनोद (humour) है उसके अवलंब से चर्चा की गयी है। हास्य विनोद का बाह्य आविष्कार होने के कारण विनोद का स्वरूप मनोनिष्ठ और बाह्यनिष्ठ कल्पित किया जा सकता है। एकाध व्यक्ति को हम 'विनोदी' कहते हैं और एकाध साहित्यिक कृति को भी 'विनोदी' कहते हैं तब विनोद शब्द का हम ऊपरी दोनों अर्थों में प्रयोग करते है।[1]

ऐसा एक मत है कि विनोद का बाह्य अविष्कार जो हास्य है, उसका उद्गम प्राथमिक अवस्था के मनुष्य के विजयोन्माद में ढूँढा जाय। टॉमस् हॉब्ज् ऐसा कहते हैं कि औरों की तुलना में अपने में श्रेष्ठता होने की भावना जब निर्माण होती है, या अपनी ही पूर्व अवस्था की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ बन गये हैं ऐसा जब महसूस होता है, तब अपने ऊपर विजय का एक उन्माद चढ़ता है, यही विजयोन्माद 'हास्य का विकार' है। प्राथमिक अवस्था में मनुष्य का विजयोन्माद शत्रु का काम तमाम कर देने से होता था। शत्रु को खतम करके उसके शरीर पर पाँव रखकर खड़े विजयोन्माद से खिलखिला कर हँसने वाले जंगली मनुष्य का चित्र हम कल्पना से जान सकते हैं। हास्य का प्राथमिक स्वरूप ऐसा ही जंगली था। अर्थात् आगे चलकर जैसे-जैसे संस्कृति की उन्नति होती गयी वैसे-वैसे विजयोन्माद की भावना नष्ट हुई। उसकी जगह दुर्घटना की भावना आ गयीं। वास्तव में वह दुर्घटना नहीं, बल्कि तथाकथित है, जैसे अच्छे कपड़े पहन कर कोई बड़ा आदमी रास्ते पर चलते समय केले के छिलके पर से पैर फिसल कर जब गिर जाता है तब इसे दुर्घटना कह सकते हैं और हमें उस वक्त हँसी आती है।

जिसे जैसा होना चाहिये उसके विपरीत होने पर हास्य उत्पन्न होता है। यही तत्व ऊपरी उदाहरण में है। संस्कृति के प्रवाह में इस विपरीतता, असंगति की कल्पना केवल शारीरिक स्वरूप को नहीं रहती। मनुष्य के पैर फिसलकर गिर जाने से हँसी आती है सो बात नहीं। पोशाक की, बोलचाल की, असंगति का स्वरूप स्थूल बाह्य न रहकर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है और ऐसा होने पर विनोद का क्षेत्र भी विशाल बनता जाता है तथा विनोद के आविष्कार के भेद भी अनेक प्रकार के बनते जाते हैं। विनोदपूर्ण घटना और विनोदी पात्र इस प्रकार से अस्तित्व में आते हैं। आगे संस्कृति का प्रकर्ष होने पर एकाध वस्तु या प्रसंग में असंगति ढूँढने के बदले मनुष्य खुद जीवन में असंगति को ढूँढने लगता है और जब साहित्य में जीवन की असंगति के चित्र

---

१. देखें—स्टीफन् लेकॉक्; 'ह्यमर अॅन्ड ह्यमॅनिटी,' प्रकरण १, पृष्ठ १५–१६।

आते हैं तब उस साहित्य को भी उदात्तता का तेज प्राप्त होता है ।[१] विनोद की यही परिसीमा है ।

विनोद को उत्पत्ति की और क्रमशः विकास की ऊपरी उपपत्ति अनेक विद्वानों को मान्य है । विकृति के हास्य रूप का आस्वाद हम कैसे ले सकते हैं इसके बारे में प्लेटो का किया गया विवेचन भी ऐसा ही है । प्लेटो का कथन है, 'हास्यास्पदता का जो आनन्द हमें होता है वह दूसरों की दुर्घटना को देखकर ही । इस दुर्घटना में बुद्धिपूर्वक भान का संबंध नहीं होता, इसीलिए उसकी प्रतिक्रिया से उस व्यक्ति को प्रत्यक्ष धोखा या जख्म होने की संभावना बिल्कुल नहीं होती । सिर्फ अपने में ही एक प्रकार की दुष्टता होती है, दूसरों की दुर्घटना देखकर हँसी आने के लिए ऐसी दुष्टता की आवश्यकता है ।'[२]

इस उपपत्ति में विनोद के आस्वाद के लिए मानवी स्वभाव में दुष्टता की आवश्यकता स्वीकृत की है जिसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक बिलकुल नहीं मानते । विनोद का विशुद्ध आनन्द हम उठा सकते हैं, ऐसे आनन्द के उदाहरण कला और साहित्य में में मिलते हैं, यही इसका मुख्य कारण है ।

खुद अरस्तू प्लेटो के विचारों से सहमत नहीं हैं । उसकी 'कॉमेडी' की व्याख्या इस प्रकार है, 'नीच प्रकृति के पात्रों की अनुकृति ही कॉमेडी है······नीच शब्द से स्वभावतः दुष्ट प्रकृति का अर्थ न लिया जाय क्योंकि हास्यास्पदता यह विकृति का ही एक उपविभाग है । उसमें एकाध दोष या विकृति का समावेश होता है, लेकिन उसका स्वरूप दुःखद या घातक नहीं होता ।[३]

अरस्तू ने प्लेटो की बतायी 'दुष्टता' को अपनी परिभाषा में नहीं लिया, वह

---

१. **देख—स्टीफन् लेकॉक्, उपरिनिर्दिष्ट; प्रकरण ६ ।**

२. **प्लेटो : फिलेबस् पृष्ठ ४८–५० :**

'The pleasure of the ludicrous springs from the sight of another's misfortune, the misfortune, however, being a kind of self-ignorance, that is powerless to inflict hurt. A certain malice is here of the essence of comic enjoyment.'

३. **देखें—अॅरिस्टॉटल्, 'पोएटिक्स्'; बुचर का अनुवाद; विभाग ५, पृष्ठ २१ (चौथी आवृत्ति) ।**

'Comedy is .. an imitation of characters of a lower type,—not however, in the full sense of the word bad, the ludicrous being a subdivision of the ugly. It consists in some defect or ugliness which is not painful or ugly.'

अरस्तू के आधुनिक टीकाकारों को[1] महत्त्वपूर्ण लगता है। इसका अर्थ यह है कि, विनोद के आस्वाद की मीमांसा करते समय, शत्रु को पीड़ा देकर उस आनन्द से उन्मादित प्राथमिक जंगली मनुष्य के हास्य को जैसे ध्यान में नहीं लिया जा सकता उसी तरह, दूसरों की दुर्दशा देखकर सुसंस्कृत मनुष्य को मिलने वाले समाधान की दुष्ट हँसी भी विचार में नहीं ली जा सकती। त्रुटियों का या विकृति का स्वरूप दुःखद या घातक नहीं होता ऐसा जो अरस्तू ने कहा है वह हास्य का आलंबन बने हुए व्यक्ति को उद्देश्यकर ही। इसके उदाहरणस्वरूप अरस्तू ने विनोदी पात्र के पहनने के मुखौटे का उल्लेख किया है। यह मुखौटा विकृत और हास्यास्पद होता है, लेकिन उसे पहनने से उस व्यक्ति को कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचती। उसी प्रकार 'घातक नहीं होता' ऐसा कहते समय भी प्रेक्षक की वृत्ति हिंसक न होकर इसके विपरीत सहानुभूति की होती है।

हास्यास्पदता के मूल कारण के रूप में अरस्तू ने 'विकृति,' 'त्रुटियों का उल्लेख किया है। अरस्तू का यह विधान भरत के विधान से मिलता जुलता है। दोनों भी असंगति या विकृति को हास्य का मूल मानते हैं और ऐसा बताते हैं कि हास्य का आविष्कार नीच प्रकृति के पात्रो में होता है।

अरस्तू और भरत द्वारा बतायी गयी विकृति का मूल शारीरिक, बाह्य स्वरूप का होने पर भी उसका इतना ही मर्यादित अर्थ न लेकर, मानवी स्वभाव की त्रुटियाँ आचार-विचार के प्रमाद और असंगति का भी उनमें समावेश करना आवश्यक है। अरस्तू ने सौन्दर्य की परिभाषा जैसे व्यापक रूप में दी है उसी प्रकार विकृति की भी व्यापक परिभाषा दी जा सकती है। मानव के बौद्धिक और नैतिक जीवन की असंगति, हास्यास्पदता, विरोधी कल्पनाओं से होने वाली खींचातानी, जीवन के प्रमाद और द्वन्द्व, अपूर्णता और समझौता आदि सारी बातों का अंतर्भाव विकृति के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

इस विवेचन से वह ध्यान में आता है कि विनोद या हास्य का कारण असंगति है। अर्थात् इस असंगति में शारीरिक असंगति से लेकर बौद्धिक और नैतिक असंगति तक याने जीवन की सारी असंगतियों का समावेश होता है। भरत ने चाहे 'विपरीत' शब्द का प्रयोग किया हो या अभिनव ने स्पष्टीकरण देते समय 'अनौचित्य' शब्द का उपयोग किया हो और अरस्तू ने 'त्रुटियाँ,' 'विकृति' शब्दों का प्रयोग किया हो सर्वत्र मूल कल्पना एक ही है।

---

१. देखें—बुचर, 'ॲरिस्टॉटल्स् थिअरी ऑफ् पोएट्री ॲन्ड् फाइन आर्ट्,' पृष्ठ ३७५।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी पड़ती है कि हास्यास्पदता में हमेशा कुछ विकृति या कुछ असंगति होती है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि विकृति या असंगति हमेशा हास्यास्पद होती है।[1] इसका मतलब तो सिर्फ इतना ही है कि एकाध बात की असंगति हास्यास्पद लगने के पहले उसका भान होना चाहिए। इसलिए प्रथम बात यह है कि असंगति का भान होता चाहिए। इससे स्पष्ट है कि ऐसा भान होने के लिए तेज बुद्धि की आवश्यकता है। मेरेडिथ् कहता है कि 'विनोदी लेखक केवल पेट में और बाहों में गुदगुदी करके नहीं रुकता बल्कि उसका लक्ष्य सिर (बुद्धि) होता है।[2] यहाँ मेरेडिथ् को यह सुझाना है कि सच्चे विनोद का स्वरूप बुद्धिनिष्ठ होता है। बर्गसाँ ने भी ऐसा ही मत प्रकट करते हुए कहा है कि बुद्धिनिष्ठता के बगैर विनोद का आकलन नहीं हो सकता।

यह विषय निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। जीवन में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं। एक प्रवृत्ति यथार्थवाद की होती है; अर्थात् जीवन में जो बातें या घटनाएँ जैसी हैं वैसे ही रहती हैं, उनका स्वरूप ऐतिहासिक क्रम से निश्चित हुआ है, उन्हें बदलना असंभव है ऐसा मानने वाली एक प्रवृत्ति हैं। लेकिन इस वस्तुनिष्ठ स्थिति में मर्यादा है, त्रुटियाँ हैं; इसको अनुभव करके जीवन की बातों को और घटनाओं को मनुष्य अपनी कल्पना के अनुसार अलग ढङ्ग से उनकी रचना करता है, अपने मन के अनुसार उनकी रचना करता है, यही प्रवृत्ति बुद्धिनिष्ठ कहलाती है।

जीवन की ओर देखते समय यदि हम वस्तुनिष्ठ दृष्टि का अवलंब करें, तो ज्ञान होगा कि जीवन की बातें और घटनाएँ इतनी अटल हैं कि उनमें बदल करना मनुष्य की शक्ति के परे की बात माननी होगी; तब यह वृत्ति वस्तुनिष्ठ बनेगी। दुःखात्म साहित्य का जन्म इस वृत्ति से होता है। यदि जीवन की वास्तविक बातों और घटनाओं की मर्यादा, कमियाँ आदि का अनुभव करके उनके साथ समझौता करने की तैयारी न हो और उनका स्वरूप बदलने की दृष्टि से प्रहार करने लगे तो हमारी वृत्ति बुद्धिनिष्ठ हो जाती है। यह एक विद्रोही वृत्ति है। विनोदी साहित्य इसी वृत्ति से निर्मित होता है।[3]

इसका मतलब यह हुआ कि असङ्गति को जानकर विद्रोही वृत्ति निर्मित होती है और उससे विनोद उत्पन्न होता हैं। विद्रोही वृत्ति तर्कनिष्ठ एवं बुद्धिनिष्ठ है। इसे ध्यान में लेने पर, 'विचारकों को जीवन विनोदी लगता है, भावना से देखने वालों को

---

१. देखें—बुचर, उपरिनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३७६।
'Although the ludicrous is always incongruous, yet the incongruous is not always ludicrous.'

२. जॉर्ज् मेरेडिथ्, 'ॲन् एसे ऑन् कॉमेडी'; पृष्ठ ८

३. देख—जेम्स् फीबलमन्; 'इन् प्रेज ऑफ् कॉमेडी', पृष्ठ १६१ और आगे।

यह दुःखात्मक लगता है।'[1] ऐसा जो कहा जाता है उसका अर्थ समझ में आ जाता है। विनोदी वृत्ति और बुद्धिनिष्ठता का निकट सम्बन्ध यहाँ स्पष्ट होता है।

इस दृष्टि से विनोद वृत्ति और बुद्धिनिष्ठता अलग नहीं है। जान्सन ने कहा है कि मनुष्य विनोद को कितना चाहता है इससे उसकी बुद्धिमत्ता का अन्दाजा लगाया जा सकता है।[2] मेरिडेथ् यहाँ तक कहता है कि केवल जीवन में असंगति ढूँढ़ने की दृष्टि लेखक के पास होने से काम नहीं चलता लेकिन वैसी ही दृष्टि और बुद्धि की चालाकी पाठकप्रेक्षक में नहीं होगी तो उन्हें विनोदी चित्रण का आस्वाद नहीं मिलेगा।[3]

लेकिन विनोदी वृत्ति की बुद्धिनिष्ठता का आधार आवश्यक होने पर भी विनोद की, अर्थात् उसके पीछे की असङ्गति की जानकारी शांत चिंतन से न होकर आकस्मिक, रीति से होती है। जीवन की असंगति के शान्त चिन्तन से चिन्तनात्मक तत्वज्ञान-पूर्ण साहित्य निर्माण होगा, लेकिन झटसे असङ्गति के अनुभव होने पर यकायक हमारी दृष्टि में आने पर, विनोद करने की इच्छा होती है, हँसी आती है। एकाध अनपेक्षित धक्के के सामने एकाध असङ्गति हमारी दृष्टि में आती है। असंगति के अचानक भान के लिए हमेशा हमारे मन को जागृत रहना चाहिए; और वह एक ही जगह न अटक कर उसमें झट से अनेक बातों को ग्रहण करने की शक्ति होनी चाहिए। ऐसा न हो तो जीव की असंगति का आकलन विनोदी स्वरूप में होकर हँसने की हँसाने की वृत्ति निर्माण नहीं होगी।

अभी तक किये विवेचन से विनोद के मर्म को विशद करने वाली दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं; एक बुद्धि की तीव्रता : विनोदी लेखक हो नहीं बल्कि उसके द्वारा निर्मित विनोदी पात्र भी बुद्धिमान्, व्यावहारिकता से परिपूर्ण दिखायी देते हैं। विनोद का आविष्कार हँसी लाने वाला होने पर भी उसके पीछे कितनी बुद्धिमत्ता है, जीवन का कितना गहरा ज्ञान है, इसका मर्म समझ सकते हैं। विनोद के लिए आवश्यक ऐसी दूसरी बात है आकस्मिकता। चिंतनशीलता से विनोदनिर्मिति नहीं होती। इसलिए मन को एक ही जगह में न फँसकर हर चीज को ढूँढते रहना आवश्यक है; जिससे अनेक जगह छिपी हुई असंगति को अचानक जानकर हँसी आने लगती है। इसलिए विनोद का

---

१. देखें—'This world is a comedy to those who think, a tragedy to those who feel.' होरेस वॉल्पोल।

२. 'The size of a man's understanding may be justly measured by his mirth.'
व्ही० के० कृष्णमेनन् के 'ए थिअरी ऑफ् लाफ्टर' से उद्धृत, पृष्ठ ४३।

३. मेरेडिथ्, उपरिनिर्दिष्ट; पृष्ठ ८।

आवश्यक अंग है 'मन के वेग से भटकने की वृत्ति।' गोराथ ने इस वृत्ति को कहा है कि 'मन की हनूमान कूद (फाँदने की शक्ति)।'

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मत से विनोदी वृत्ति का और एक अंग—अलिप्तता है। लेकिन इस अलिप्तता का मतलब निर्विकार, उदासीन वृत्ति नहीं है जीवन में मूर्खता इतनी भरी होती है कि उसको हर कदम पर महसूस करने पर हमें सन्ताप आयेगा, तिरस्कार या द्वेष निर्माण होगा, या हमारा मन खिन्नता से भर जायेगा। हम इसे जानते हैं कि इन मानसिक अवस्थाओं का आविष्कार साहित्य में ही होता है। लेकिन कुछ ऐसी प्रतिक्रिया नहीं होने देने पर, जोवन की मूर्खता और असंगति का यदि हम बौद्धिक स्तर से निरीक्षण करें तो सन्ताप, द्वेष, खिन्नता आदि भावनाएँ निर्माण होने के बदले, जीवन के सारे स्तरों पर होने वाली मूर्खता देखकर निश्चित ही हमें हँसी आ जायेगी। जीवन से पराङ्मुख होकर नहीं, बौद्धिक ऊँचाई पर जाकर नीचे के जीवन की ओर तटस्थ वृत्ति से देखना ही अलिप्तता का अर्थ है। इस अलिप्त्ता से विनोद का निर्माण होता है। विनोदी वृत्ति से निर्माण होने वाले हास्य से एकाध व्यक्ति की हँसी उड़ाने का उद्देश्य नहीं होता। यह वृत्ति सभ्य है। वह मन ही मन हँसती है क्योंकि इस असंगति से हँसी आती है और वह मन के द्वारा अनुभूत होती है। इसलिए अधिकतर यह हँसी ओठों में ही रहती है।

मेरेडिथ् ने विनोद के आदि देवता का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। उनका कथन है : विनोद के आदि देवता बुद्धि की तेजस्वी ऊँचाई से नोचे जीवन की ओर मार्मिकता से देखते हैं। उनकी मुद्रा ज्ञानी की है लेकिन उनकी आँखों में नटखटपन की चमक है। मानवी जीवन पर नटखटपन की तिरछी नजर डालते हैं क्योंकि वे मानवप्रेमी हैं। इसलिए पीछे से आने वाला हास्य चाँदनी की तरह बरसता है।[1]

ऐसा विनोद आदर्श विनोद है। इस विनोद में सहानुभूति अपरिहार्य होती है। प्रथम जंगली मनुष्य के हर्षोन्माद से आज के प्रगतिशील मनुष्य के 'चांदनी' हास्य तक जो विकास हुआ है वह विकसित संस्कृति के बिना असंभव था। विनोद और सहानुभूति की जोड़ी हो जाने से विनोद को जैसे अर्थघनता प्राप्त हुई वैसे ही विनोद की कक्षा भी बढ़ती गयी। विनोद समृद्ध हुआ है। उसकी मिठास कई गुना बढ़ गयी। सहानुभूति के कारण जीवन की गम्भीर वस्तुस्थिति की ओर विनोदबुद्धि से देखने की आज संभावना

---

१. The Comic spirit is 'a Spirit overhead; luminous and watchful; having the sage's brows and the snnny malice of a faun, looking humanely malign and casting an oblique light on humanity, followed by volleys of silvery laughter.

मेरेडिथ्, उपरिनिर्दिष्ट; ८८–९० :

निर्मित हुई है। जीवन के अंतस्तल में छिपी हुई असंगति और हमेशा की आदत से न भासने वाली असंगति को सहानुभूति की सहायता से ढूँढना आज सम्भव हुआ है। इस वेधक दृष्टि से जीवन के हँसी और आँसू दोनों की प्रतीति होती है। विनोद को करुणा का साथ मिला है।[1] मानवी प्रेम से परिपूर्ण आज का विनोदी नाटक सहानुभूति और विनोद के साहचर्य से निर्मित हुआ है।

विनोदी साहित्य के आवश्यक गुणों के रूप में अलिप्तता और सहानुभूति का उल्लेख किया गया है। इन गुणों का सम्बन्ध विनोद के उद्दिष्ट के साथ है। विनोदी साहित्य आलोचनात्मक होता है। मेरेडिथ् के अनुसार इनका कार्य मानवी जीवन के रोग का निदान करना है। उनके विचार से विनोदी लेखक और दार्शनिक भाई-भाई हैं; क्योंकि दोनों ही जीवन दृष्टि प्राप्त करा देते हैं। विनोदी साहित्य विद्वत्तापूर्ण रहता है। विनोदी दृष्टि से मानव में बन्धुभाव का निर्माण होता है क्योंकि, विनोद से निर्माण होने वाली व्यावहारिक सूझ को समझ लेने पर मनुष्य एक दूसरे के अधिक निकट आते हैं। विद्वेषी आलोचक जीवन से पराङ्मुख होता है। लेकिन विनोदी आलोचक जीवन के अधिक निकट जाता है। विनोद का मुक्तहास्य ही एक दृष्टि से सुसंस्कृति का लक्षण है। जहाँ विकसित संस्कृति नहीं है वहाँ सच्चे अर्थ से विनोदी साहित्य भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। लेकिन इससे यह भी मालूम होता है कि, सच्चे विनोदी साहित्य का उद्दिष्ट मनुष्य को हँसाकर विचारप्रवण करना ही है।[2]

बर्गसाँ कहता है कि प्रचलित सामाजिक रस्म-रिवाज से अलग दिखायी देने वाले व्यक्ति या प्रसंग से असंगति का भान होता है। व्यक्ति में असंगति दिखाई देती है। अर्थात् वह व्यक्ति खुद ही अक्कड़ता से घूमता है; प्रचलित कल्पनाओं के साथ समझौता करने की उसकी वृत्ति नहीं होती, खुद की प्रेरणा से वह अपने ढंग से बर्ताव करता है। इसी प्रकार की यांत्रिकता जीवन में आ जाने पर उसमें असंगति आती है। बर्गसाँ के मत से इस एकांगिता पर आलोचना का प्रकाश डालकर उसकी हास्यास्पदता प्रकट करना ही विनोद का कार्य है। एकाध व्यक्ति जीवनप्रवाह से इतनी दूर हो कि खुद को अपनी विचित्रता महसूस न हो, हमेशा के हर्षामर्ष के प्रसंग, व्यावहारिक जीवन की हमेशा लेन-देन, सामुदायिक जीवन की हर एक पर होने वाली जिम्मेदारी आदि बातों की ओर उस व्यक्ति का ध्यान न हो इसमें ही आश्चर्य है। ऐसे व्यक्ति की आलोचना करना, प्रसंग आने पर मर्मभेदक प्रहार करना विनोद के ही कार्य हैं।

---

१. देखें—बुचर, 'ॲरिस्टॉटल्स् थिअरी ऑफ् पोएट्री ॲन्ड् फाइन् आर्ट्,' पृष्ठ ३८५-३८६।

२. देखें—मेरेडिथ्, उपरिनिर्दिष्ट; पृष्ठ २८, ३०, ६६, ८८, ९१, ९३, ९४।

इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि जीवन की एकांगी दृष्टि सुधारने के लिए विनोदी हास्य काम आता है।[1]

इस प्रश्न का विचार करना आवश्यक है कि विनोदी साहित्य के रूप में जो सामने आता है उसका परामर्श लेते समय विनोद के ऊपर बताये सारे तत्त्व आ ही जायँ ऐसा आग्रह करना कहाँ तक उचित होगा ? यह विचार मुख्यतः अलिप्तता, सहानुभूति और विनोद के उद्दिष्ट के सम्बन्ध में करना पड़ता है।

यह स्पष्ट है कि मेरेडिथ् और बर्गसाँ को विनोद की सामाजिक भूमिका अभिप्रेत है। मेरेडिथ् के सामने विनोदी साहित्य का आदर्श स्वरूप है। वह मुख्यतः—सामाजिक रस्म रिवाज का परिहास जिसमें रहा है, उस साहित्य के बारे में बोलता है। मोलिएर जैसा नाटककार उसका आदर्श विनोदी लेखक है। तात्त्विक भूमिका से हम ऐसा मान सकते हैं कि मेरेडिथ् के कथनानुसार, आदर्श विनोद में मुक्त हास्य हो। उसमें दुष्टता की भावना, तिरस्कार की बुद्धि या सन्ताप न हो। विनोदी हास्य में मानव के बारे में प्रेम तथा सहानुभूति हो; इससे मानवजाति हास्य के स्तर पर एक जगह आ सकेगी और आपस में विद्वेष बर्ताव करना छोड़ देगी।

विनोदी साहित्य के परिशीलन से हमें मालूम होता है कि विनोद यह सामाजिक और नैतिक सुधार करने का साधन है। इस भूमिका से साहित्य निर्माण करने वाला विनोदी लेखक क्या हमेशा सहानुभूति से लिख सकता है ? मेरेडिथ् के अनुसार विनोदी हास्य में अलिप्तता होनी चाहिए; लेकिन बर्गसाँ मानते हैं कि वैयक्तिक जीवन की और सामुदायिक जीवन की असंगति और एकांगीपन प्रकट करने के लिए विनोद का उपयोग करना हो तो विनोदी लेखक को प्रसंगानुकूल प्रहार भी करना पड़ेगा। समाज सुधार के लिए विनोद का शस्त्र उठाने वाले साहित्यक कभी कभी जीवन की विकृति की हँसी उड़ाते हैं, उस पर मर्मभेदक आलोचना करते हैं, उस पर उपरोध द्वारा प्रहार करते हैं। इन सब का उद्देश्य यही होता है कि असंगति या विकृति को लोगों के सामने लाकर उनमें सुधार हो लेकिन विनोदी लेखन इस पद्धति से करने पर उसमें तात्त्विक अलिप्तता या सौम्य सहानुभूति प्राप्त होना कठिन है।

क्या यह बात ठीक है कि विनोदनिर्मिति में हमेशा कुछ न कुछ प्रयोजन होता ही है ? एकाध बार ऐसी घटना होती है जिससे तत्काल मुक्त हँसी आ जाती है। ऐसे हास्य में जैसे मानवी प्रेम या सहानुभूति का सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार समाज

---

१. बर्गसाँ की हास्यमीमांसा अनेक-जगह मिलेगी। फीबलमन् का 'इन् प्रेज् ऑफ् कॉमेडी' ग्रंथ देखें। या जार्ज गॉर्डन् के 'शेक्सपीरिअन कॉमेडी' किताब में (पृष्ठ ८) बर्गसाँ की उपपत्ति का सार दिया है, उसे देखें।

सुधार का भी उद्देश्य नहीं होता। कुछ असंगति अचानक अनुभूत होकर हमें केवल मन से हँसी आती है। इस प्रकार का निरुद्देश्य, मुक्त विनोद साहित्य में मिलता ही है। जिन लेखकों ने ऐसा विनोद निर्माण किया है उनकी श्रेष्ठता के बारे में किसी प्रकार का सन्देह नहीं। इतना ही नहीं तो विशिष्ट उद्देश्य से किया हुआ विनोद और केवल मजे से किया हुआ मुक्त हास्य दोनों का संगम अधिकतर श्रेष्ठ विनोदी लेखकों की कलाकृति में मिलता है।

इसी प्रकार शारीरिक विकृति या कुछ कमियों के कारण आने वाला हास्य, जान-बूझकर एकाध का किया हुआ मजाक, एकाध की कुछ गलती या मजाक होने पर हँसने की प्रवृत्ति आदि बातें सुसंस्कृति की द्योतक नहीं है। लेकिन ऐसी बातें हास्यास्पद हैं और उनका चित्रण विनोदी साहित्य में होता ही है।

इसका मतलब यह हुआ कि अलिप्तता, सहानुभूति आदि गुणों का उपयोग विनोद के आविष्कार की मर्यादा डालने की ओर न करके विनोद का स्तर बढ़ाने के लिए करना चाहिए। जिस विनोदी साहित्य में उपर्युक्त गुण मिलते हैं उसे उच्च स्तर का साहित्य कहना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही अन्य विनोद को भी अवसर देना चाहिए। विनोद का जिस प्रकार एक उदात्त ध्येय है उस प्रकार केवल हँसाने के लिए किए गये विनोद को भी हमें मान्य करना चाहिए। तात्विक चर्चा में उच्च नीचता का निकष निश्चित करना चाहिए लेकिन एकाध को निम्न दर्जे का कहकर उसके आविष्कार पर मर्यादा डालकर साहित्य को सीमा को संकुचित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मान्य विनोदी लेखकों का विनोदी साहित्य देखने पर इतनी तत्त्व चर्चा काफी लगती है।

• • •

१३.

विदूषक का विनोद

विनोद में समाविष्ट असंगति शारीरिक, यथार्थ, मानसिक और सामाजिक इस प्रकार अनेक स्तरों पर दिखायी देती है।[1] विनोदी लेखक ऐसे एक या अनेक असंगतियों का उपयोग हास्यकारक चित्रण के लिए करता है। इस चित्रण का स्वरूप क्या होगा और उससे किस प्रकार का विनोद निर्माण होगा यह लेखक ने अपने मन में जो भूमिका निश्चित की होगी उस पर अवलंबित रहेगा। मतलब यह कि, एकाध असंगति या विकृति चुनकर अगर लेखक ने केवल हँसी उड़ाने का ही सोचा हो तो उस विनोद को ,परिहास,' 'उपहास' या 'विडंबन' का स्वरूप प्राप्त होगा। उसमें नटखटपन होने पर वह 'आलोचनात्मक विनोद' होगा। व्याजस्तुति हो तो वह 'उपरोध' या 'वक्रोक्ति' होगी। लेकिन यदि ढोंग को प्रकट करने के लिए या सरल रूप से मजाक उड़ाने के लिये, या प्रहार करने के लिए इस प्रकार के किसी भी हेतु से हास्यास्पदता का वर्णन करते समय हास्य के आलंबन के बारे में मन में अनुकंपा और सहानुभूति जागृत हो तो वह 'परिणत विनोद' होगा। ऐसे विनोद को 'कॉमेडी' का स्वरूप प्राप्त होता है।[2]

लेखक की भूमिका का विचार न करके केवल साहित्य में होने वाले विनोद का स्वरूप देखना हो तो 'शब्दनिष्ठ,' 'प्रसंगनिष्ठ' और 'व्यक्तिनिष्ठ' विनोद के ऐसे त्रिविध रूप सामने आते हैं। यहाँ विनोद का वर्गभेद करने का उद्देश्य नहीं है। वास्तव में विनोद के प्रवाह में कई बार अलग-अलग भूमिका और प्रकार की ऐसी खिचड़ी रहती

---

१. देखें—जेम्स फीबलमन्, 'इन प्रेज श्राफ कॉमेडी'; पृष्ठ १९५।

२. देखें—मेरेडिथ्, 'ऑन एसे ऑन कॉमेडी'; पृष्ठ ७९–८०।

है कि एकाध विनोदी लेखन का स्वरूप वर्गभेद द्वारा निश्चित करना कठिन हो जाता है। यहाँ विनोद में कितनी विविधता हो सकती है इतना ही दिखाना है।

पहले कहा गया है कि असंगति का अचानक भान होने पर हास्यनिर्माण होता है। इसका ज्ञान दो प्रकार से होता है; जहाँ हम विरोध मानते हैं वहाँ अचानक साम्य मिलता है और जहाँ साम्य का भास होता है वहाँ अचानक विरोध का ज्ञान होता है।[1] इस ज्ञान से जब लेखक लिखने लगता है तब इच्छित स्थान की जगह एकाध बात का वह अनपेक्षित अभाव दिखाता है। इसे 'न्यूनोक्ति' कहा जा सकता है। या जहाँ एकाध बात हो सकती है जिसकी कल्पना हमें नहीं दिखती है वहाँ उसका वर्णन लेखक अनपेक्षित रीति से करता है तो वह 'अतिशयोक्ति' कहलाती है। विनोदी लेखकों को अतिशयोक्ति अधिक पसन्द है। शायद उसका प्रयोग करना बहुत आसान होगा। लेकिन अतिशयोक्ति का अवलंब करके सामाजिक रस्म-रिवाज, संस्था और व्यक्ति, सामाजिक और नैतिक कमियाँ आदि बातों का मार्मिक उपहास विनोदी लेखकों ने किया है।[2]

विनोद के आविष्कार के ये सब प्रकार और विनोद के अंगभूत तत्त्व इनके अनुरोध से अब विदूषक का परीक्षण करना है। संस्कृत नाट्यसाहित्य का विचार दस से बारह शताब्दियों तक फैला है। इतने विस्तार में विनोद के विविध रूप और प्रकार विदूषक के चित्रण के साथ साथ अंशतः प्रकट हुए हों तो आश्चर्य नहीं है।

भरत और अरस्तू इन दोनों ने शारीरिक विकृति को हास्यचित्रण का एक अंग माना है। शेक्सपिअर ने जिस प्रकार फाल्स्टाफ् जैसे कल्पनातीत मोटे आदमी को दिखाया है वैसे संस्कृत नाटककारों ने भी, भरत के विधान के अनुरोध से; विदूषक में कुछ शारीरिक विकृति दिखाकर हास्यनिर्माण किया है।[3] यह विनोद शारीरिक विकृति का विनोद है।

विदूषक के आंगिक और आहार्य अभिनय से उत्पन्न होने वाला हास्य बाह्य विनोद में आ जाता है। विदूषक का वेष कालक्रम से बदलता गया फिर भी उसमें कुछ हास्यास्पद अंश दिखायी देता रहा है। उसी में विदूषक ने खुद स्त्री होने का स्वाँग किया, या स्त्रियों की तरह घूँघट में मुँह छिपाकर नखरे से चलने का अभिनय दिखाया तो हँसी आने में विलंब नहीं होगा।[4]

---

१. बुचर, 'ॲरिस्टाटल्स् पोएटिक्स', पृष्ठ ३७५–३७६।

२. जेम्स फीबलमन्, उपरिनिर्दिष्ट; पृष्ठ १८१।

३. 'विदूषक का स्वाँग' यह तीसरा प्रकरण देखें, पृष्ठ ४५–५४।

४. 'विदूषक की भूमिका और कार्य' यह दसवाँ प्रकरण देखें, पृष्ठ ९८–११५।

मानसिक विनोद का स्वरूप स्वभावतः मिश्र और विविध है। कुछ नाटककारों ने कुछ विदूषकों में अस्थिरता; अनाडीपन या पागलपन को दिखाया है। एकाध बात उनसे कहने पर भी वे नहीं समझते। एक बात पूछने पर उसका उत्तर कुछ और आता है। इस प्रकार की घटनाओं से उत्पन्न होने वाले विनोद का स्वरूप् मानसिक है; क्योंकि उसका सम्बन्ध आंतरिक कमियों से है। दुष्यंत अचानक शकुन्तला के प्रेम में फँसा है। इसके बारे में आगे क्या किया जाय इसके लिए वह विदूषक से सलाह देने के लिए कहता है, 'मुझे तुम्हारी मदद की जरूरत है। विदूषक झट से कहता है, मोदक खाने में ही न ? वाह ! वाह !! एकाध क्षुद्र बात से झट से उत्तेजित होकर अपने विकार अतिशयोक्ति की पद्धति से व्यक्त करने की वृत्ति मानसिक अस्थिरता का प्रतीक है। 'रत्नावली' के विदूषक का तालियाँ पीटना, चुटकी बजाना या रंगमंच पर नाचना आदि बातें इस प्रकार हास्यकारक बनती हैं। विदूषक का डरपोकपन एक मानसिक कमी के रूप में, और डर के प्रत्यक्ष आविर्भाव से, दोनों रीतियों से हास्य का निर्माण होता है। विदूषक के पेटू स्वभाव का भी विनोद इसी प्रकार द्विविध है। सुखासीन वृत्ति यह आंतरधर्म है। अधिकतर विदूषक कष्ट नहीं चाहता, शारीरिक आराम में व्यत्यय नहीं चाहता। ऐसे उल्लेखों से व्यक्त होने वाला विनोद मानसिक विनोद में समाविष्ट हो सकता है।

विदूषक के चित्रण से स्पष्ट दिखायी देने वाला, सामाजिक स्वरूप का विनोद दो प्रकार से प्रकट होता है। विदूषक के पात्र में ब्राह्मण जाति का हँसी-मजाक आ जाता है। इसके अलावा, किसी की भी हँसी उड़ाने का जो स्वभावसिद्ध अधिकार है उसमें सामाजिक और नैतिक असंगति का मार्मिक परिहास वह करना ही है। यह सत्य है कि विदूषक खुद ही हास्य का आलंबन है और राजा के अंतःपुर के छोटे विश्व में वह घूमता रहता है। इस कारण उसका विनोद एक अपरिहार्य मर्यादा में बँध जाता है। फिर भी कुछ विदूषकों के शब्दों में व्यापकता दिखायी देती है। कालिदास के विदूषकों ने राजा के प्रेम की बातें, अतःपुर के द्वेष और झगड़े, दरबारी चापलूसी आदि बातों पर अपने मार्मिक विनोद द्वारा काफी प्रकाश डाला है। विशिष्ट वेशभूषा का जो धार्मिक बन्धन है उसके बारे में जाते जाते भास का संतुष्ट मजाक करते जाता है।[१] शूद्रक का मैत्रेय तो सामाजिक दिल्लगी उड़ाने वालों का बादशाह है। नाट्यकथा की स्वाभाविक मर्यादा के कारण ही गणिका और वेश्याजीवन मैत्रेय के उपहास के विषय बन चुके हैं। लेकिन उसके अवलोकन के लिए वैसी मर्यादा नहीं है। वह जो

---

१. **अविमारक : ५. ४-२६-२७ 'आम भवति। यज्ञोपवीतेन ब्राह्मणः, चीवरेण रक्तपटः। यदि वस्त्रमपनयामि श्रमणको भवामि।'**

जो सामने देखता है उस पर अपनी जीभ चलाता है और विनोद की चिनगारियाँ निर्माण करता है।

इस विनोद का स्वरूप शाब्दिक है। विदूषक के मार्मिक उद्‌गारों से वह प्रकट होता है। संस्कृत नाटक का स्वरूप बहुत ही मर्यादित होने के कारण सामाजिक रस्मो-रिवाजों का मार्मिक उपहास करने के लिये वहाँ अवकाश कम ही मिलता है। यह क्षेत्र प्रकरण-नाटक को और विशेषतः उत्तरकालीन प्रहसन को मुक्त था। लेकिन अभिजात नाट्यसाहित्य में सामाजिक रस्मोरिवाज पर अधिक जोर न देने पर भी उसमें शाब्दिक विनोद और मार्मिक परिहास को अवकाश मिला है।

शाब्दिक गड़बड़ी के उदाहरणस्वरूप, 'स्वप्नवासवदत्त' के विदूषक द्वारा राजा का नाम नगर को और नगर का नाम राजा को देना; दिया जा सकता है।[1] यही विदूषक अपने पेट की गड़बड़ी का वर्णन करते समय कहता है, 'मम कोकिलानां अक्षिपरिवर्त इव कुक्षिपरिवर्तः संवृत्तः। इन शब्दों में 'अक्षि' और 'कुक्षि' इन शब्दों का लयपूर्वक अनुप्रास तो है ही लेकिन 'परिवर्त शब्द के श्लेष से (आँखे घुमाना, पेट में गड़बड़ी होना) और विनोदनिर्मिति होती है; उसी में बोलने की गड़बड़ी में विदूषक द्वारा काक के बदले कोकिल का उल्लेख ध्यान में आने पर फिर हँसी आती है। ऐसा माना जाता है कि कौवे की एक ही आँख होती है और वह उसे दोनों ओर घुमाता है लेकिन विदूषक कहता है कि कोकिल की आँख जैसे घूमती है .उसी प्रकार मेरे पेट में गड़बड़ी हो रही है।[2] इस दृष्टि से मैत्रेय की शाब्दिक गड़बड़ी अधिक मजेदार है। रदनिका जब संदेश देने लगती है कि दीवार में सेंध लगाकर चोर भाग गये। तब मैत्रेय गड़बड़ी से बिछौने से उठ कर पूछता है, क्या ? चोर को सेंध लगाकर दीवार भाग गयी ?'[3] आगे चल कर वसन्तसेना का चेट उसके आने की बात पहेली की भाषा में मैत्रेय को बताता है। पहेली के उत्तर के दो शब्द 'सेना' और 'वसंत' घुमा कर लेने के लिये चेट बताता है 'पादौ परिवर्तय'। मैत्रेय उसका अर्थ लगाता है कि 'पैर घुमाकर' और उसके अनुसार पैर घुमाकर गोल गोल घूमने लगता है। लेकिन श्लेष पर आधारित ऐसे विनोद संस्कृत नाटकों में ज्यादातर नहीं मिलते;

१. 'अस्ति नगरं ब्रह्मदत्तं नाम। तत्र किल राजा कांपिल्यो नाम।' स्वप्नवासवदत्त, अङ्क ५। अंग्रेजी में ऐसी शाब्दिक गड़बड़ी का Malapropism नाम है।

२. स्वप्नवासवदत्त ४. २१ विशेष स्पष्टीकरण के लिए प्रस्तुत लेखक की मराठी संपादित आवृत्ति देखें।

३. मृच्छकटिक, ३. २१-१३ : 'आः दास्याःपुत्रिके किं भणसि। चौरं कर्तयित्वा संधिर्निष्क्रान्तः।' (शाब्दिक अर्थ—चोर को काटकर छेद भाग गये ?)

श्लेष की अपेक्षा मार्मिक शब्दों द्वारा ही मुख्यत: विदूषक विनोद प्रकट करता रहता है। ये बातें अनपेक्षित होने पर उसे विशेष जोश आता है। रानी धारिणी मन से चाहती हैं कि नाट्याचार्यों का झगड़ा न बढ़े। अर्थात् इसके कारण मालविका का राजा की नजर में आने का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। इस दृष्टि से वह झगड़े को निरर्थक मानती है। गौतम अनपेक्षित रीति से कहता है, 'महारानी जी भेड़ियों की मुठभेड़ होने दीजिये। उन्हें क्या तनख्वाह मुफ्त में देते हैं ?[1] तापसों की विनती को मान देकर तपोवन में रहना चाहिए या माता के संदेश के अनुसार राजधानी को लौटना चाहिए इन प्रश्नों के कारण दुष्यंत व्याकुल हुआ है। विदूषक का मन पूछने पर माढव्य कहता है। 'त्रिशंकु की तरह बीच में ही लटके रहो।'[2]

प्रसङ्गों द्वारा निर्मित होने वाले विनोद के उदाहरण संस्कृत नाटकों में मिलेंगे। 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' नाटक में (अङ्क ३) मोदक के कारण विदूषक का उन्मत्तक के साथ झगड़ा होता है। विदूषक डराता है, मारपीट के लिए तैयार होता है और शौर्य का यह आवेश श्रमणक के सामने दिखाता है। लेकिन अंत में धीरज खोकर रोने लगता है। 'अविमारक' का संतुष्ट दासियों के हाथों में फँसता है। वह उसे भोजन का लालच दिखाकर खुश करती है और उसके पास से अंगूठी दिखाने के लिए माँग लेती है; और यह देखकर कि उसका ध्यान नहीं है रास्ते की भीड़ में से नौ दो ग्यारह हो जाती है। बेचारा विदूषक उसका पीछा करने में असमर्थ होता है। (अंक ३)। आगे चल कर कुरङ्गी के महल में उसकी सखी द्वारा इशारा पाकर भी संतुष्ट वहाँ से हिलता नहीं। अविमारक और कुरङ्गी को एकान्त मिलने के बहाने सखी संतुष्ट की हर बात मान कर उसे भोजन और अलंकार देने का आश्वासन देती है। अंत में वह उसका हाथ पकड़ कर उसे खींचती हुई ले जाती है। तब संतुष्ट कहता है, 'अजी, अजी ! ऐसे क्यों खींच रहे हो ? मैं नाज़ुक स्त्री हूँ।' (अंक ५)

मैत्रेय अंधकार और रास्ते के लोगों से डरता है। चारुदत्त उसे दरवाजे के पास बलि रखकर आने के लिए बताता है। लेकिन बिना दिया और रदनिका के मैत्रेय बाहर जाने के लिए तैयार नहीं होता। बाहर आने पर उसकी शकार से भेंट होती है। (अंक १)। शकार के साथ बोलते समय मैत्रेय शूर के समान बातें करता है। लेकिन उसे अपने शौर्य की पूर्ण पहचान है। उसका शौर्य स्वामी के दरवाजे पर स्थित शौर्य दिखाने वाले कुत्ते जैसा है। जब चेट वसंतसेना के आने की वार्ता मैत्रेय को पहेली द्वारा बताता है

---

१. मालविकाग्निमित्र, १. १५-[१९-१०] : 'भवति, प्रेक्षाम उरभ्रसंपातम्।
किं मुधा वेतनदानेन।'

२. शाकुन्तल, २. १६।[२२] : 'त्रिशङ्कुरिव अन्तराले तिष्ठ।'

तब मैत्रेय की फजीहत होती है (अंक ५)। पहेलियाँ सरल होने पर भी उनके उत्तरों के लिए उसे चारुदत्त की ओर दौड़ना पड़ता है और उत्तर मिलने पर भी शब्दों का अर्थ जुटाते समय दिमागी कसरत करने के बदले मैत्रेय हाथ पैरों की कसरत करने लगता है। न्यायालय के प्रवेश में (अंक ९) मैत्रेय का शकार के साथ झगड़ा होता है, वहाँ भी ऐसा ही विनोद होता है। इस झगड़े का अंत करुण न होता तो यह प्रसंग शुद्ध विनोदी बन जाता। तीसरे अंक में अलंकार की चोरी का जो प्रसंग शूद्रक ने चित्रित किया है उस विनोद में, कारुण्यपूर्ण प्रवाह होने पर भी, हँसी आये बगैर नहीं रहती। अलंकारों का बरतन छाती से लगाकर मैत्रेय का सो जाना, नींद में बड़बड़ाना, उसके कारण प्रथम निराश होकर वापस जाने वाले शर्विलक का लौटना और फिर मैत्रेय के चारुदत्त को उद्देश्य कर कहे गये 'ये अपने अलंकार सँभाल लो!' ये शब्द सुनकर शर्विलक का आगे बढ़कर उन अलंकारों को चुपचाप अपने हाथों में लेना और फिर, 'हे ब्राह्मण, सौ साल तक ऐसी ही निद्रा कर!' ऐसा आशीर्वाद देना आदि संपूर्ण प्रसंगों को बड़ी चतुराई से चित्रित किया गया है।

जान-बूझकर धोखा देने के प्रसंग के रूप में 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में (अङ्क ४) रानी धारिणी के सामने गौतम सर्पदंश का नाटक करता है। सर्पदंश के असत्यता की कल्पना प्रेक्षकों को होने के कारण गौतम का विष के चढ़ने का ढोंग करना, कराहना, अंतिम बिदाई की भाषा, इन सभी दृश्यों से खूब हँसी आती है। 'शाकुन्तल' नाटक में न दिखाने पर भी दो घटनाएँ वर्णित हैं। एक में विदूषक अन्तः-पुर की दासियों के हाथ में फँसा है। वे उसकी चोटी खींचकर उसे घूँसे लगा रही हैं (अङ्क ५)। दूसरे में मातलि ईख की तरह विदूषक की हड्डियाँ तोड़ रहा है (अङ्क ६)। यह वर्णन भी कम हास्यकारक नहीं हैं।

हर्ष के दोनों उदयन नाटकों में विदूषक के दुर्भाग्य के अलग ही प्रसंग चित्रित किये गये हैं। नायक-नायिका को भेंट हो इसलिए नायिका की सखी और विदूषक एक चाल चलते हैं। लेकिन पहली बार रानी के अचानक उपस्थित होने के कारण (प्रिय-दर्शिका, अङ्क ३), और दूसरे प्रसंग में तय किया हुआ बेष बदलकर रानी ही आती है और नायक उसे नहीं पहचान सकता (रत्नावली, अङ्क ३), जिससे चाल व्यर्थ होती है। रानी का चिढ़ना स्वाभाविक है, विदूषक की गप्पों का वहाँ कुछ भी उपयोग नहीं होता। इस चाल के लिए विदूषक को जिम्मेदार माना जाता है। उसके हाथ पैर बाँधे जाते हैं और कारागृह में भेजा जाता है। विदूषक की फजीहत का एक संपूर्ण प्रवेश हर्ष द्वारा 'नागानन्द' नाटक में चित्रित किया गया है (अङ्क ३)। नायक के विवाह के अवसर पर विदूषक को रेशमी वस्त्र, पुष्पमाला आदि भेंट मिली रहती है। हाथों पर वस्त्रों को रखकर और सिर पर पुष्पमाला बाँधकर विदूषक आत्रेय बड़ी खुशी के साथ प्रवेश करता

है। लेकिन फूलों की सुगंध से आकर्षित होकर भ्रमर उसके पीछे पड़ते हैं। भ्रमर से बचने के लिए विदूषक को एक युक्ति सूझती है। पास का वस्त्र स्त्रियों की तरह सारे अङ्ग पर ओढ़ता है, सिर पर से आँचल भी लेता है। लेकिन ठीक ऐसे ही समय शराब पीकर मस्त हुआ विट अपनी प्रेयसी को ढूँढ़ते हुए वहाँ आता है। आत्रेय को सामने देखते ही उसके स्वाँग को देखकर विट उसे अपनी प्रेयसी समझकर प्रणयाराधन शुरू करता है। इतने में दासी आती है। विट को दूसरी स्त्री के साथ प्रेम करता हुआ देख कर पहले पहल वह चिढ़ जाती है। लेकिन सत्यस्थिति जान लेने पर वह आत्रेय की पूर्ण दिल्लगी उड़ाने की सोचती है। दासी को सामने देखकर विट उसकी ओर मुड़ता है और चेट से, विदूषक को पकड़कर रखने के लिए कहता है। विट को दासी के साथ बोलने में जुटा हुआ देखकर विदूषक भागने का प्रयत्न करता है। लेकिन चेट उसका जनेऊ पकड़कर उसे खींचता है। विदूषक का प्रयत्न व्यर्थ होता है और उसका जनेऊ भी टूट जाता है। इधर विट दासी को आसन पर बिठाकर प्रणयाराधन प्रारम्भ करता है। आत्रेय को उसके पास में बिठाया जाता है। विट शराब का प्याला उसके सामने पकड़ता है। वह उसमें से एक घूँट लेकर विदूषक के सामने प्याला पकड़ती है। ब्राह्मण के ऊपर होने वाले इस आघात को देखकर विदूषक चिढ़ता है। लेकिन अपना ब्राह्मण्य सिद्ध करना कठिन हो जाता है। वेदाक्षरों का उच्चारण वह कर नहीं पाता। जनेऊ की साक्ष्य भी खत्म हुई रहती है। अन्त में वह दासी के सामने गिड़गिड़ाकर जैसे-तैसे अपनी मुक्ति करा लेता है। लेकिन आत्रेय का दुर्दैव यहाँ समाप्त नहीं होता। नायिका की सखी उसे बनाती है और उसका चित्र बनाने का स्वाँग करके तमालपत्र के रस से उसका मुंह काला कर देती है।

राजशेखर के विद्धशालभञ्जिका' नाटक में (अङ्क २) विदूषक की शादी अन्तःपुर के स्त्री वेषधारी एक लड़के के साथ की जाती है। यह प्रसंग प्रत्यक्ष दिखाय है। विदूषक चारायण यह फजीहत जान लेने पर खूब चिढ़ता है; और रानी को जिस दासी ने यह चाल चली थी उससे बदला लेने के लिए विदूषक एक दूसरी चाल चलता है। दूसरी एक दासी को अपने विश्वास में लेकर उसे एक बड़े वृक्ष के पीछे छिपने के लिए कहता और पहली दासी अँधेरे में जब उस वृक्ष के पास जाती है तब 'तू फलाने दिन मर जायेगी' ऐसा भविष्य नकली आवाज निकाल कर कहने के लिये कहता है। इस अकाल मृत्यु को टालने के लिए ब्राह्मण की पूजा करके उसके पैरों के बीच से जाने का उपाय सुझाया जाता है। दासी और रानी प्राण के भय से बताये गये सब कर्म करती हैं। यह भी प्रसंग रंगमंच पर दिखाया गया है (अङ्क ३)। दासी विदूषक के पैरों के नीचे से जाती है और विदूषक बड़े जोर से हँसकर अपनी चाल को प्रकट करता है।

लेकिन विदूषक का विनोद यह मुख्यत: स्वभावनिष्ठ विनोद है। नाट्यशास्त्र में और नाटक में विनोदी नट और पात्र के रूप में ही विदूषक का वर्णन किया गया है। विदूषक स्वभाव का, हास्यनिर्मिति के लिए उपयोग करते समय उसकी कुछ विशेषताएँ नाटककारों ने निश्चित की है। इनके सहारे विदूषक का विनोद समझ लेना इष्ट है।

इनमें से एक विशेषता है विदूषक का स्वाँग। विदूषक की शारीरिक विकृति, रंगभूषा और वेशभूषा के विपरीत तत्त्वों का हास्योत्पादन के लिए उपयोग हुआ है। विदूषक का स्वाँग सजाने का कार्य नट और दिग्दर्शक का है। लेकिन शारीरिक विकृति का उल्लेख करके उसमें से हास्यनिर्मिति का प्रयत्न जान बूझ कर कुछ नाटककारों ने किया है।[1]

दूसरी विशेषता है विदूषक की ब्राह्मण जाति। विदूषक को हँसी मजाक में 'महाब्राह्मण' से पुकारा जाता है। इसका अर्थ विपरीत लक्षण से 'मूर्ख ब्राह्मण' ही लेना चाहिए। संतुष्ट जनेऊ का प्रमाण देकर अपना ब्राह्मण्य सिद्ध करता है। उसे अंगूठी पर खुदे हुए अक्षर पढ़ने नहीं आते। लेकिन वह प्रतिपादित करता है कि वे अक्षर उसके ग्रंथ में नहीं है। वह दावा करता है कि रामायण नामक नाट्यशास्त्र उसने खुद पढ़ा है और उसके पाँच श्लोकों को एक वर्ष पूर्ण होने के पूर्व ही उसने रट लिए और उनका अर्थ भी जान गया है।[2] कालिदास के विदूषक अपने ज्ञान को इस प्रकार प्रकट नहीं करते। सिर्फ गौतम ही एक बार गायत्री मंत्र का उल्लेख करके कहता है; "अगर नीति का मैंने एक भी अक्षर पढ़ा हो तो गायत्री मंत्र को भी मैं भूलूँगा।[3] गौतम को 'नीति' (अर्थात् दाँव पेंच) मालूम होने की बात हमें ज्ञात होने के कारण; गायत्री मंत्र भी उसे याद नहीं आता ऐसा ही अर्थ उससे अभिप्रेत होता है। मैत्रेय को संस्कृत याद करने वाली स्त्री देखकर नकेल बाँधे हुए और सूँ सूँ करने वाली गाय की याद

---

१. 'विदूषक का स्वाँग' यह तीसरा प्रकरण देखें।

२. अविमारक अङ्क २, प्रवेशक :

(१) 'कस्मादहमवैदिक:। ··· अस्ति रामायणं नाम नाट्यशास्त्रम्। तस्मिन् पंच श्लोका असम्पूर्णे संवत्सरे मया पठिता:।'

(२) 'न केवलं श्लोका एव, तेषामर्थोऽपि ज्ञात:। अन्यच्च अपरो विशेष:, ब्राह्मणो दुर्लभोऽक्षरज्ञोऽर्थज्ञश्च।'

(३) 'अजानान: किं भणिष्यामि : भवतु दृष्टम्। ··· भवति, एतदक्षरं मम पुस्तके नास्ति।'

३. मालविकाग्निमित्र, ४-१७[12]–[13] : 'भवति, यदि नीतेरेकमप्यक्षरं पठेयं तदा गायत्रीमपि विस्मरेयम्।'

आती है तो कोमल आवाज में गाने वाले मनुष्य को देखकर मुरझाए हुए फूलों की माला पहन कर वेद पठन करने वाले वृद्ध पुरोहित की याद आती है। दोनों ही उसके लिए हास्य विषय ही हैं।[1] विदूषक के विपुल ज्ञान की हर्ष ने और दिल्लगी उड़ायी है। 'प्रियदर्शिका' का विदूषक गड़बड़ी से स्नान करके मंत्र कहने का आभास करके स्वस्ति-वाचन की थाली प्राप्त करने के लिए रानी के महल की ओर दौड़ता है। विद्वानों का इतना ही स्वाँग उसके लिए संभव है।[2] क्योंकि उसे यह भी नहीं मालूम कि वेद कितने हैं? राजा के सामने जब वह चार, पाँच, छः वेदों की बातें बड़े जोश के साथ करने लगता है तब राजा को ही कहना पड़ता है 'बस बस तुम्हारी बतायी हुई वेदों की संख्या से ही तुम्हारे ब्राह्मण्य का पता चला।[3] आत्रेय पर कठिन प्रसंग आ गया है। खुद ब्राह्मण होने की बात सिद्ध करने के लिए वह वेदाक्षरों को कहाँ से लायेगा? इसलिए वह विट से कहता है, 'तेरी मदिरा की बू से वेद के अक्षर उड़ गये।[4] राज शेखर का चारायण एक बार कहता है, 'मुझे लिखना नहीं आता'। लेकिन आगे चलकर एक प्रसंग में वह जमीन पर कुछ अक्षर लिखकर राजा को दिखाता है। राजा कहता है, 'मैं अठारह लिपियाँ जानता हूँ लेकिन तेरी लिपि मेरी समझ में नहीं आती।'[5]

---

१. मृच्छकटिक, ३. ३, ७–१० : 'मम तावद् द्वाभ्यामेव हास्यं जायते। स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या मनुष्येण च काकलीं गायता। स्त्री तावत् संस्कृतं पठन्ती दत्तनवनस्येव गृष्टिः अधिकं सूसूशब्दं करोति। मनुष्योऽपि काकलीं गायन् शुष्कसुमनोदामवेष्टितो वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन् दृढं मे न रोचते।'

२. प्रियदर्शिका, अङ्क २, प्रारम्भ का भाषण : 'ननु भणितोऽस्मि···उपवासनियमस्थिता देवी ··शब्दायते इति। तद् यावद् धारागृहोद्यानदीर्घिकायां स्नात्वा देवीपार्श्वं गत्वा कुक्कुटवादं करिष्यामि। अन्यथा कथमस्माभिः सदृशा ब्राह्मणा राजकुले प्रतिग्रहं कुर्वन्ति।'

३. प्रियदर्शिका, २. १–६–११ : विदूषकः—(सगर्वम्) भोः, ईदृशः खलु ब्राह्मणः। यश्चतुर्वेदपञ्चवेदषड्वेदब्राह्मणसहस्रपर्याकुले राजकुले प्रथममहमेव देवीसकाशात् स्वस्तिवाचनं लभे।

राजा—(विहस्य) वेदसंख्ययैवावेदितं ब्राह्मण्यम्।

४. नागानन्द, ३. ३–७७–७९ : 'भवति, अनेन सीधुगन्धेन पिनद्धानि (पाठान्तर, नष्टानि) मे वेदाक्षराणि।'

५. विद्धशालभञ्जिका : अङ्क १, 'नाहम् लिखितुं ज्ञातः।' अङ्क २ :

विदूषकः—(भूमौ अक्षराणि लिखति।)

राजा—अष्टादशलिपिविदो वयं न त्वदीयाक्षरविचक्षणाः।

ब्राह्मण होने पर भी विदूषक इस प्रकार 'विद्वान' होता है। लेकिन इसके कारण गर्व कम नहीं हुआ है। गौतम का कहना है कि मालविका का नृत्याभिनय शुरू होने के पूर्व ब्राह्मण की पूजा पहले करनी चाहिए थी, वह नहीं की यह नृत्य का पहला दोष है।[1] पुरुरवा का पूर्वज चन्द्र-ब्राह्मण के, अर्थात् अपने मुख से बोलता है ऐसा माणवक का कहना है।[2] चारुदत्त के पैर धोने के लिए कहने के कारण मैत्रेय नौकर पर चिढ़ जाता है।[3] हर्ष ने तो ब्राह्मण की खिल्ली उड़ायी है। इन उदाहरणों से स्पष्ट विदित होता है कि ब्राह्मण जाति के अज्ञान की तरह उनके आत्मभिमान का भी उपयोग नाटककार ने हास्यनिर्मिति के लिए किया है।

ब्राह्मण भोजनप्रिय होता ही है। इसलिए विदूषक के पेटू स्वभाव का विनोद-निर्मिति के लिए नाटककार ने प्रयोग किया हो तो स्वाभाविक ही है। यद्यपि विदूषक का पेटू स्वभाव अमर्याद है लेकिन उससे निर्मित विनोद मर्यादित है क्योंकि यहाँ निश्चित रूप का विनोद चारों ओर दिखायी देता है। भास का विदूषक अपचन होने से दुःख करता है तो शूद्रक के मैत्रेय को चारुदत्त की गरीबी के कारण भोजन का वैभव नष्ट होने से दुःख होता है। समृद्धि के दिनों में मैत्रेय के सामने खाद्य-पदार्थ की थालियाँ भर भरकर आती थीं, और चित्रकार जैसे रंग के प्याले में तूलिका हल्का सा डुबोकर उसे दूर करता है उसी प्रकार मैत्रेय केवल पदार्थ को उंगली लगाकर थाली को आगे ढकेल देता था। उसे खाने के लिए इतना मिलता था कि नगर के चौराहे में जुगाली करने वाले बैल की तरह मैत्रेय की अवस्था हो जाती थी।[4] केवल भोजन के

---

१. मालविकाग्निमित्र, २. ६–४-५ : 'प्रथमोपदेषदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या। सा ननु वो विस्मृता।'

२. विक्रमोर्वशीय, ३.७–२-३ : 'भोः, ब्राह्मणसंक्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाभ्यनुज्ञात आसनस्थितो भव यावदहमपि सुखासीनो भवामि।'

३. मृच्छकटिक, ३. ६–१५-१६ : विदूषक—(सक्रोधम्) भो वयस्य एष इदानीं दास्याःपुत्रो भूत्वा पानीयं गृह्णाति। मां पुनर्ब्राह्मणं पादौ धावयति।' नागानन्द का विदूषक भी इसी तरह का है। वह कहता है, '(सरोषम्) कथं राजमित्रं ब्राह्मणो भूत्वा दास्याः पुत्र्याः पादयोः पतिष्यामि।' (अङ्क ३)

४. मृच्छकटिक, अंक १ प्रारम्भ : '··· हा अवस्थे तूलयसि। यो नामाहं तत्रभवतश्चारुदत्तस्य ऋद्धयाऽहोरात्रं प्रयत्नसिद्धैरुद्गारसुरभिगन्धिभिर्मोदकैरेवाशितोऽभ्यन्तरतुःशालकद्वारउपविष्टो मल्लकशतपरिवृतश्चित्रकार इवाङ्गुलीभिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपनयामि। नगरचत्वरवृषभ इव रोमन्थयमानस्तिष्ठामि।···'

निमंत्रण से विदूषक के मुंह में पानी आ जाता था। इस खुशी में दासी संतुष्ट को धोखा देकर उसकी अंगूठी ले जाती है[1] तो माणवक राजा के प्रेम का रहस्य बतला देता है।[2] माढव्य को खाने के सिवा कुछ महत्व का काम होगा ऐसा लगता ही नहीं; तो माणवक को चारों ओर मोदक ही दिखायी देते हैं और पृथ्वी का सबसे रमणीय स्थान रसोई घर लगता है।[3] इस भोजनप्रियता का तत्वज्ञान भास के विदूषक ने बताया। वह कहता है, 'निरोगी होकर अगर पचन क्रिया अच्छी हो और भूख अच्छी तरह लगती हो तो उस आदमी को सुखी कहना चाहिए।[4]

डरपोकपन विदूषक की और एक विशेषता है जिसे प्रायः ब्राह्मण में ही पाते हैं। भवभूति के कथनानुसार ब्राह्मण की सारी शक्ति जीभ में ही होती है।[5] इस विशेषता का उपयोग नाटककारों ने दो रीतियों से किया है; विदूषक का डरपोकपन दिखाकर, और उसका खाली शौर्य का अभिनय दिखाकर। ज्यादातर विदूषकों को साँप का डर लगता है। मैत्रेय को अंधकार का भय लगता है, तो आत्रेय भ्रमर के पीछे लगने पर भाग जाता है। माढव्य सिर्फ राक्षस का नाम सुनकर घबड़ा जाता है।[6] कुछ विदूषक तो राजमहल की दासियों से डरते हैं। रानी से तो वे डरते ही

---

१. अविमारक, अंक २, प्रवेशक।

२. विक्रमोर्वशीय, अंक २।

३. विक्रमोर्वशीय, अंक ३ : राजा का अवलोकन ऐसा है, 'सर्वत्रौदरिकस्य अभ्यवहार्यमेव विषयः।' अंक २ के आगे का संवाद देखें।

राजा—अथ क्वेदानीमात्मानं विनोदयेयम्।

विदूषक—महानसं गच्छावः।

राजा—किं तत्र।

विदूषक—तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठा विनोदयितुम्।

आगे अंक ३ में विदूषक स्वर्ग की हँसी उड़ाता है : 'किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम्। न वा अश्यते न वा पीयते। केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना विडम्ब्यन्ते।

४. स्वप्नवासवदत्त, अंक ४, प्रारम्भ का स्वगत : 'भोः सुखं न आमयपरिभूतं अकल्यवर्तं च।'

५. उत्तररामचरित, ५. ३२ : 'सिद्धं ह्येतत् वाचि वीर्यं द्विजानाम्।'

६. शाकुन्तल, अंक २ :

राजा—माढव्य, अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम्।

विदूषक—प्रथमं सपरीवाहमासीत्। इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपिनावशेषितः।

हैं। विदूषक का शूरत्व यदि कहीं दिखता है तो वह कबूतर या भ्रमर पर हमला करते समय या तो आम के बौर को तोड़ने के लिए लाठी लेकर दौड़ते समय। विदूषक के इस शूरत्व का कारण मैत्रेय के शब्दों में मिलता है। वह शकार से कहता है, 'स्वामी के देहली से कुत्ता भी भूँकता है फिर मुझ जैसा ब्राह्मण क्या चुप बैठेगा ?'[1]

इन सांकेतिक विशेषताओं के अलावा एक और गुण इन विनोदी पात्रों में होता है और वह है उसका चातुर्य। उनके मार्मिक शब्दों में गहरा व्यावहारिक ज्ञान होता है। उससे हँसी तो आती ही है; लेकिन उसमें बुद्धि की चमक भी दिखायी देती है। कई बार विदूषक के बकने में मूर्खता दिखायी देती है लेकिन उसके पीछे छिपा हुआ अक्लमंदी का अंग भी झाँकता हुआ दिखायी देता है। उदाहरण के लिए, विदूषक द्वारा ऊपर बतायी गयी सुख की परिभाषा। ऊपर से देखने पर उसमें विदूषक के पेटू स्वभाव का हास्यकारक समर्थन दिखायी देता है। लेकिन गौर से देखने पर ऐसा कौन कह सकता है कि उसमें सचाई नहीं है। मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा न होने पर और पेट बिगड़ जाने पर संसार का कोई सुख अच्छा नहीं लगेगा। विदूषक के चुने हुए शब्दों में इसी प्रकार विनोद और चातुर्य पाये जाते हैं। मालविका के साथ जब अग्निमित्र प्रेम की बातें करता रहता है तब वहाँ अचानक रानी इरावती आ जाती है। राजा को कुछ भी नहीं सूझता। गौतम उसे सलाह देता है, 'चोर रँगे हाथों पकड़ा गया तो उसे कहना चाहिए, कि 'मैं सिर्फ शास्त्रीय प्रयोग करके देख रहा था।'[2] यह ठीक भी है। रँगे हाथों पकड़े जाने पर जवाब क्या दिया जाय?[3] रानी दूसरे विवाह के लिए राजा से सहमत हो जाने पर माणवक कहता है, 'मछली हाथ से छूट जाने पर मछुआ कहता है, 'चलो उतना ही धर्म हो गया।'[4] प्रेम से अधीर अग्निमित्र से गौतम कहता है, 'यह भी खूब। आपकी अवस्था दरिद्री मरीज जैसी है। वैद्य को तो आना चाहिए

---

१. मृच्छकटिक, १.४२–२०-२१ : भोः स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावत् चण्डो भवति किं पुनरहं ब्राह्मणः।'

२. मालविकाग्निमित्र, ३. १९–१३-१४ : 'कर्मगृहीतेन कुम्भीलकेन सन्धिच्छेदने शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति।'

३. विक्रमोर्वशीय, २. २०–१३ : 'लोत्रेण गृहीतस्य कुम्भीलकस्य अस्ति वा प्रतिवचनम्।'

४. विक्रमोर्वशीय, ३. १३–३६–३७ : छिन्नहस्तो मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यतीति।'

साथ ही उसे दवा भी लानी होगी।'[1] गणिका के बारे में मैत्रेय कहता है, 'वेश्या जूते में लगा कंकड़ है। बाहर निकालते समय भी वह पैर को वेदना देता ही है।'[2]

विदूषक केवल आलोचक ही नहीं है। कई बार, विशेषतः विरहावस्था में नायक का सांत्वन करते समय वह तत्वज्ञ की तरह बोलता है। माढव्य दुष्यंत से कहता है; 'सत्पुरुष शोक से कभी भी पागल नहीं हो जाते। हम देखते हैं कि हवा कितनी जोर से बहे पर पर्वत कभी भी हिलता नहीं।'[3]

प्रत्यक्ष संकट के समय जीवन से अलग होकर हँसने की वृत्ति को अगर उच्च, आत्मविनोद का चिह्न माना जाये तो ऐसा विनोद हमें संतुष्ट और मैत्रेय के स्वभाव में मिलता है। कुरङ्गी प्रेमनिराशा से फाँसी लगाकर आत्महत्या करने वाली थी। उसी समय अविमारक आ जाता है इसलिए सब ठीक हो जाता है। उस समय कुरङ्गी की आँखों में आँसू आना स्वाभाविक ही है। तब संतुष्ट कहता है, 'आप खुद दुःखी न बनें वरना मैं भी रो पड़ूँगा! लेकिन मुझे एक ही बात कठिन लगती है—मेरे आँखों में पानी नहीं आता। मेरे पिता जी के चल बसने पर मैंने रोने की खूब कोशिश की लेकिन मेरी आँखों से आँसू की एक बूँद भी नहीं निकली।[4] संतुष्ट की इन व्यर्थ बातों में कुरङ्गी का दुःख कैसे कहाँ जायेगा इस बात को बताने की आवश्यकता नहीं। चारुदत्त दारिद्र्य पर जो चर्चा करता है वह दुःख और कटुता से भरी हुई है। उसका हर एक शब्द सत्य है। लेकिन इस पर मैत्रेय की चर्चा इस प्रकार है: 'हे मित्र, संपत्ति दासी-पुत्री के समान हैं। इसके अलावा सुबह के नाश्ते के जैसे वह कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती। ग्वाल बाल ऐसी जगह की खोज में रहते है जहाँ लिलैया उन्हें न काटे, सम्पत्ति भी ऐसी जगह जाती है जहाँ उसे भोगने वाला कोई नहीं होता।[5] आँसू और हास्य का धूपछाँह

---

१. मालविकाग्निमित्र, २. ११–१–२ : 'साधु त्वं दरिद्र इवातुरो वैद्येनोपनीयमानमौषधमिच्छसि।'

२. मृच्छकटिक, ५. ७–९–१० : 'गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते।'

३. शाकुन्तल, ६. ८– ३५–३६ : 'कदापि सत्पुरुषाः शोकपात्रात्मानो न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः।'

४. अविमारक, ५. ४–५–८ : 'अलमतिमात्रं सन्तापेन। अथवा अहमपि रोदिमि। एकमपि तत्र दुर्लभं मम नयनाद् बाष्पं न निर्गच्छति। यदा मे पितोपरतस्तदापि महतारम्भेण रोदितुमारब्धः। बाष्पं न निर्गच्छति।'

५. मृच्छकटिक, १. १२–३–४ : 'भो वयस्य, एते खलु दास्याःपुत्रा अकल्यवर्ता वरटाभीता इव गोपालदारका अरण्ये यत्र यत्र न खाद्यन्ते तत्र तत्र गच्छन्ति।'

जैसा खेल बहुत ही हृदयंगम है। आँसू का हास्य के साथ अगर कहीं साहचर्य हो तो इस प्रकार के प्रसंग में देखने को मिलता है।

विदूषक के विलक्षण चातुर्य से स्फुरित यह विनोद मार्मिक अवलोकन और तीक्ष्ण बुद्धि से निर्मित होता है। इसलिए विदूषक के गुणों में चातुर्य का समावेश किया जाता है। विदूषक की ऊपरी मूर्खता पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए। पागलपन उसके स्वाँग में होगा किन्तु मस्तिष्क में नहीं।

१४. विदूषक का पतन

भरत की ऐसी स्पष्ट कल्पना थी कि नाटक मुख्यतः लोकानुरंजन का प्रभावी साधन है। यह उसे ठीक नहीं लगता था कि हास्य का मनरंजन के लिए चाहे जैसे प्रयोग किया जाय। अन्यथा शास्त्रकारों ने विदूषक के गुण बताते समय उसके व्यवहारिक चातुरी का समावेश नहीं किया होता, और भरत भी विदूषक के भेदों का वर्णन करते समय नायक के सहचर रूप में नाट्यकार्य की दिशा भी न दिखाते। लेकिन इनसे बढ़ कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हास्य का स्वतंत्र रस के रूप में प्रस्तुतीकरण, साथ में ही प्रकरण, प्रहसन और भाण इन नाट्य प्रकारों का विवेचन किया है। इसका मतलब यह होता है कि भरत के हास्य की कल्पना केवल शारीरिक व्यंग्य और मामूली बाहरी बातों पर निर्भर नहीं थी और नाट्य से व्यंग्य करने के सामाजिक आशय की ओर उनका ध्यान पहले ही मुड़ गया था।

नाटककारों ने भी भरत का अनुकरण करते हुए, उनके द्वारा बताये गये हास्य के प्रकार और विदूषक के भेदों का वर्णन किया है। उसी प्रकार उन्होंने केवल शास्त्र वचनों में ही न उलझ कर मानसिक और सामाजिक विनोद के दर्शन से, विनोद का परिणत रूप भी दिखाया है।

इस संदर्भ में विदूषक के नमूने देखने पर हमें भरत द्वारा वर्णित विदूषक के भेद विशिष्ट सामाजिक और साहित्यिक संकेत पर आधारित दिखायी देते हैं। नाटक के नायक का आदर्श तैयार हो जाने पर यह तत्व आ गया कि नाटक के अनुरूप ही विदूषक हो। लेकिन इस प्रकार विदूषक तापस; द्विज, राजाश्रित या शिष्य इनमें से किसी प्रकार का होने पर भी विनोदी पात्र के रूप में उसमें एक स्थायी भाव का होना जरूरी है। इस स्थायी भाव के अनुसार विनोदी पात्र के नमूने निश्चित करने का प्रयत्न

पाश्चात्य आलोचना ग्रन्थों में मिलता हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन ग्रीक नाटक के संदर्भ में अरस्तू ने विनोदी पात्र का त्रिविध वर्गीकरण किया है। पहला है केवल हास्य का आलंबन मूर्ख के रूप में। उसका नाग 'बफून' है। दूसरा वह है जो ऊपर से मूर्ख का स्वाङ्ग रचता है पर वास्तव में तेज बुद्धि वाला और अपने व्यवहारिक चातुर्य को जानता है। इसको 'ऐरॉन्' 'नाम दिया है। और तीसरा वह है जो नकली शौर्य और चातुर्य के आवरण में अपना स्वाभाविक डरपोकपन और मूर्खता को छिपाना चाहने वाला ढोंगी। इसे 'इम्पोस्टर' कहते है।[1]

संस्कृत नाटक के विदूषकों को, विनोदी पात्रों को, या नायक के सहचरों को यह वर्णन थोड़ा बदल करके लागू किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'बफून' और 'इम्पोस्टर' ये सामान्यतया विदूषक के जैसे ही होते हैं। 'इम्पोस्टर' का अलग नमूना हमें शकार के स्वभाव में देखने को मिलेगा। 'ऐरॉन्' की विशेषता गौतम के चित्रण में, या 'नागानन्द' नाटक में विदूषक की फजीहत करने वाले विट के चित्रण में मिलती है।

लेकिन प्रो० गार्डन के अनुसार विदूषक के नमूने मूलतः दो प्रकार के होते हैं: एक पागल का और दूसरा पागल भासमान होने पर भी धूर्त या शठ का। इन नमूनों की विविध घटना को ध्यान में लेने पर यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि उसके अनेक उपप्रकार संभवनीय हैं।[2] इस दृष्टि से विदूषक या तो स्वयं हास्य का आलंबन बना रहता है, या दूसरों की दिल्लगी उड़ा कर लोगों को हँसाता है। हास्य का वर्णन करते समय, विदूषक अपनी विपरीतता से हँसता है और लोगों को हँसाता है ऐसा जो भरत ने कहा है[3] उससे इस विनोदी पात्र की द्विविध प्रकृति भरत के मन में रही होगी। दूसरों की दिल्लगी उड़ाकर हँसते समय विदूषक में चातुर्य होना आवश्यक है। वह उसके पास जाने अनजाने विद्यमान होगा। यह भेद ध्यान में रख कर अरस्तू के के आधार पर विदूषक के मूल तीन प्रकारों का वर्णन किया जा सकता है।

पहला हास्य का आलंबन जिसे 'मूर्ख' कहा जा सकता है। यह विदूषक पागल सा है। वास्तव में इसका नाटकीय दृष्टि से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। नायक का मित्र और सहचर होने के कारण वह नाट्य कथा में आया रहता है। यह तीन हाथ बुद्धि वाला रहता है। उसकी ओर स्वतंत्र रीति के कुछ भी काम सौंपा हुआ नहीं रहता। उसकी

---

१. देखें—एफ० एम० कॉर्नफर्ड, 'दि ऑरिजिन् ऑफ ॲटिक् कॉमेडी'; पृष्ठ १३६-१४०।

२. देखें—जॉर्ज गॉर्डन्, 'शेक्सपीरियन् कॉमेडी'; पृष्ठ ६०।
There are essentially two types of fools : 'One half wit, half natural; the other, part fool, part knave.'

३. नाट्यशास्त्र, गायकवाड, ६. ५८-५९। प्रकरण १२, टिप्पणी ७ देखें पृष्ठ १३१

भूमिका सांकेतिक है । लेकिन नायक का सहचर होने के कारण कुछ काम उसकी ओर आ जाता है। लेकिन उसे वह अपने प्रमाद से या पागलपन से बिगाड़ देता है और कई बार नायक को संकट में डालता है। उसके पास थोड़ी सी होशियारी भी है। लेकिन होशियारी से औरों का मजाक उड़ाने की अपेक्षा उसकी खुद की ही दिल्लगी उड़ाई जाती है और इस प्रकार दूसरों द्वारा ही विदूषक की उड़ायी गयी दिल्लगी से हास्यनिर्मिति होती है। थोड़े में कहना हो तो यही विदूषक हास्य का आलंबन है ।

संस्कृत नाटक के अधिकतर विदूषक और उत्तरकालीन नाटककारों द्वारा चित्रित नमूने इस प्रकार में आते हैं। कालिदास का माढव्य और हर्ष का आत्रेय इन प्रकारों के अच्छे उदाहरण हैं। 'विक्रमोर्वशीय' का माणवक और 'प्रियदर्शिका' का वसंत ऐसे ही पागल हैं, प्रमादी हैं; यद्यपि नाटकों में उनका स्पष्ट मजाक उड़ाया नहीं गया हो फिर भी उनकी जाति मूर्खों की ही है। उसके विपरीत, संतुष्ट और मैत्रेय एकाध प्रसङ्ग में बनते है, फिर भी उनकी जाति अलग ही है ।

विदूषक का दूसरा प्रकार चतुर विदूषक का है। इसे भाष्यकार कहा जा सकता है। यह विदूषक पागल सा दिखता है लेकिन उसके पास तेज बुद्धि रहती है। उसका अवलोकन सूक्ष्म है, व्यावहारिक चातुर्य से भरा हुआ है। शेकसपिअर के 'टचस्टोन' के मुताबिक यह विदूषक अपने अनुभव की सभी बातों की दिल्लगी उड़ाता है। लेकिन यह दिल्लगी विधायक स्वरूप की होती है क्योंकि उसके पास अपने सूक्ष्म अवलोकन से जीवन में प्राप्त अनेक सत्य संचित होते हैं। समय प्राप्त होने पर वह अपनी सांकेतिक मूर्खता की ओट में चातुर्य का प्रयोग करता है। इस विदूषक में मजे की बात यह है कि उसे न चातुर्य का ज्ञान रहता है और न गर्व का। लेकिन उसके ऊपरी तौर से मूर्ख भासमान बातों से जीवन के विचित्र सत्य प्रकाश में आ जाते हैं। इसलिए इस विदूषक को जीवन का विनोदी भाष्यकार कहा जाता है। विनोद के द्वारा सूक्ष्म रीति से मानवता का प्रेम इसी विदूषक में दिखायी देता है। अतः नायक के लिए चाहे जो स्वार्थ-त्याग करने, प्राण भी देने के लिए यह विदूषक तैयार रहता है ।

इस प्रकार के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में मैत्रेय का नाम लिया जा सकता है। भास के सन्तुष्ट में भी मैत्रेय के जितने न सही फिर भी आकर्षण और चातुरी ये गुण तो हैं ही। 'स्वप्नवासवदत्त' का वसन्त नायक का पूर्ण विश्वासपात्र है; उसकी बातों में चातुरी है; नायक को सांत्वना दिलाने का कार्य वह ठीक रीति से करता है। 'रत्नावली' का विदूषक मुख्यतः पागल जैसा है; लेकिन उसकी नायक के प्रति इतनी भक्ति है कि वह अंत में अग्नि में कूदने के लिए सिद्ध होता है। इन सभी विदूषकों को एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है ।

विदूषक का तीसरा प्रकार 'शठ' विदूषक है। विदूषक की वेषभूषा धारण करने

पर भी वह अन्दर से चतुर और धूर्त्त है; इतना ही नहीं तो उसे अपनी चातुरी का भान भी रहता है। उसका पागलपन केवल एक ढकोसला है। वह मूर्खता की आड़ में सभी लोगों की दिल्लगी उड़ाता रहता है। उसके विदूषकत्व के कारण दूसरों को उस पर असत्यता का आरोप करना कठिन हो जाता है। लेकिन यह विदूषक दूसरों की हँसी उड़ा कर खुद आनन्द का स्वाद लेता रहता है। वह खुद हास्य का आलंबन बनता है। उसका सच्चा उद्योग है दूसरों को हास्यालंबन बना कर आनन्द मनाना।

इस प्रकार का उत्तम नमूना हमें कालिदास के गौतम के स्वभाव में देखने को मिलता है। गौतम धूर्त्त है। उसकी दिल्लगी से जहाँ खुद नायक ही नहीं बच सका, वहाँ अन्य लोगों की क्या हस्ती! 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' नाटक के विदूषक को किसी एक श्रेणी में रखना कठिन है। उसे धूर्त ही कहना चाहिए; क्योंकि, उसके विदूषक की चाल के पीछे एक गूढ़ राजनीतिक हेतु है। राजशेखर का चारायण खुद हास्य का विषय बना हुआ है; लेकिन जिस युक्ति से वह अपनी फजीहत का बदला लेता है उसमें उसको आटे-दाल का भाव मालूम हो जाता है।

संस्कृत नाटककारों ने और शास्त्रकारों ने विदूषक की यह मूल विविध प्रकृति ध्यान में ली होती तो वे विनोदी पात्रों के अनेकविध नमूनों का वर्णन कर सकते और आगे चल कर विदूषक का जो निश्चित सांचा बनता गया वह न बनता। दुर्दैव से संस्कृत नाटक के विकास में वैसा नहीं हुआ।

विनोद के लिए निर्मित पात्रों में ऐसे दो तत्व होते हैं कि उनका विकसनशील चित्रण करके विनोदी स्वभाव का वैशिष्ट्यपूर्ण निर्माण कर सकते हैं। एक तो वह जो विनोदी पात्र के रूप में खड़ा किया गया प्रतीक है। इसमें एकाध वास्तव सामाजिक नमूना होता है; या एकाध सामाजिक, नैतिक कमी का, कहीं व्यक्ति की विशेषता का विडंबन होता है। दूसरा तत्व यह है कि जिस वातावरण या सामाजिक सम्बन्ध में विनोदी पात्र को चित्रित किया जाता है उस कथा का रंग। इन दो तत्वों में हम जिस प्रकार विविधता लाने जायेंगे उसी प्रकार विनोदी पात्र का व्यक्तित्व बहुरूपों में खुलता जाता है।

संस्कृत नाटक के विदूषक द्वारा सामान्यतः अपढ़ लेकिन वर्णश्रेष्ठता के आधार पर अग्रत्व का हक बताने वाले मूर्ख ब्राह्मण वर्ग का चित्रण किया है। साधारणतया यह वर्ग परान्नभोजी की तरह होने के कारण उसका मजाक उड़ाने के लिए काफी अवकाश था। वेदाध्ययन न करने पर भी इस वर्ग को प्राप्त सामाजिक अधिकार और उसके अगुआपन का दावा, कट्टर धार्मिक बाह्याचारों में छिपा हुआ स्वाँग और क्षुद्र स्वार्थ, सामाजिक धर्मश्रद्धा के सहारे जीवन आदि अनेक बातें विडंबन के सुन्दर विषय बनने योग्य ही थीं। लेकिन इन बातों का विडंबन—हास्यकारक या मार्मिक विनोद से सजा हुआ चित्रण—कितनी दूर तक किया जाय? और उससे कितना विनोद

निर्मित होगा ? सदियों के बीतने पर भी विदूषक 'महाब्राह्मण' का 'महाब्राह्मण' ही है। उसे वेद का ज्ञान नहीं है। मंत्र भी आता नहीं। वह न लिख सकता है और न पढ़ सकता है। सदियों के बीत जाने पर भी उसका पेट्ट स्वभाव कम नहीं हुआ है। आज भी वह अपने प्रिय 'मोदक' के लालच में रसोंई घर के आस-पास घूम रहा है। यह सारा विनोद हो चुका है। उसमें नवीनता लाने के लिए कुछ भी अवकाश नहीं है। इस कारण बाद के नाटककारों को दुहराने के सिवाय कोई मार्ग नहीं रहा है ?

विदूषक के सम्बन्ध मर्यादित हैं। कुछ नाटककारों ने विदूषक के अभिभावकों का उल्लेख किया है। कुछ ने ब्राह्मणी का अर्थात् विदूषक की पत्नी का। हर्ष द्वारा किये गये ब्राह्मणी के उल्लेख में कम से कम विदूषक का बचपना सूचित होता है क्योंकि राजा का दिया हुआ सोने का कड़ा पहन कर अपनी पत्नी को दिखाने के लिए वह जाता है। राजशेखर 'विद्धशालभञ्जिका' नाटक में विदूषक की ब्राह्मणी को रंगमंच पर लाते हैं, लेकिन इस दृश्य में कहीं भी विनोद नहीं मिलता।

इसलिए विद्षक और राजमहल की दासी के प्रसङ्ग से ही विनोद निर्माण करने का अवकाश मिलता है। लेकिन इस प्रसङ्ग की मर्यादा भी स्पष्ट है। विदूषक का दासी का मजाक करना, या दासी का विदूषक का मजाक करना, ये ही विनोद के दो पहलू हैं। संस्कृत नाटक की दासी ज्यादातर चतुर और तेज होती है। इस कारण अधिकतर विदूषक ही हास्य का आलंबन बनता है। पुराने नाट्यसाहित्य में अधिकतर ऐसे ही प्रसङ्गों का चित्रण मुख्यतः किया गया है। दासी के बनाने से, जीतने से, या दिल्लगी में मार देने पर, विदूषक हास्यास्पद बना हुआ दिखता है।

उत्तरकालीन कुछ नाटककारों ने, दूसरा पक्ष चित्रित करने का प्रयत्न किया है। बिल्हण के 'कर्णसुन्दरी' नामक नाटक में नायिका की दासी कदली-दल और मृणालतंतु आँचल में छिपाकर ले जाते समय विदूषक की दृष्टि में पड़ती है। वह उसे रोकता है। प्रथम वह उसे कुछ भी जानने नहीं देती। लेकिन विदूषक जब उसकी छिपाई हुई शीतल सामग्री देखता है तब दासी को मानना पड़ता है कि नायिका काम से पीड़ित है और उसके उपचार के लिए वह खुद सामग्री ले जा रही है (अंक २)। राजशेखर के 'विद्धशालभञ्जिका' में विदूषक नारायण मेखला नामक दासी को अपने पैरों के नीचे से जाने के लिए बाध्य करके अपनी पूर्व फजीहत का बदला लेता है (अंक ३)। इसका वर्णन पहले आ चुका है।

विदूषक द्वारा दासी को बनाने के ये उदाहरण दिये जा सकते हैं। लेकिन इसमें विनोद के लिए नया मोड़ मिला हुआ नहीं दिखता। विदूषक की चातुरीं का इसमें थोड़ा सा हिस्सा है। लेकिन राजशेखर द्वारा चित्रित प्रसङ्गों में विदूषक के बदले वह खुद अच्छी तरह बन चुका है। जिसे वह भूल नहीं सकता। इसके अलावा, उसने

दासी की जो दिल्लगी उड़ायी है वह सम्पूर्ण रूप से ग्राम्य स्वरूप की है। उससे हँसी आने पर भी जिस चातुर्य से गौतम धारिणी के सामने सर्पदंश का झूठा नाटक खेलता है उस प्रसङ्ग की और उसके शुद्ध विनोद की यह बराबरी नहीं कर सकता।

संस्कृत नाटककारों ने दासी और विदूषक सम्बद्ध प्रसङ्ग चित्रित करते समय शृङ्गार का कहीं भी सम्बन्ध नहीं रखा है। अश्वघोष के नाटक में विदूषक और गणिका के झगड़े का वर्णन आया है। दूसरे नाटक में गणिका की जगह दासी आ चुकी है। इस झगड़े में थोड़ी सी गाली-गलौज होती है। लेकिन विदूषक के शब्द 'दास्याः पुत्री,' 'दुष्टचेटी' ऐसे निश्चित और बहुतेरे सांकेतिक है। इसके विपरीत राजशेखर ने अश्लील गालियों का विदूषक द्वारा प्रयोग कराके भासादि नाटककारों को मात दी है।[1] इस बात को कला की दृष्टि से देखना हो तो ऐसा मानना पड़ेगा कि यहाँ राजशेखर ने दो गलतियाँ की हैं। एक तो यह कि गालीगलौज विनोद का प्रकार हो जाने पर उसका स्तर नीचे का हो जाता है। गालीगलौज पर आधारित विनोद विकसित संस्कृति से अधिकतर मेल नहीं खाता। प्राचीन नाटककारों ने सांकेतिक शब्द के परे दूसरे शब्द विदूषक के द्वारा प्रकट नहीं कराया, और उन शब्दों की अपेक्षा उसके कारण बने हुए प्रसङ्गों से विनोद निर्माण करने की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसके अलावा इसमें एक औचित्य का प्रश्न है। विदूषक और दासी के झगड़े में कहीं एक शब्द ज्यादा हुआ तो ऐसे प्रसङ्ग अभिजात्य नाटकों में नीच पात्रों के लिए मर्यादित रखे गये हैं। भरत ने ग्राम्य और अश्लील भाषा का उपयोग विनोद के लिए करने में कोई आपत्ति नहीं उठायी है लेकिन यह नियम अमात्य और वणिक नायक के विदूषक को लागू है।[2] राजा जिन नाटकों में नायक है और ज्यादातर संस्कृत नाटक इसी प्रकार के हैं— उनमें एक शिष्टाचार का, औचित्य का मर्यादा-पालन सामाजिक सभ्यता की दृष्टि से आवश्यक बनता है। इसीलिए अभिनव ने कहा है कि राजा के या बड़े नायक की

---

१. भास का संतुष्ट (अविमारक, अंक २) 'गण्डभेददासी' और 'कुम्भदासी' ऐसे शब्दप्रयोग करता है। राजशेखर का कपिञ्जल (कर्पूरमंजरी, अंक १)— 'दास्याःदुहिते भविष्यत्कुट्टिनि निर्लक्षणे,' 'दास्याःपुत्रि टेण्टाकराले कोशशत-चट्टिनि रथ्यालुठिनि' ऐसी गाली का प्रयोग करता है तो चारायण (विद्ध-शालभंजिका, अंक २)—'दास्याःदुहिते कुट्टनि अमरिणि टेंटेटेण्टाकारिणि दुदुसंघलिते विषमकर्तरि' इस प्रकार गालियाँ देता है।

२. भावप्रकाशन, पृष्ठ २८१–२८२। प्रकरण ६, पृष्ठ ६०, टिप्पणी १–२ देखें।

उपस्थिति में अश्लील भाषा का प्रयोग न करें।[1] प्राचीन नाटककारों ने इस औचित्य का पालन किया है। इसके विपरीत राजशेखर का विदूषक राजा के सामने काफी गाली-गलौज करता है। राजशेखर ने विनोद का स्तर नीचे किया है इतना ही नहीं, तो साथ ही औचित्य की आवश्यक मर्यादाओं का पालन भी नहीं किया है।

जिस रनिवास में विदूषक घूमता है, उसको मर्यादाओं का विदूषक को पालन करना पड़ता है। दरबारी वातावरण में हाँ जी करना; या बड़ों का खैर वर्तन, राज-महल के प्रसंग आदि बातों की दिल्लगी उड़ाने का अधिकार विदूषक को था। लेकिन राजा के अन्तरंग मित्र के नाते घूमते समय, उसको खुद को कहीं भी न फँसने की जिम्मेदारी लेनी पड़ती है। इस कारण विदूषक की खैरता उसकी जीभ में रहती थी; स्वच्छन्दी बर्ताव को टालना ही प्राचीन नाटक के सामाजिक वातावरण की दृष्टि से आवश्यक था। राजा का सहायक और अन्तःपुर में मुक्तद्वार रहने वाले विदूषक का एक गुण 'बर्ताव की शुद्धता' ऐसा शास्त्रकारों ने नम्रता से कहा है।[2] दूसरी बात यह है कि शृंगारप्रधान सुखान्त संस्कृत नाटक में नायक के सहचर के रूप में विदूषक की भूमिका सामान्यतया निश्चित हो जाने से शृंगार सम्बधित बातों में भी विदूषक को एक मर्यादा उत्पन्न हुई है। सामाजिक सम्बन्ध में औचित्य की दृष्टि से, विदूषक का प्रेम की बातों का प्रकट करना अनुचित दिख पड़ता, उसी प्रकार नाटक की मुख्यवस्तु प्रेम होने से और उससे नायक का ही सम्बन्ध होने से, विदूषक का और एक संलग्न प्रेम प्रकरण नाटक में आना असंभव था। ब्राह्मण होने से और राजा के सहचर के नाते नाटककारों ने विदूषक की ओर प्रेमिका की भूमिका भी नहीं दी। एक दासी विदूषक को अपना अलंकार देती है, और उसे स्वीकृत करने पर वह अपना वल्लभ हुआ है ऐसा दासी कहती है।[3] लेकिन यह केवल विनोद की बात है। नायिका के महल से विदूषक को बाहर निकालकर नायक को एकान्त प्राप्त करा देने का ही इसका उद्देश्य रहा है।

नायक के जिन सहायकों का वर्णन किया है।[4] उनमें चेट यह हल्का नौकर

---

१. नाट्यशास्त्र, १२. १४२ पर अभिनवभारती : 'न च राजनि संनिवृत्ते अश्लील-भाषणं समुचितम्।' (गायकवाड आवृत्ति, खंड २, पृष्ठ १६०)

२. देखें—भावप्रकाशन, पंक्ति १९–२०; पृष्ठ २८१ :

विदूषकस्तु भूपानामग्राम्यपरिहासकः।
अर्थेषु स्त्रीषु शुद्धश्च देवीपरिजनप्रियः॥

३. अविमारक, ५. ६ ६८–६९ : नलिनिका—कस्त्वं, मम सर्वाभरणं गृहीत्वा वल्लभो जातः। एहि तावत्। (विदूषकं हस्ते गृह्णाति।)

४. प्रकरण ६, पृष्ठ ९२–९७ की टिप्पणियाँ देखें।

है। विदूषक ब्राह्मण होकर उसकी ओर हँसने का काम है। विट और पीठमर्द ये सुशिक्षित और सुसंस्कृत होते थे। उनकी ओर प्रेमिका की भूमिका आना संभव था। हर्ष ने 'नागानन्द' नाटक में विट और दासी के प्रेम प्रसंग का चित्रण किया है। भवभूति के 'मालती-माधव' प्रकरण में मकरन्द पीठमर्द है। वह नायक को प्रेम-पूर्ति में सहायता करता है और वह खुद मदयन्तिका से प्रेम करता है। सहायकों का प्रेम प्रकरण किस प्रकार दिखाया जाय और उसमें से विनोदनिर्मिति किस प्रकार की जाय इसकी कल्पना इन दो उदाहरणों से आ सकती है। नाटक में स्वतंत्र उपकथानक की योजना करने पर प्रेम का संलग्न प्रकरण चित्रित किया जा सकता है। 'मृच्छकटिक' नाटक में शर्विलक एक स्वतंत्र तरुण ब्राह्मण है। वसन्तसेना की दासी मदनिका से वह प्रेम करता है। उसको गुलामी से मुक्त करने के लिए शर्विलक सेंध लगाकर आवश्यक द्रव्य प्राप्त करता है। मुख्य कथा विषय के साथ ऐसा शृंगार स्वतंत्र उपकथानक के रूप में जोड़ना नाटककारों को संभव था। लेकिन विदूषक की बात अलग ही है। नायक का साहाय्य करना और हास्यनिर्माण करना इतनी ही भूमिका उसके पास थी। राजा का मित्र दिखायी दे इसलिए जान-बूझकर उसे ब्राह्मण दिखाया था। विनोदनिर्मिति के लिए उसके साथ एकाध शारीरिक व्यंग्य या विद्रूपता को जोड़ दिया था। इन सारी बातों पर ध्यान देने से प्रेम प्रकरण में विदूषक का सम्बन्ध केवल अप्रत्यक्षरीति से, नायक के सहायक के रूप में आया हुआ दिखायी देता है। शृंगारिक उपकथानक का नायक विदूषक हो ही नहीं सकता। यह भूमिका सिर्फ विट और पीठमर्द को ही संभव थी। राज शेखर के 'कर्पूरमंजरी' का विदूषक कपिञ्जल कहता है, 'हमारे जैसे के लिए काम की बाधा नहीं होती और धूप की तकलीफ भी नहीं होती।[1] विदूषक के ये उद्‌गार सूचक हैं। शृंगार दर्शन में विदूषक की भूमिका की मर्यादा इससे स्पष्ट होती है।

ऐसा एक मत प्रकट किया गया है कि 'धीरे धीरे विदूषक यह केवल विनोदी पात्र न रहकर पताका नायक के रूप में चित्रित किया जाने लगा, 'और इसके उदाहरण के रूप में राजशेखर के 'विद्धशलभञ्जिका नाटक के चारायण का निर्देश किया गया है।[2] यह मत अयोग्य है ऐसे ऊपरी विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा। साहित्यशास्त्र के व्याख्यानुसार 'पताका' यह एक उपकथानक है, उद्दिष्ट की दृष्टि से वह मुख्य कथानक का पूरक होता है, इसीलिए पताका को या पताकानायक को अलग

---

१. कर्पूरमंजरी, कोनाउ–संपादित आवृत्ति, पृष्ठ ९२–९३। विदूषक के उद्‌गार इस प्रकार है : 'एके मन्मथबाधनीयाः अन्ये तापशोषणीयाः। अस्मादृशः पुनः जनः न कामस्य बाधनीयः, न तापस्य शोषणीयः।'

२. प्रा० जे० टी० परीख, 'दि विदूषक : थिअरी अॅन्ड् प्रॅक्टिस्' पृष्ठ ३६।

स्वतंत्र फल नहीं प्राप्त होता। विश्वनाथ ने पताका के एक उदाहरण के रूप में 'शाकुन्तल के 'विदूषक-चरित' का निर्देश किया है।[1] यह ठीक ही है क्योंकि दूसरे, पाँचवें और छठे अंक में इस प्रकार तीन जगह विदूषक के रङ्गमंच पर आने जाने से विशिष्ट नाट्यहेतु सिद्ध होता है और दुष्यंत शकुन्तला के मुख्य प्रेम कथानक को गति मिलती है।[2] राजशेखर ने विदूषक के जो दो प्रसंग चित्रित किये है उनको ऊपरी अर्थ से पताका कहना कठिन है। वे केवल विनोदी प्रसंग हैं। एक प्रसंग में विदूषक का नकली विवाह किया जाता है, दूसरे में विदूषक इस फजीहत का बदला दासी से लेता है। वैसे तो इस प्रसंग का मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रसंग में विदूषक को पताका-नायक कहना संभव नहीं है। भले विनोदी रीति से ही क्यों न हो लेकिन विदूषक को प्रेम में फँसता हुआ या किसी के पीछे लगा हुआ न दिखाकर चारायण को दूसरी शादी से मतलब केवल उसे बनाने का प्रसंग है। हर्ष ने नागानन्द नाटक में जो प्रेम प्रकरण स्वतंत्र प्रवेश की तरह चित्रित किया है वह कम से कम नायक के विवाहोत्सव से निर्मित हुआ है, इसलिए उसका दूरान्वय से ही क्यों न हो कथावस्तु के साथ सम्बन्ध आता है। लेकिन इस प्रवेश में विट ही प्रधान पात्र है। राजशेखर द्वारा चित्रित प्रवेश केवल विनोद के लिए ही होते हैं और वे कथानक से अलग होते हैं। इसलिए ऐसा मानना गलत है कि राजशेखर के नाटक में विदूषक के विनोद को एक नयी दिशा मिली है।

गालीगलौज और ग्राम्य प्रसंगों से निर्मित हास्य आदि बातें विनोद का विकास नहीं दिखातीं। वे अवनति के दर्शक हैं। राजशेखर का विनोद प्रहसन के योग्य है; लेकिन वह प्रहसन न लिखकर नाटक अर्थात् उच्च स्तर का नाट्य लिख रहा है। इसलिए, राजशेखर के समय नाटक ने प्रहसन का निम्न स्तर प्राप्त किया; इसके अलावा इस चित्रण का क्या अर्थ किया जाय ?

---

१. देखें—साहित्यदर्पण, ६. ६७ :

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।
पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयफलान्तरम् ॥

यथा रामचरिते सुग्रीवादेः, वेण्यां भीमादेः, शाकुन्तले विदूषकस्य चरितम्।
दशरूपक, १. १३ में आगे का वर्णन है।

सानुबन्धं पताकाख्यं, प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥
दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्।

२. देखें—प्रकरण ११, पृष्ठ १२३–१२५

बाद के नाटकों का इतिहास देखने पर, विदूषक का चित्रण यांत्रिकता के एक विशिष्ट साँचे में ढलता हुआ दिखायी देता है। उत्तरकालीन नाटककारों ने जहाँ कुछ नवीनता लाने का प्रयत्न किया है वहाँ विदूषक की मूल भूमिका का अधिष्ठान बदलता हुआ दिखायी देता है।

बिल्हण के 'कर्णसुन्दरी' नाटक में[1] विदूषक का अपना नाम ही नहीं है। लगता है कि यह पात्र इतना सांकेतिक और साँचे में ढल गया था कि उसको एक विशिष्ट नाम देकर उस व्यक्ति के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व दिखाने की कोई जरूरत नहीं थी।

आर्य क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' नाटक में[2] बौधायन नामक विदूषक है। यह नाटक हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियता और विश्वामित्र का उसको अत्यन्त कष्ट देना इस कथानक पर आधारित है। वास्तव में इस गम्भीर और दुःखपूर्ण कथावस्तु में विदूषक को स्थान नहीं है। विदूषक को चित्रित करना होता तो उसके विनोद का उपयोग भावनिक समीकरण से प्रेक्षकों के मानसिक प्रक्षोभ को उतार देने के लिए करना जरूरी था। लेखक ने कुछ वैसा भी नहीं किया है। राजा के साथ विदूषक हो इस संकेत के लिए ही केवल विदूषक को चित्रित किया हुआ दिखायी देता है। विदूषक पहले अंक में दिखता है; निश्चित विनोद करता है; और फिर एक बार वह आता है तो नाटक में दुबारा दर्शन नहीं होते।

पण्डित जगन्नाथ के 'रतिमन्मथ' के[3] पहले दो अंकों में विदूषक है। यह 'अनूचान श्रोत्रिय' अर्थात् अशिक्षित ब्राह्मण है। नायक के सामने वह अपने ज्योतिष ज्ञान की डींग हाँकता है और उस ज्ञान के आधार पर नायिका के पास उसे प्रवेश करा देने का आश्वासन नायक को देता है। इस पर नायक कहता है; 'असंबद्ध बातें करना इन्हीं की तरह अलंकार है।'[4] यह विदूषक पेटू (औदरिक) है, मोदक से विशेष प्रेम है, और ब्राह्मणों के वनभोजन का पता लगते ही वह नायक को छोड़कर उस ओर दौड़ता है। अप्रत्यक्षरीति से प्रेम पूर्ति में उसकी मदद होती है। नायिका का चित्र खींचने के लिए वह नायक को प्रोत्साहन देता है, और चित्रफलक ऐसी जगह फेंक देता

---

१. बिल्हण : 'कर्णसुन्दरी' (काव्यमाला, ७) इ० स० १०७६–११२७।
२ आ.र्यक्षेमीश्वर, चण्डकौशिक, (कलकत्ता आवृत्ति) इ० स० की ९ वीं, १० वीं सदी।
३. पंडित जगन्नाथ, रतिमन्मथ; इ० स० १७११–१७२७।
४. रतिमन्मथ, अंक १, मन्मथ कहता है : 'अलंकारोऽयमीदृशानां यदसम्बद्धव्यवहारिता इति।'

है कि ठीक उसे कोई भी उठाकर नायिका को दे दे। वह नायक से पूछता है कि क्या नायिका अपनी ब्राह्मणी जैसी दिखती है क्या ?[1] इसमें विद्रूपता की सूचना आ जाती है। पूरे वर्णन को पढ़ने पर लगता है कि इस नाटक के नायक मन्मथ के सहचर के रूप में परंपरित पद्धति के अनुसार एक निश्चित विदूषक को लेखक ने चित्रित किया है।

विदूषक का पागलपन और उसके व्यावहारिक चातुर्य की असंगति ही विनोद का अधिष्ठान है। विदूषक का बाहर का बेढ़ंगा वेष और उसके अन्तस्थल की असंबद्धता के विरोध से सच्चा विनोदनिर्माण होता है। लेकिन इस विरोध के या असंगति के चित्रण से विनोद निर्माण होने के लिए कथावस्तु के साथ सम्बधित ऐसे प्रसंगों में से विदूषक की मार्मिक अवलोकन-स्फूर्ति आवश्यक है। ऐसे होने पर एकाध प्रसंग की ओर या बात की ओर विनोद बुद्धि से किस प्रकार देखना चाहिए इसकी प्रतीति होती है। लेकिन यदि विदूषक एक बार मूर्ख की तरह और एक बार चतुर की तरह व्यर्थ ही बोलने लगे तो यह विनोद के लिए आवश्यक असंगति न बनकर वह चरित्र-चित्रण की असंगति बन जायेगी क्योंकि इस प्रकार की असंगति देखकर विदूषक जान-बूझकर पागल जैसी बातें कर रहा है, उसका मूल स्वभाव अलग ही है, ऐसा लगता है। और इस प्रकार लगने पर हमारी आँखों के सामने सच्चा विनोदी पात्र न आकर धन्धा करने वाला खुशामदी आता है।

उत्तरकालीन नाटकों में विदूषकों का चित्रण इस दिशा में होता हुआ स्पष्ट दिखायी देता है। बिल्हण का विदूषक और राजशेखर का चारायण संस्कृत में बातें कर सकते हैं।[2] अर्थात् उन्हें सुशिक्षित शिष्ट लोगों की भाषा आती है। पहले विदूषक की विद्वत्ता एक स्वाँग थी और उससे विनोद निर्माण होता था अब विदूषक की मूर्खता ही एक स्वाँग बन गयी है। इसके कारण विनोद की बुनियाद हटायी गयी सी लगती है। पीछे कहा गया है कि संस्कृत नाटकों में विदूषक को नाट्य निवेदक की भूमिका करनी पड़ती थी।[3] ऐसे प्रसंगों में स्थलकाल के या दृश्यों के वर्णन करने के हेतु से नाटककारों ने विदूषक द्वारा समासप्रचुर काव्यभाषा का प्रयोग किया है। लेकिन वह उसके लिए ही मर्यादित है और नाट्यनिवेदन ही वहाँ का उद्दिष्ट है।

---

१. रतिमन्मथ, अंक २ : 'वयस्य यथातथा कथय किं मम ब्राह्मण्याः रूपेण एषा सदृशी इति।'

२. कर्णसुन्दरी १. ५०, विद्धशालभञ्जिका १. ३०; राजा चारायण की प्रशंसा करता है कि, 'संस्कृतेऽपि प्रगल्भसे।'

३ प्रकरण ११, पृष्ठ ६८।

अन्यत्र विदूषक की भाषा अलग है, सरल है। पुराने नाटककारों द्वारा अनुसरित यह बन्धन उत्तरकालीन नाटकों में टूट गया। बिल्हण, राजशेखर और महादेव के नाटकों में उपरि निर्दिष्ट विशिष्ट प्रसङ्गों में ही नहीं बल्कि अन्यत्र भी विदूषक के द्वारा क्लिष्ठ और अलंकारिक भाषा का प्रयोग किया गया है। यह फर्क विनोद निर्मिति के लिए पोषक कैसे हो सकता है ?

बिदूषक की मूर्खता और सूक्ष्म व्यावहारिक चतुराई से निर्मित असंगति विदूषक के स्वभाव में जड़ी हुई सी लगती है। अगर ऐसा न होता तो ये अलग अलग दो विभाग लगते। राजशेखर के नाटकों में और प्राकृत सट्टक में[1] यह विरोध तीव्रता से खटकता है और वहाँ उसका स्वरूप भी विनोदी असंगति का नहीं रहा है। राजशेखर की 'कर्पूर मंजरी' में और रुद्रदास की 'चन्द्रलेखा' में विदूषक और रानी की दासी की कविता-प्रतियोगिता वर्णन है। यहाँ विदूषक का किया हुआ वर्णन हास्यकर है।[2] लेकिन अन्य प्रसंगों में विदूषक का कवित्व और उसकी दृष्टि ध्यान में लेने पर उसके कवित्व के बारे में बिल्कुल सन्देह नहीं होता। इसका मतलब यह हुआ कि विदूषक का यह पागलपन व्यावसायिक है। इस सट्टक का विदूषक अपने ज्ञान की अर्थात् अज्ञान की, गप्पे हाँकते बैठता है[3] उसी में ही विनोद है। लेकिन नाटक में उनके अज्ञान की अपेक्षा ज्ञान का ही प्रत्यय आने के कारण ये केवल गप्पें सिद्ध होती हैं और फिर उसमें होने वाला विनोद समाप्त हो जाता है। 'अद्भुत दर्पण' नाटक का महोदर राजकार्य के बारे में रावण से तर्कप्रचुर चर्चा कर सकता है।[4] चन्द्रलेखा के चकोर को काव्य

१. साहित्यशास्त्र में नाटक के विविध दस प्रकार बतायें है। वे 'दशरूपक' नाम से जाने जाते हैं। 'सट्टक' यह नाट्यरचना का एक विशिष्ट प्रकार है। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी', रुद्रदास की 'चन्द्रलेखा' ये सट्टक सम्बन्धी उदाहरण है।

२. देखें— कर्पूरमंजरी', १. १६; चन्द्रलेखा, १. १७–[१८]–[२१]।

३. कपिंजल कहता है : 'भोः, युष्माकं सर्वेषां मध्ये अहं एकः कालाक्षरिकः, यस्य मे श्वशुरश्वशुरः परगृहे पुस्तकभारं वहन् आसीत्। ···अकालजलदवंशसंभूतानां परम्परया पाण्डित्यम्।' —कर्पूरमंजरी, १. १८–[१]–[२९]।

चकोर कहता है : 'यतः पूर्वमेव अस्माकं गृहे परम्परया समागतं पण्डितत्वं कवित्वं च पथिषु प्रतिरोधकभयाद् अस्मद्ब्राह्मणीशयनीयैकपार्श्वसंस्थापितायां मञ्जूषिकायां निधाय लोहसालया गाढं बद्ध्वा मुद्रामपि दत्त्वा शाटके समुद्रे संगृह्य आगतः।'

—चन्द्रलेखा १. २६–[१]–[५]।

४. अद्भुतदर्पण, काव्यमाला; नं० ५५, अंक ६ देखें।

विषय, यमकालंकार और स्रग्धरा वृत्त का उचित ज्ञान है।[1] राजशेखर का चारायण गांधर्ववेद में प्रवीण है।[2] वह धर्मशास्त्र के अवतरण भी ठीक रूप में देता है।[3] कपिञ्जल राजा का वर्णन 'सूत्रकार' के रूप में करता है और खुद को 'वृत्तिकार' कहलवाता है और राजा का शुरू किया हुआ वर्णन विस्तार से कहता है।[4] इस की विदग्धता विनोदी विदूषक का धर्म न होकर वास्तव में वह सुसंस्कृत विट का धर्म है। 'कर्णसुन्दरी' नाटक में रानी विदूषक का वर्णन 'ब्राह्मण विट' के रूप में करती है,[5] यह बात ध्यान देने योग्य है। लेकिन इसका मतलब यह हुआ कि विदूषक का अधिष्ठान बदलता गया। इस बदल में विनोद की बुनियाद शुरू हुई।

विदूषक वास्तव में विनोदी पात्र का स्वरूप बदल कर व्यावसायिक विनोद का ठेकेदार बन रहा था और उसका चित्र नाटक में निश्चित रूप का बना था। उत्तर-कालीन नाटकों में इसके बारे में प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। महादेव के 'अद्भुत दर्पण'

---

१. चन्द्रलेखा, १. २६–१७–१८। जब कवित्व की स्पर्धा शुरू होती है तब विदूषक दासी को अपनी सीमाएँ बताता है, 'यदि आत्मनो वैदग्ध्यं दर्शयितुं व्यवसितासि तद् यमकं कर्तव्यं, मलयानिलो वर्णयितव्यः, स्रग्धरा च वृत्तम्।' आगे दासी जो श्लोक कहती है (१. २७) उसमें ऊपरी विशेषता ठीक आ गयी है।

२. विद्धशालभञ्जिका, अंक २। विदूषक को उद्देश्य कर राजा के शब्द इस प्रकार के हैं, 'देवेन अपि ··· देवी ··· भणिता यथा सुन्दरि मा विषण्णा भव यतो गान्धर्ववेदविचक्षणः स्वाधीन एव ब्राह्मणः···।

बाद में विदूषक कहता है, 'अयमहं पिङ्गलिकावल्लभो गान्धर्ववेदविचक्षणो रक्षकस्तिष्ठामि···।'

३. देखें—विद्धशालभञ्जिका, ४. १७ :

'भज्जा दासो अ पुत्तो अ णिद्धणा सअला वि ते।
जं ते समधिअच्छंति जस्स ते तस्स तं धणं॥'

विदूषक के ऊपरी श्लोक कहने पर दूत कहता है, 'अहो स्मृतिवैशारद्यं महाराजनर्मसचिवस्य चारायणस्य।' इसमें नटखटपन होने पर भी इसमें विनोद होने के कारण इसे छोड़ा नहीं जा सकता। प्रस्तुत श्लोक संस्कृत में शाबर भाष्य में (मीमांसासूत्र ६. १. १२) उद्धृत किया है। यही श्लोक दूसरे शब्दों में मनुस्मृति, ८. ४१६ और महाभारत उद्योगपर्व, ३३. ३६ में मिलता है।

४. कर्पूरमंजरी, २. ३२–१–२ : 'भोः, सूत्रधारः त्वम्। अहं पुनः वृत्तिकारो भूत्वा विस्तरेण वर्णयामि।'

५. देखें—कर्णसुन्दरी, ४. १२–६ : 'एष सम्प्राप्तः भर्ता समं ब्राह्मणविटेन।'

नाटक से ऐसा मालूम होता है कि रोमान्थक नामक नट विदूषक की भूमिका कर रहा था।[1] कर्पूरमञ्जरी का कपिञ्जल विदूषक का स्वाङ्ग भरने के लिए चिढ़ता है। ब्राह्मण और दासी को समान दण्डक से राजमहल में नापते देखकर वह निराशा हुआ है। बर्ताव की यह पद्धति शराब और पंचगव्य को एक पात्र में रखने के जैसे या काँच या मणि को साथ साथ गूँथने जैसा है। राजकुल की नौकरी छोड़के घर में बैठकर पत्नी की सेवा करना अच्छा है ऐसे विषण्ण शब्द वह निकालता है। विदूषक को राजकुल छोड़कर जाता हुआ देखकर, उसके सिवा अपना मनरंजन कैसे होगा, इस कल्पना से रानी उसे वापस बुलाती है। लेकिन कपिञ्जल चिल्लाकर कहता है, 'नहीं मैं नहीं आऊँगा। कोई दूसरा साथी ढूँढ़ लो! या इस दुष्ट दासी को दाढ़ी, सूप के कान लगाकर, उसको मेरी जगह नियुक्त करो। तुम्हारे बीच मैं मरा ही हूँ। केवल तुम ही सौ बरस जीते रहो।[2] ये शब्द विनोदी होने पर भी उनके पीछे एक वस्तुस्थिति छिपी है। इस प्रमाण से विदूषक का धन्धा बना हुआ था ऐसा अनुमान निकालने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं मिलता।

पुराने नाटकों में विदूषक और राजा की मित्रता स्वाभाविक ही दिखती है। इससे विपरीत कुछ उत्तरकालीन नाटकों में नायक और विदूषक का सम्बन्ध केवल सांकेतिक ही नहीं तो शिष्टाचार पर आधारित दिखायी देता है।' कौमुदीमहोत्सव' नाटक का विदूषक राजा को 'धनीमित्र' कहता है।[3] तो कपिञ्जल सामाजिक

---

१. 'अद्भुतदर्पण' नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है, 'सखे रोमन्थक! अद्य किल लंकेश्वरनर्मसुहृदो महोदरस्य भूमिका निष्प्रमादमभिनेतव्या इति प्रागेव दत्तं ते मोदकपारितोषिकम्।'

२. कर्पूरमंजरी, अंक १. क्रमशः संदर्भ इस प्रकार है—

(१) ईदृशस्य राजकुलस्य भद्रं भवतु यत्र चेटिका ब्राह्मणेन समशीर्षिकया दृश्यते, मदिरा पंचगव्यं च एकस्मिन् भाण्डे क्रियते, काचं माणिक्यं च समं आभरणे प्रयुज्येते।

(२) ईदृशं राजकुलं दूरे वन्द्यताम् यत्र दासी ब्राह्मणेन समं प्रतिस्पर्धां करोति। तदद्यप्रभृति निजवसुन्धराब्राह्मण्या चरणशुश्रूषको भूत्वा गृहे एव स्थास्यामि।

(३) न खलु न खलु आगमिष्यामि। अन्यः कोऽपि प्रियवयस्योऽन्विष्यताम्। एषा वा दुष्टदासी लम्बकूर्चं टप्परकर्णं प्रतिशीर्षकं दत्त्वा मम स्थाने क्रियताम्। अहं एको मृतो युष्माकं मध्ये, यूयं पुनः वर्षशतं जीवथ।

३. कौमुदीमहोत्सव, ३. ५–३. 'यद् भर्तृवयस्यः आज्ञापयति।'

व्यवहार योग्य ऐसे 'देव' शब्द से राजा को संबोधित करता है।[1] मालिक और नौकर के बीच शोभा देने वाली भाषा पुराने नाटकों में कहीं भी नहीं मिलती।

राजशेखर के नाटकों से ऐसा स्पष्ट लगता है कि विदूषक कुटुम्बवत्सल गृहस्थ है और उसने अपनी उपजीविका के लिए विदूषक का धन्धा स्वीकार किया है। इस धन्धे को सँभालते समय राजमहल में उसे अनेक मानहानि के प्रसंगों को सहना पड़ता है। प्रत्यक्ष नाटक में विदूषक ये उद्गार न कहता तो विदूषक की फजीहत विनोद का भाग मानी जाती, और विदूषक का सच्चा स्वभाव और व्यावसायिक जीवन के बीच जो विरोध निर्माण होता है वह कम से कम वाचक प्रेक्षक के ध्यान में न आता। लेकिन इस विरोध की तीव्रता सामाजिक जीवन में ही लगी होगी, और उसके कारण राजशेखर जैसे नाटककार को उसका उच्चारण किये बिना चुप बैठा रहना असह्य हुआ होगा। जो भी हो; विदूषक की भूमिका को धंधे का रूप आया हुआ दिखता है। इस स्वरूप का चित्रण साहित्य में आते ही विनोद के मूल रूप का लोप हो जाना स्वाभाविक ही है।

परंपरित रूप से विनोद पुराना बनता गया। मूर्खता और गहरी चतुराई का विरोध विनोदानुकूल न रहकर उनके विभाग हो गये; और उसके कारण यह असंगति कलात्मक असंगति बनकर विनोदी चरित्र-चित्रण की नींव ही बदलने लगी। विदूषक का पागलपन विनोद के लिए लाया हुआ एक स्वाँग है, मूर्ख की तरह बड़बड़ाना और बर्ताव करना उसका एक धंधा है, ऐसी स्पष्ट कल्पना इन नाटकों में आने लगी। विदूषक की विनोदी पोशाक पहनकर उसे चातुर्यपूर्ण बनाना ठीक है। लेकिन उसकी विनोदी वेषभूषा धन्धे वाले की वेशभूषा का होना स्पष्ट सूचित करता है अर्थात् यह असली विनोद के नष्ट होने की सूचना ही है।

विदूषक के विकास होने के समय पर उसका विकास रुका हुआ दिखता है। जब कालिदास विदूषक को रंगमंच पर लाकर उसे इन्द्रसारथी के द्वारा पिटावाता है तब एक दृष्टि से ऐसा लगता है कि वह विदूषक के नष्ट होने का लाक्षणिक वर्णन कर रहा है। फजीहत की मर्यादा पार हो जाने पर विदूषक रंगमंच पर अपना मुँह काला करके भाग जाता है, जिसका वर्णन हर्ष ने किया है, इससे ऐसा लगता है कि इस विनोदी पात्र के कठिन भविष्य की मानों नाटककार सूचना दे रहा है। जब विदूषक अपनी नौकरी छोड़कर जाता है तब राजशेखर विदूषक द्वारा कहलवाता है कि दासी

---

१. कर्पूरमंजरी, २. ४१-६ : 'तत् लक्ष्मीसहचरः क्षणं तिष्ठतु देवो यावदहं शिशिरोपचारसामग्रीं सम्पादयामि।'. और, २. ४९ ३ : 'भणामि यदि देवो न कुप्यति।'

को अपनी जगह रखें; कला की दृष्टि से यहीं से विदूषक के अवनत जीवन पर परदा गिरता हुआ सा लगता है।

आगे चलकर संस्कृत नाटकों में या प्राकृत सट्टकों में विदूषक का पात्र चित्रित किया गया है लेकिन उसमें विकास की कोई भी नयी दिशा नजर नहीं आती, या उसके पुनरुज्जीवन का प्रयत्न नजर नहीं आता। सातत्य यह विकास का धर्म नहीं है। कई बार ऐसा सातत्य अवनति और नाश के बीच की एक अनिवार्य सीढ़ी होती है। नाटक में विदूषक का चित्रण केवल रूढ़ि के प्रभाव से होता रहा। राजशेखर के नाटक की दासी पूछती है, 'रूढ़ि को किस प्रकार तोड़ा जाय ?'[१] रुद्रदास के 'चन्द्रलेखा' का विदूषक कहता है, 'चतुर लोगों की बुद्धि भी अंधपरम्परा का अनुसरण करती है।'[२]

देशी नाटकों की परंपरा में भी विदूषक मिलता है लेकिन अब उनकी ओर ग्रीक नाटक के कोरस का अर्थात् नाट्यनिवेदक का कार्य आ गया है। प्राचीन परम्परा के नाटकों में प्रारम्भ में विदूषक और सूत्रधार का संवाद होता है, वह प्राचीन त्रिगत प्ररोचन इस पूर्वरङ्ग की याद दिलाने वाला है। केरल रंगमंच पर विदूषक खुद ही सूत्रधार की भूमिका में प्रस्तुत होता है। नाटक का परिचय करा देने का और पात्रों के कहे हुए श्लोकों पर देशी भाषा में विवरण और विनोदी भाष्य करने का कार्य उस पर आ गया है।

प्राचीन नाटकों से विदूषक का पिछला इतिहास देखने पर ऐसा कहना पड़ता है कि वह अवनति का इतिहास है। इसमें समाधान के लिए इतना ही अवकाश है कि विनोदी पात्र के रूप में यद्यपि विकास होता गया फिर भी उससे विनोद पर कोई आँच नहीं आ पायी। 'प्रहसन' नाट्य प्रकार से विनोदी पात्र के नये नमूने तैयार हुए और उससे विनोद का झरना बहता ही रहा। आधुनिक देशी नाटक संस्कृत से पैतृक दाय लेकर निर्मित हुए और शेक्सपीयर और मोलियर जैसे पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से विकसित होने लगे। उन्होंने प्रचलित सामाजिक जीवन से विनोदी पात्रों का निर्माण किया और स्वभावनिष्ठ विनोद के साथ ही सामाजिक रीतिरिवाज और नैतिक कमियों के उपहास का विस्तृत क्षेत्र खुला कर दिया। विदूषक का अस्त हुआ लेकिन विनोद की प्रथा विकसित होती रही।

• • •

---

१. कर्पूरमंजरी, २. २७ : 'रूढेः का खण्डना।'

यहाँ रूढ़ि शब्द पर श्लेष है। व्युत्पत्ति के अर्थ की अपेक्षा रूढ़ अर्थ अधिक समर्थ होता है, उसी प्रकार सौंदर्य की भी बात है, ऐसा यहाँ सूचित किया है।

२. चन्द्रलेखा, १. २६ : 'अहो पण्डितानामपि बुद्धिरन्धपरम्परामनुवर्तते।'

१५. अवनति की मीमांसा

यह सत्य है विनोदी पात्र के रूप में विदूषक की उत्तरोत्तर अवनति होती गयी पर इतना कहना काफी नहीं है। उस अवनति के कारणों को ढूँढना आवश्यक है। राज-महल के अंतःपुर में दास दासी का जो निम्न-वर्ग होता था उसके साथ विदूषक का अधिकाधिक संबंध आता गया। अंतःपुर में विदूषक को जो प्रवेश मिला वह उसकी मूर्खता के कारण ही। जब सामाजिक जीवन में परिवर्तन हुआ और रीति-रिवाज बदल गये तब वहाँ केवल विदूषक का साँचा ही रह गया, और आगे चलकर जब विनोद के सब अंशों को तांत्रिक संकेत का स्वरूप आ गया तब यह साँचा भी छिन्नविछिन्न हो गया, इस प्रकार एक मीमांसा की गयी है।[1] यह मीमांसा तो ठीक है। लेकिन विदूषक की अवनति किस प्रकार होती गयी इसे बताते समय सामाजिक कारण ढूँढने की अपेक्षा साहित्यिक तत्त्वों का विचार करना आवश्यक है क्योंकि विदूषक का नाटकीय पात्र के रूप में जो ह्रास हुआ इसके साथ हमारा मुख्य संबंध है।

इस दृष्टि से प्रथम ध्यान में आ जाने वाली बात यह है कि विनोदी पात्र और विनोद इनका सच्चा मर्म कुछ ही लोगों को मालूम था। विनोदी पात्र का एकाध नमूना (Type) तैयार हो जाने पर वह थोड़ी अवधि में पुराना हो जाता है। समाज के एकाध व्यक्ति के, सामाजिक या नैतिक कमी के सामान्य प्रतीक के रूप में यद्यपि विनोदी पात्र का निर्माण हुआ हो फिर भी कालांतर से उसकी विशेषता फीकी पड़ती गयी है। ऐसे समय जिस विनोदी पात्र का चित्रण निश्चित विशेषता दिखा कर करने के बदले एक सजीव पात्र के रूप में किया जाय तभी वह व्यक्ति वाङ्मय में अमर बन

---

१. देखें—जागीरदार, 'ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर,' पृ ७०-७१।

सकता है। उत्तरकालीन नाटककारों ने विदूषक के नमूनों को दुहराया; लेकिन वे विदूषक का निजी व्यक्तित्व चित्रित कर नहीं पाये।

पात्रों के निश्चित नमूने चित्रित करने में साहित्यिक दृष्टि से कुछ गलती हुई होगी सो बात नहीं। प्राचीन ग्रीक नाटकों में ऐसे नमूने हैं। ॲरिस्टाफेन्स के परिहास प्रचुर नाटकों में निश्चित साँचे के विनोदी पात्र हैं लेकिन तत्कालीन समाजजीवन की कमियाँ जिस प्रकार उस समय के लोगों में मिलती हैं उसी प्रकार वे सामाजिक संस्था और रस्मोरिवाज में भी प्रतिबिंबित होती हैं, इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को ॲरिस्टॉफेन्स जान गया था। इसलिए ही वह निश्चित विनोदी पात्रों को चित्रित करके रुका नहीं। उसने अपने नाटकों की हेतुपूर्वक रचना की और स्वकालीन समाज की युद्धपिपासा, न्यायालय की घूसखोरी, वैचारिक क्षेत्र के और रंगमंच को नूतनता की हानि और साम्राज्यवादियों की महत्त्वाकांक्षा आदि बातों का मर्मभेदक उपहास करने के लिए विनोद के अस्त्र का प्रयोग किया।[1] अरिस्टॉफेन्स मूलतः नाटककार था। उसने अपने नाटकों में निश्चित रूप के पात्रों का प्रयोग करने के बदले मानवी स्वभाव की विशेषताओं से परिपूर्ण नमूनों को खड़ा किया। शेक्सपियर की कला के बारे में यही कहा जाता है। उसने पात्रों के नमूने चित्रित करने की अपेक्षा नमूनों के पात्र निर्माण किये। रक्त-मांस के स्त्री-पुरुषों की सजीवता इन पात्रों में है और इसलिए वे पात्र शेक्सपियर के समय जितने सजीव लग रहे थे उतने आज भी लगते हैं। इन पात्रों ने हमारे मन में एक निश्चित स्थान पा लिया है। केवल ऐतिहासिक पात्रों के रूप में ही नहीं, नाटकीय तथा सजीव पात्रों के रूप में इनके बारे में हम अपनत्व का अनुभव करते हैं।[2]

गुणाढ्य के 'बृहत्कथा' ग्रंथ में 'गोमुख' नाम का एक पात्र है। उसके बारे में लिखते समय फ्रेंच विद्वान् लाकोत् कहता है, 'यह आश्चर्यजनक है कि उत्तरकालीन साहित्यिकों ने इस पात्र का प्रयोग नहीं किया। यह सत्य है कि रंगमंच की नाट्यकृतियों में विदूषक और विशेषतः विट के पात्रपरिचय में गोमुख के चित्रण की कुछ छटायें दिखती हैं। लेकिन इन निश्चित रूपों के नाटकीय चित्रण को गोमुख के पात्रपरिचय की मिठास कभी नहीं आ सकती।[3]

यह कहना भी असत्य नहीं है। लेकिन इससे बढ़कर आश्चर्य की बात तो यह है कि विनोदी पात्र को चित्रित करने के लिए स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए नाटककारों

---

१. देखें—जेम्स् फीबलमन्, 'इन् प्रेज् ऑफ् कॉमेडी' पृ. २८, ३१.

२. देखें—जॉर्ज गॉर्डन्, 'शेक्सपीरिअन् कॉमेडी', पृ. ६

३. देखें—Lacote, 'Essay on Gunadhya and the BrhatKatha', टी. ए. बार्ड का किया हुआ अंग्रेजी अनुवाद, पृ. २२५।

को दूर जाने की जरूरत नहीं थी। कालिदास ने हाँ में हाँ मिलाने वाले सेनापति, और अधिकार दिखाने वाले एवं घूस लेने के लिए तत्पर पुलिस अधिकारी आदि के जो चित्र, शाकुंतल नाटक में चित्रित किये गये थे उनका, विनोदी चित्रण के लिए और उपयोग कर लेना सुलभ था। शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक में तो विनोदी पात्रों का एक अपूर्व विश्व साकार हुआ है। केवल संदेश पहुँचाते समय पहेली की भाषा का प्रयोग करके मैत्रेय की थोड़ी देर के लिए हँसी उड़ाने वाला चेट, डरपोकपन और शौर्य की गर्जना, जन्मगत क्रूरता और प्रेम की मूर्खता, सियार का दाँवपेंच और बोलने की मूर्खता, काम वासना की तरह बढ़ी हुई जठराग्नि ऐसे विविध और विरोधी गुणों से भरा हुआ अभूतपूर्व शकार, और जुए में सब गँवाकर' 'द्यूत' याने अनभिषिक्त साम्राज्य' ऐसी बातें करने वाला, फटा हुआ खुद का उत्तरीय खोल कर उसकी दशा देखकर 'इसकी पर्त्त करने पर ही शोभा दिखती है' ऐसा कहकर उसकी आहिस्ता आहिस्ता पर्त्त करने वाला, जीवन की आपत्तियों और दारिद्र्य पर बादशाही तुच्छता से हँसने वाला कौतूहलपूर्ण जुआरी दर्दूरक ऐसे कई पात्र विदूषक के साथ शूद्रक के नाटक में झाँककर गये हैं और उन्होंने वाचक के मन में हमेशा का स्थान प्राप्त कर लिया है।

प्रहसन नामक नाट्य प्रकार में विनोद का सुन्दर नमूना देखने को मिलता है। 'भगवद-ज्जुकीय' नामक बहुत पुराने प्रहसन में एक शिष्य का पात्र है। उसका चित्रण विदूषक के नमूने पर हुआ है। लेकिन इस प्रहसन में सच्चा आनन्द यमदूत की गलती से निर्माण होता है। एक मरणाधीन स्त्री के प्राण लाने के लिए यम उसको भेजता है। यमदूत आता है और किसी वसंतसेना नाम की गणिका के प्राण हरण करके निकल जाता है। उसकी गलती को ध्यान में लेकर उसे यमराज फिर वापस भेज देते हैं। यमदूत वापस आने पर गणिका के शरीर में एक योगी की आत्मा का प्रवेश देखता हैं और सोचने लगता है कि खुद के हाथों में स्थित गणिका के प्राणों का क्या किया जाय? लेकिन वह योगी के पास में पड़ा निश्चेष्ट शरीर देखकर उसमें उस गणिका के प्राणों को रख देता है। इस बदल का परिणाम यह होता है कि वह योगी गणिका की तरह प्रेम की भाषा बोलने लगता है, तो गणिका योगी की तरह विद्वत्तापूर्ण भाषा बोलने लगती है।

इतना शुद्ध विनोद उत्तरकालीन प्रहसनों में नहीं मिलता। इन प्रहसनों में ग्राम्यता और अश्लीलता की हद हुई है। लेकिन यहाँ ग्रीक नाटक की तरह कुछ विनोदी पात्रों के नमूने देखने को मिलते हैं। ऐसा ही एक नमूना है वैद्यराज का। 'लटकमलक' प्रहसन में वैद्यराज जन्तुकेतु मदनमंजरी के गले में अटकी हुई मछली की हड्डी निकालने के लिए उसके गले में रस्सी बाँधकर उसको जोर से खींचने का उपाय सुझाता है। 'हास्यार्णव' नामक प्रहसन में वैद्यराज है। उसका नाम व्याधिसिंधु अर्थात् रोगों का

सागर है। बन्धुरा नामक एक बूढ़ी वेश्या की आँख में तिमिर रोग हो जाने से वह अंधी बनती जाती है। उस वेश्या के घर आया हुआ अनर्यसिंधु नाम का राजा उसकी इस अवस्था को देखकर वैद्य को बुलाता है। तब वैद्यराज उपाय सुझाते हैं कि लोहे की सलाइयाँ तपाकर उसकी दोनों आँखों में घुसेड़ दी जायँ। इस प्रकार उसकी आँखें ही नष्ट हो जाने पर फिर बीमारी के लिए कोई भी आधार नहीं रहेगा। नायिका मृगांकलेखा को वैद्यराज की यह उपाय योजना सुनकर हँसी आती है। वह पूछती है कि रोगी की परीक्षा पहले आँखो से करते हैं, इसलिए आँखों का नाश करने पर बीमार का जो होगा सो होगा लेकिन इसमें वैद्य को भी क्या मिलेगा ? यह देखकर कि एक वेश्या द्वारा वैद्यकीय ज्ञान की हँसी उड़ायी जा रही है वैद्यराज वहाँ से नौ-दो ग्यारह हो जाते हैं।

प्रहसन में एक पात्र सेनापति का होता है। 'हास्यार्णव' के सेनापति की बहादुरी इस प्रकार है कि फूलों में मधु पीती हुई मधुमक्खी को पकड़कर लाता है। इसके लिए उसने कवच पहना है, साथ में चार सिपाही लिए हैं और आहिस्ता-आहिस्ता बढ़कर प्रथम बड़े चमड़े के फीतों से बाँधकर खीचता है और फिर उस मधुपान करने वाली स्त्री गुनहगार का सिर अपने तीक्ष्ण खड्ग से अलग करता है। रणजम्बुक नाम का सेनापति अपने शौर्य की बात बताते समय कहता है कि 'स्त्री के पैरों में लगी हुई महावर देखकर रक्त की कल्पना से मैं घबड़ा गया। अमावस्या का अंधकार देखकर मुझे मूर्च्छा आ सकती है फिर समरांगण में शत्रु के रक्तरंजित मुख का क्या कहना ?[1] अर्थात् प्रहसन में आने वाले अन्य विनोदी पात्र हैं—गणिका, नाई और पुलिस सिपाही।

विनोदी पात्रों के ये नमूने छोड़कर यदि हम केवल विदूषक का विचार करें तो भी भास, कालिदास और शूद्रक आदि ने विनोद की उज्ज्वल दिशा दिखायी थी। संतुष्ट, गौतम और मैत्रेय सांकेतिक नमूने हैं, वे मूर्ख ब्राह्मण हैं, अशिक्षित है, डरपोक हैं, पेटू हैं, हास्यकारक चित्रण का निश्चित साधन-शारीरिक विकृति भी उनके पास है, फिर उनका अपना निजी व्यक्तित्व है। सांकेतिक चित्रण में भी व्यक्तित्व का रंग देने के कारण

---

१. हास्यार्णव, १. ४३ :

'सद्यो दत्तमलक्तकं पदयुगे दृष्ट्वाङ्गनाया रतौ
रक्तभ्रान्तिवशाद् भयेन नितरां म्लानेन्द्रियो मेदिनीं।
पश्यन् दर्शनिशातमिस्रनिकरच्छन्नामिवाशां तथा
मूर्च्छेयं भुवि का कथा समरतो रक्तास्यसक्तद्विषाम् ॥

इन विदूषकों के चरित्रचित्रण उज्ज्वल, विशेषतापूर्ण और अविस्मरणीय हुए हैं। बाद के नाटककार इस मर्म को भी पहचान लेते तो विदूषक का इतनी जल्दी पतन न होता।

लेकिन पुराने नाटककार विदूषक का ऐसा विशेषतापूर्ण चित्रण करके रुके नहीं। उन्होंने यह दिखाया कि नाटक के विनोद का ठेका केवल विदूषक के पास हो नहीं सकता। भास के नाटक में ऐसे कई प्रसंग हैं जिनमें नाटकीय व्यंग (Dramatic irony) है। ऐसे प्रसंगों से या नाट्यपूर्ण वक्रोक्ति से निर्मित विनोद विदूषक से संबंधित न होने पर भी हृद्य है। शूद्रक द्वारा चित्रित विनोदी पात्र और उसके विनोद की आश्चर्य-पूर्ण विविधता सांकेतिक चित्रण के ढाँचे में कभी भी देखने को नहीं मिलती। मानो जीवन ही एक विनोदी नाटक है और उसके प्रत्येक अनुभव खुशी से हँसने का प्रसंग है। इसी भावना से शूद्रक के पात्र बर्ताव करते रहते हैं। कालिदास ने भी नटखट प्रियंवदा के पात्र की निर्मिति करके हृद्य और कोमल विनोद का अलग ही नमूना हमारे सामने रखा है।

बाद के नाटककारों ने विनोदी चित्रण की यह उज्ज्वल दिशा छोड़कर विदूषक के सांकेतिक, यांत्रिक चित्रण पर ही समाधान मान लिया।

दूसरी बात यह है कि निश्चित पात्र के चित्रण का साँचा बना इतना ही नहीं, तो विदूषक केवल हास्य विषय बना और बिडंबन की सहायता से विनोदनिर्मिति होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक बातों का उपहास करने वाले जीवन के भाष्यकार—विदूषक की भूमिका लुप्त हो गयी। उसके पास इस प्रकार के मूर्ख की भूमिका रही कि कोई भी उपहास करे। संस्कृत नाटक के कथा विषय और सामाजिक औचित्य की मर्यादा सम्हालते समय विदूषक को एक संकुचित वातावरण में रहना पड़ता था। फिर भी अंतःपुर के और दरबार के जीवन में उसके मार्मिक भाष्य को खाद्य रूप में मिलने वाले विषय थे। विदूषक के मार्मिक अवलोकन को अवकाश देने के बदले नाटककारों ने जब उसे केवल उपहास का विषय बनाया तब विनोद की कक्षा और संकुचित हो गयी। विदूषक का ब्राह्मण्य, उसका अज्ञान, पेटूपन, विद्रूपता आदि निश्चित वैशिष्ट्य का विनोद कैसा और कितने दिनों के लिए काफी होगा? इस विनोद की पुनरावृत्ति होने लगी। वह पुराना बन गया। उससे प्राप्त होने वाला आनंद समाप्त हुआ।

विदूषक का नमूना बदलने का या अलग वातावरण में उसकी योजना करने का प्रयत्न नाटककारों ने नहीं किया। अगर वे इस प्रकार करते तो विनोद का नया स्रोत प्राप्त हो जाता। लेकिन विदूषक के निश्चित वैशिष्ट्यों में न बदल हुआ या उसके प्रेम के निश्चित प्रकरणों से भरे हुए अंतःपुर से न वह बाहर आ सका। उसकी शारी-रिक विद्रूपता भी हमेशा के लिए बनी रही और विनोद का स्तर सूक्ष्म होने के बदले

उतार पर लग गया। विदूषक का साँचा जितना पुराना और कृत्रिम हुआ उतना ही उसका विनोद ठंडा पड़ा।

पुराने नाटककारों ने सीमित नमूनों का सजीव व्यक्तित्व चित्रित किया लेकिन बाद के नाटककार उन्हीं रंगों में फँसे रहे। और इस विनोद की कृत्रिमता को महसूस करके माने गालीगलौज़, ग्राम्यता आदि बातों का उपयोग करके विनोद का निर्माण किया।

तीसरी बात है साहित्यशास्त्र की रूक्षता। इसमें कोई शक नहीं कि साहित्य के पुराने संकेतों से चिपके रहकर और पुराने नाटककारों की कला की दिशा न पहचानने की भूल लेखकों ने की। लेकिन शास्त्रकार भी अपनी जिम्मेदारी टाल नहीं सकते। शास्त्रकारों ने केवल भरत का अनुकरण किया। भरत के सिद्धातों का अनुवाद करने के अलावा या कभी कभी कहीं अधिक स्पष्टीकरण देकर या कुछ विवरण का अधिक उल्लेख करके शास्त्रकारों ने भरत को माथे पर चढ़ा लेने के सिवा कुछ किया नहीं। नये लेखकों को मार्गदर्शन मिले इस प्रकार कलातत्त्वों की मीमांसा उन्होंने नहीं की। शूद्रक, कालिदास आदि प्रातिभाशाली नाटककारों की कला की चर्चा करके उसके मार्मिक स्थलों को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न नहीं हुआ। नाट्यशास्त्र की बुनियाद डालते समय कुछ ऐसे मानदण्डों का निर्माण करना योग्य था। भरत मुनि के बारे में गौरव की भावना रखकर उसके शास्त्र का आदर बाद के शास्त्रकार और नाटककार करते रहे इसमें कुछ भी आक्षेपार्ह नहीं है। लेकिन जब कुछ प्रतिभाशाली लोगों ने नाटक-लेखन और पात्र-निर्मिति में नये उन्मेख दिखाये तब उनको ध्यान में लेकर, उसके मर्म को जानकर, नये लेखकों के सामने इसकी तात्विक चर्चा को रखना बाद के शास्त्रकारों का क्या कर्तव्य नहीं था? उन्होंने क्या किया? भरत के बाद के नाट्यशास्त्र को देख लेने पर उसके परंपरित मानदण्डों की पुनरावृत्ति होती हुई दिखायी देती है। प्रत्येक तत्त्व का विवरण अधिक विस्तृत दिखता है। लेकिन साहित्य तत्त्व के उदाहरण देते समय शास्त्र-कारों को दूसरे, तीसरे दर्जे के लेखक ही याद आये जिनमें कला की अपेक्षा कलाबाजी अधिक थी। प्रतिभाशाली लेखक अपने गुणों के कारण ही दीर्घकाल तक बने रहे, न कि शास्त्रों में उनकी कला विशद करने से। केवल तात्विक दृष्टि से देखने पर हमें शास्त्र जहाँ का वहीं मिलता है। शास्त्रकारों ने उसकी ही पुरावृत्ति की है। लेकिन ऐसा करते समय उन्होंने प्रयोगशील साहित्य को ध्यान में नहीं लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कलाबाजी ने बाजी मार ली। अनेक सदियाँ बीत जाने पर भी नाटक का और चरित्र-चित्रण का साँचा नहीं बदला।

संस्कृत नाटकों का इतिहास देखते समय और एक बात ध्यान में लेनी पड़ती है। वह है शास्त्र का प्रभाव। नाट्यतत्त्व की बुनियाद डालकर उसकी निर्मिति का पहला

श्रेय भरत को ही देना पड़ेगा। एक दृष्टि से भरत नाट्य का आधार है। उसने शास्त्र दिया और नाट्यनिर्मिति का मार्ग भी लेखकों को खुला करके दिया। लेकिन जो साहित्य तत्त्व, और कला के या सामाजिक औचित्य के संकेत इससे निर्मित हुए उनका उद्गम भरत से होने के कारण उसका ध्यानपूर्वक पालन करना अपरिहार्य बन गया। और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रीति से भरत का शास्त्र आगे की प्रगति के नये विकास को बाधक बन गया। शास्त्र का आदर और परंपरा का प्रेम ने मौलिकता में बाधा डाली। संकेतों से परे जाकर नये तंत्र का निर्माण करने वाला प्रतिभावान कलाकार एकाध ही निर्मित होता है और अधिकांश लेखक ऐसे प्रतिभाशाली लेखक के झंडे के नीचे सिपाहियों की तरह इकट्ठा होते हैं। लेकिन इन्हीं सिपाहियों में से नये सेनापति का निर्माण होने की जो संभवाना होती है वह इस परंपरा के संकेतों के प्रभाव के नीचे दब गयी।

सुखांत और दुःखांत नाट्य तत्त्व पर संस्कृत नाटकों का वर्गीकरण कभी नही हुआ। दुखांत नाटक को (Tragedy) संस्कृत रंगमच पर अवकाश ही नहीं था। इस मापदण्ड से नाट्य-लेखन पर जैसी एक मर्यादा आ गयी उसी प्रकार विनोद की व्याप्ति के लिए संकोच भी निर्माण हुआ। भरत ने दशरूपकों में प्रकरण, प्रहसन, भाण आदि नाट्य-बंधों का समावेश किया था। फिर भी 'नाटक' इस विद्या को जो मान्यता मिली वह दूसरों को नहीं मिली क्योंकि अधिकतर लेखक 'नाटक' या 'नाटिका' इस विधा का प्रयोग करने की ओर झुके थे। लेकिन इस प्रकार का स्वरूप साहित्यिक संकेतों से निश्चित हो जाने के कारण उसमें नये प्रयोग करके विनोद को नयी दिशा प्राप्त करा देने के लिए भी अवकाश नहीं मिला। कालिदास और शूद्रक जैसे नाटककारों ने विनोदी पात्रों के नये नमूने निर्माण किये। वे निश्चित संकेतों के बाहर होने के कारण, अन्य लेखकों ने उसका अनुकरण करने के बदले संकेतों पर ही अपनी निष्ठा अधिक प्रकट कर ली। जिस सामाजिक आराम को लेकर विदूषक प्रारम्भ में प्रकट हुआ वह कालांतर में फीका हो जाने के कारण शास्त्रकारों को रूढ़ शास्त्र से आगे बढ़कर नये संकेत निर्माण करने का नहीं सूझा और लेखक को भी इसकी जरूरत महसूस नहीं हुई।

यह सत्य है कि लोकानुरंजन ही नाटक का प्रधान हेतु है। लेकिन भरत के मापदण्डों का बारीकी से अर्थ लगाने में बाद के शास्त्रकारों ने और लेखकों ने नाटक के सामाजिक आशय को नष्ट कर दिया है। अगर ऐसा न होता तो प्रकरण और प्रहसन इन विधाओं को अधिक मान्यता मिलकर सामाजिक रीतिरिवाज और समाज संस्था के उपहासात्मक चित्रण को अधिक अवकाश मिलता और विनोद का रुका हुआ प्रवाह फिर से बहने लगता। मोलिएर से ऑस्करवाइल्ड तक पाश्चात्य नाटक की परंपरा देखने पर ऐसा मालूम होता है कि नाटककार समाज के ढोंगों और ढकोसलों पर प्रहार करने के लिए विनोद का शस्त्र लेकर सुसज्जित थे। उन्होंने तीव्र उपहास की घटा से नैतिक

मूल्यों पर चढ़ा हुआ जंग पोंछा ही नहीं, बल्कि मनुष्य के मन में होने वाली अंध निष्ठा को भी दूर किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक व्यवहार में प्रमाद देखते ही मन अस्वस्थ होने लगा। जीवन के सभी व्यवहारों में प्रमाद बढ़ने पर मन का अस्वस्थ होना बुद्धि की सजीवता का दर्शक है। पाश्चात्य नाटककारों ने मानव की बुद्धिनिष्ठा सजीव रखी और उससे विनोद की परंपरा खंडित नहीं हुई।[1] संस्कृत नाटक के सांकेतिक चित्रण से सामाजिक असंगति का व्यापक और गहरी शोध लेने वाली बुद्धि का मार्ग रुक गया। इसको सब भूल गये हैं कि लोकानुरंजन का उद्दिष्ट और सामाजिक मूल्यों का विचार में विरोध नहीं है। हमेशा के नहीं बल्कि तथाकथित गंभीर नाटकों में भी विनोद का दो रूपों में उपयोग किया जा सकता है।

अंत में कह सकते हैं कि जिस प्रकार साहित्यिक संकेत मौलिक निर्मिति में बाधा लाये उसी प्रकार प्रेक्षकों की रुचि ने भी नाटक को उसी परिधि में घूमते हुए रखा। निश्चित साँचे में ढले हुए नाटक लोगों को भाते थे और नाटककार भी वैसे ही नाटकों को लिखने गये। भवभूति जैसे नाटककार ने विदूषक का निश्चित रूप दूर करने का साहसी तथा योग्य प्रयत्न किया और उसके बदले कामंदकी, मकरन्द जैसे पात्र 'मालती माधव' नाटक में चित्रित किये। 'उत्तररामचरित्र' 'नाटक में सौधातकी के रूप में एक नटखट विद्यार्थी का चित्र खींचा है लेकिन इन प्रयत्नों की स्तुति होने के बदले भवभूति की उपेक्षा की गयी। उस काल के लोग मानने लगे थे कि भवभूति को विनोद का ज्ञान नहीं है। इतना ही नहीं आधुनिक पाठक भी इसी विचार को लिए बैठे हैं।

साहित्यिक संकेतों से विदूषक का विकास न रुकता। एकाध प्रतिभावान लेखक निर्मित हो जाता और अगर वह विदूषक का विकास नयी रीति से निर्माण करता तो विनोदी पात्र की बड़ी उज्जवल परंपरा निर्मित हो जाती। विदूषक का बेढंगा वेष परिधान करके जीवन की ओर सूक्ष्मता से देखने वाले, जीवन की असंगति पर उपहास के तेज शस्त्र को चलाने वाले, जीवन के किनारे पर रहकर जीवन की घटनाओं के साथ एक हो जाने वाले, पागल के बर्त्ताव में जीवन के गहरे सत्य को महसूस करने वाले मैत्रेय की परंपरा को अगर कोई लेता तो शेक्सपियर के टचस्टोन् के मुताबिक, जीवन का भाष्यकार एकाध ही नहीं मिलता, बल्कि उसकी माला दिखायी देती। कथा के प्रारम्भ में ही शहर का नाम राजा को और राजा का नाम शहर को देने वाले वसंतक का लड़कपन या नायिका की सखी केवल एकांत प्राप्त करा देने के लिए अपने को महल के बाहर खींच रही है इसे जानते हुए भी, ,हाँ, हाँ, ऐसा खींचो मतो; मैं नाजूक स्त्री हूँ।' ऐसा झूठा दावा करने वाला और अपने को रोना नहीं आता इस प्रकार बताने वाला

---

१. बर्नार्ड शॉ के 'बॅक् टु मेथुसेला' नाटक की प्रस्तावना देखें पृ. ९४.

संतुष्ट का नटखट स्वभाव; विनोद के काम में यदि आता तो पक् जैसा नटखट, डरपोक पर हास्य से परिपुष्ट विनोदी पात्र बाद के साहित्य में निर्मित नहीं होता सो बात नहीं है। लेकिन इससे भी विनोद का मूल आधार जो जीवन की असंगति है इसका पूर्ण उपयोग करके विनोदी पात्र का निर्माण हो जाता तो कितना भव्य विनोदी पात्र निर्मित हो जाता। जिसके रूप से और वृत्ति से उनका पता न चले, जिसकी शारीरिक विकृति से दिमाग में विकृति न आयी हो, जो धूर्त है साथ ही तेज बुद्धि का है, जिसके परिहास में दुष्टता नहीं पर प्रसंग बीतने पर तो नटखटपन से सताने से नहीं चूकता, जिसको तत्त्व का आधार नहीं फिर भी कर्तृत्व शक्ति से एकाध बात करके दिखा सकता है, देखने में डरपोक पर अंतर्यामी, साहसी, शठता होने पर भी बदले की भावना न होने वाला, जानबूझकर फंसाने की वृत्ति न होने पर भी झूठ बोलने में संकोच न करने वाला उदात्तता न होने पर भी हुकूमत चलाने वाला, असभ्थ होने पर भी सच्छील, मानापमान को न मानकर लड़ाकू वृत्ति का ऐसा एकाध विदूषक निर्मित हो जाता तो फाल्स्टाफ् जैसे विनोदी भीष्म संस्कृत साहित्य में जरूर दिख पड़ता। विनोद की सीमा नहीं रहती। विनोद इतना स्वतंत्र ही होता है कि जीवन की छोटी मोटी, सुलभ गंभीर ऐसी कितनी ही बातों का मार्मिक और मर्मभेदक उपहास विनोद कर सकता है। विनोद को इस दृष्टि से खड़ा करने पर विनोदी पात्र को इनसे भव्यता आ जाती है।[1]

संस्कृत नाटक के इतिहास में यह घटित न होने के कारण साहित्यप्रेमी को बुरा लग सकता है। यह दुर्दैव की बात है कि संस्कृत साहित्य में विनोदी पात्रों की उज्जवल परंपरा निर्माण नहीं हो सकी, चरित्र-चित्रण पर और सामाजिक रीति-रिवाज के उपहास पर आधारित उच्च स्तर के विनोदी नाटक अधिक मात्रा में निर्मित हुए।

लेकिन संस्कृत नाट्य साहित्य पर समग्र दृष्टि डालने पर प्रतिभावालों ने जो सजीव चित्र निर्माण किए उनको भुला देने की कोई जरूरत नहीं है। नटखटपन में पक् से समानता रखने वाला और स्नेह में, मैत्रेय की तरह नायिका के लिए तड़पने वाला संतुष्ट; हास्यालंबन होने पर भी जिसके परिहास से कोई मुक्त नहीं है, पागल होने पर भी जिसका अवलोकन सूक्ष्म है, अन्धकार से डरने वाला लेकिन चारुदत्त पर अकारण अन्यान्य होता हुआ देखकर दुष्टों का नाश करने के लिए लाठी उठाकर

---

१. पाश्चात्य साहित्य का, विशेषतः शेक्सपिअर के नाट्य कृति के जो पात्र प्रस्तुत वर्णन में अभिप्रेत हैं उनकी अधिक कल्पना आगे के लिए यह साहित्य देख लें
१. जे. बी. प्रिस्ट्ले, 'दि इंग्लिश कॉमिक् कॅरॅक्टर्स्,' पृ. २७, २८;
२. मॉरिस मॉर्गन् : दि कॅरॅक्टर ऑफ् फाल्स्टाफ्, पृष्ठ १८६, २०३;
३. ए. सी. ब्रॅडले, 'ऑक्सफर्ड लेक्चर्स,' पृष्ठ २६२।

दौड़ने वाला मैत्रेय, और जिसकी असंगति अमर्यादित है पर विदूषक का वेष परिधान करके नायक के साथ सभी को अपने कब्जे में रखने वाला गौतम आदि विदूषक को हम भूल नहीं सकते। इनके कारण संस्कृत नाटक को गौरव प्राप्त हुआ है। विदूषक का साँचा बनकर उसका चैतन्य नष्ट होने पर भी संस्कृत रंगमंच पर विदूषक रेंगता हुआ रह गया; लोग इस निश्चित पात्र के मोह को टाल नहीं सके; इस घटना का महत्त्वपूर्ण श्रेय इन बेजोड़ विदूषकों को और इनके निर्माताओं को देना पड़ेगा।

दूसरा खण्ड

विदूषक-परिचय

१. संतुष्ट

गोष्ठीषु हास्यः समरेषु योधः
शोके गुरुः साहसिकः परेषु ।
महोत्सवो मे हृदि किं प्रलापै-
द्विधा विभक्तं खलु मे शरीरम् ।

—अविमारक, ४-२१.

भास के 'अविमारक' का विदूषक संतुष्ट जब राजपुत्र अविमारक से मिलने के लिए निकलता है उसी समय राजमहल की चंद्रिका नाम की एक दासी नगर के रास्ते से मजे में गुजरती रहती है। उसे जब रास्ते में संतुष्ट दिखायी देता है तो उसका मजाक करने की वह सोचती है। वह संतुष्ट के समीप जाकर, वह सुन सके इस तरह से किसी से बातचीत करने का अभिनय करती है। वह पूछती है, 'मुझे एक ब्राह्मण चाहिए। मिलेगा क्या ?' उसके ये शब्द सुनकर संतुष्ट उसके सामने आकर खड़ा हो जाता है और पूछता है, 'ब्राह्मण चाहिए ? किस लिए ?'

चन्द्रिका कहती है, 'भोजन का न्योता देना है और क्या ?'

संतुष्ट थोड़ा-सा गर्म होकर पूछता है, 'फिर मैं क्या श्रमणक हूँ ?'

उसका अपमान करने की दृष्टि से चंद्रिका कहती हैं, 'तुम वैदिक ब्राह्मण नहीं हो।'

संतुष्ट और चिढ़ता है। लेकिन भोजन के नाम से उसकी लार टपकने लगती है। वह उसे कहता है, मुझे अवैदिक कहती हो ? मेरे ज्ञान की कल्पना तुम्हें नहीं है। सुनो, रामायण नामक नाट्यशास्त्र है। उसके पाँच श्लोक एक बरस के अन्दर कंठस्थ

किये हैं ! श्लोक ही नहीं, उनका अर्थ भी मैं जानता हूँ। श्लोकों को पढ़ने वाला और उनका अर्थ लगाने वाला ब्राह्मण ढूँढ़कर भी मिलना असम्भव है। समझी !'

संतुष्ट के इस अगाध ज्ञान से चंद्रिका मन में हँसती है और उसकी जाँच करने के लिए वह अंगुली से अंगूठी निकालकर उसके सामने रखती है और उस पर खुदे अक्षरों को पढ़ने के लिए कहती है। अब संतुष्ट का बुरा हाल है। वह पढ़ कहाँ सकता है? लेकिन वह ऐसे हार कैसे मान लेगा? संतुष्ट बेधड़क उससे कहता है, 'यह देखो। ये अक्षर हमारी पोथी में बिल्कुल नहीं हैं।'

संतुष्ट की इस बात को थोड़े ही चंद्रिका मानने वाली थी? वह उससे कहती है, 'तुम कुछ नहीं जानते। भोजन के लिए बुलाऊँगी पर दक्षिणा नहीं मिलेगी।'

इसके लिए भी संतुष्ट राजी है। दक्षिणा न सही भोजन तो मिल जायेगा। इस प्रकार चंद्रिका संतुष्ट को संतुष्ट करके उसकी अँगूठी देखने के लिए माँगती है और संतुष्ट उसे देता भी है। अँगूठी हाथ में पड़ जाने पर चंद्रिका कहती है, 'अरे! ये तो राजकुमार आ गये।' संतुष्ट एकदम मुँह मोड़कर देखता है। इतने में चंद्रिका नौ दो ग्यारह हो जाती है और रास्ते की भीड़ में अदृश्य हो जाती है। अब संतुष्ट समझ जाता है कि इस दुष्ट दासी ने अपने को बनाया। वह चिल्ला-चिल्ला कर उसका पीछा करते हुए थक जाता है। दासी की यह धूर्तता राजकुमार को बताने के आलावा बेचारा कर ही क्या सकता है।

नाम तो संतुष्ट है पर उसकी किस्मत ही ऐसी है कि उसके लिए संतोष या आनंद मिले ऐसा कुछ होता ही नहीं। उसकी भोजनप्रियता ही नहीं बल्कि वेदविद्याभ्यास की बड़ाई, उसका भोलापन और उसकी अविमारक की भक्ति, इन सबसे उसे जो अनुभव मिलते हैं सभी कटु हैं। बेचारे संतुष्ट की फजीहत होती है और दूसरों का मनोरंजन होता है।

एक क्रुद्ध ऋषि के शाप से सौवीर राजा को एक वर्ष तक अन्त्यज बनकर रहना पड़ता है। राजा कुन्तिभोज की नगरी में सौवीर गाँव के बाहर रहता है। उसका पुत्र है अविमारक। विदूषक संतुष्ट अविमारक का परम मित्र है। वह ब्राह्मण होने के कारण उससे मिलने के लिए चोरी-चोरी निकला है। रास्ते में दासी द्वारा बनाये जाने के कारण उसका बिलम्ब होना स्वाभाविक ही है। अविमारक उसकी बड़ी उत्कंठा से बाट जोह रहा है क्योंकि, अविमारक कुन्तिभोज की कन्या कुरंगी से प्रेम करता है। अब वह अज्ञातवास में चाण्डाल का जीवन बिता रहा है। इसलिए वह प्रत्यक्ष रीति से कुरंगी से मिल नहीं सकता। वह गुप्त रीति से उससे मिलने का मार्ग ढूँढ़ निकालता है और उसे संतुष्ट को बताने के लिए वह आतुर है। इसीलिए संतुष्ट के आ जाने पर वह कहता है, 'कितनी देर कर दी।'

संतुष्ट कहता है, 'भोजन का आमंत्रण देकर बनाया गया ब्राह्मण जिस तरह भोजन का ही विचार करता है उसी प्रकार तुम भी एक ही एक बात को लिए बैठे हो।'

यह स्पष्ट है कि लोभ से अपना ठगाया जाना संतुष्ट के मन में लगता है पर इससे उसकी भोजनप्रियता बिलकुल कम नहीं हुई है। नगर में सफेद रंग की इमारतें देखकर उसे दही-बड़े की याद आती है, और उस पर परावर्तित सूर्य की संध्या समय की किरणों की लाल आभा देखकर गुड़ की याद आती है। रोने वाली उदास कुरंगी को उसकी दासी खुद को सँवार कर स्नान करने के लिए बताती है तो संतुष्ट उससे कहता है, 'यह रो रही है और तुम नहाने की क्या बात कर रही हो? उसे भूख लगी होगी। खाना ले आओ! चाहती हो तो मैं पहले पटे पर जाकर बैठता हूँ।' एक बार ठोकर खाने पर भी उसके भोजनप्रिय स्वभाव में अन्तर आना असम्भव है।

वह अन्य बातों में केवल थोड़ा-सा जागृत हुआ है। कुरंगी के महल में अविमारक और कुरंगी को एकांत मिल जाय, इसलिए कुरंगी की दासी नलिनिका संतुष्ट को बाहर आने के लिए संकेत करती है, उसे बिना कारण के वहाँ खड़ा देखकर वह उसे भोजन का प्रलोभन दिखाकर अपने अलंकार देती है। तब संतुष्ट कहता है, 'यह देखो। पहले मेरे हाथों में अलंकार दो। केवल घी का नाम लेने से पित्त कम नहीं होता।'

संतुष्ट नाममात्र का ब्राह्मण है। उसका विशाल ज्ञान चंद्रिका के सामने प्रकट हो चुका है। पर ब्राह्मण होने के कारण उस पर कुछ अप्रत्यक्ष संस्कार हुए होंगे। वह कुरंगी को मिलने के लिए आतुर बने हुए अविमारक की अभ्यास समाप्त करके घर की ओर जाने के लिए उत्सुक बटु की उपमा देता है। शायद सन्तुष्ट भी गुरुगृह से इसी तरह भागा होगा। दासी के सामने उसका विशाल ज्ञान प्रकट हो जाने पर भी सन्तुष्ट का ब्राह्मण्य कैसे अस्वीकार किया जा सकता है। वह सहज ही कहता है, 'जनेऊ पहनने पर ब्राह्मण बन सकता हूँ। वल्कल धारण करने पर सन्यासी बन सकता हूँ, और वस्त्र के त्याग करने पर नग्न श्रमणक बन सकता हूँ।' सारांश यह कि सन्तुष्ट के लिए ब्राह्मण बनना या अन्य आश्रमों या धर्मों का स्वीकार करना बहुत ही आसान बात है।

सन्तुष्ट ऊपर से पागल दिखायी देता है। अविमारक कुरंगी से मिलने के लिए इतना अधीर क्यों बना है यह वह नहीं जान सकता। कुरंगी को रोता हुआ देखकर वह खाना लाने के लिए कहता है। उसके महल से बाहर निकलने से दोनों प्रेमियों को एकांत मिल जायेगा यह उसको बतलाने पर भी सूझता नहीं।

लेकिन सन्तुष्ट जिस प्रकार का बुद्धू लगता है उस प्रकार का है नहीं। उसे अनेक बातों का ज्ञान है। विशेषकर वह ठीक जानता है कि अविमारक का कुरंगी से मिलने के लिए चोरी-चोरी उसके महल में जाना खतरनाक है। वह अविमारक के कहने

से चूकता नहीं कि अगर वह कुरंगी के महल में पकड़ गया तो राजा के दुष्ट मन्त्री उसका चाहे जो कर सकते हैं। प्रेम-वेदना से कुरंगी का मुरझा जाना वह झट से जान लेता है। अविमारक की तरह वह भी कुरंगी के सौंदर्य का वर्णन कर सकता है। जब वह कुरंगी को चंद्रमा की उपमा देता है तब अविमारक को आश्चर्य होता है। सन्तुष्ट कहता है! 'हे मित्र! तुम्हारे साथ मैं हमेशा रहता हूँ। इसलिए तुम मेरा मजाक करते हो। एकाध पराये को मेरे ज्ञान का पता भी नहीं चलेगा और वह मेरी प्रशंसा करने लगेगा जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। इसलिए मैं भी शहर में किसी से पहचान नहीं बढ़ाता।'

पराये को ज्ञान का पता न लगे इसका मतलब ही क्या? सयानेपन की बातों में थोड़ा-सा पागलपन झाँकता ही है। इसीलिए कुरंगी एक प्रसंग में कहती है, 'यह ब्राह्मण हास्यकर है।' अविमारक भी उसी बात को दूसरे शब्दों में कहता है। सन्तुष्ट झट से कहता है, राजकुमारी रहने दीजिये। प्रेम निराशा से आत्महत्या करने तो आप निकली थीं मगर मेघ-गर्जना सुनकर नौ दो ग्यारह हुईं। क्या यह हास्यकर नहीं?'

संतुष्ट के इस मुँहतोड़ जबाब पर कुरंगी क्या कर सकती थी? यद्यपि संतुष्ट बड़ा पंडित नहीं है—फिर भी वह निश्चित ही पागल नहीं है। वह भोला है। इसलिए चंद्रिका उसे सहज ही बनाती है और उसकी अँगूठी लेकर भाग जाती है। अविमारक को एक विद्याधर की सहायता से जादू की अँगूठी मिल जाती है। वह एक उंगली में पहनने पर आदमी अदृश्य होता है। दूसरे हाथ की उंगली में पहनने पर वह पूर्ववत् दृश्यमान होता है। अब कुरंगी के महल में जाने के लिए चहार दीवारी पार करने की आवश्यकता नहीं दीवार लांघने की जरूरत नहीं या अटारी से चढ़कर जाने की आवश्यकता नहीं। इसलिए अविमारक खुश है। लेकिन संतुष्ट को उस अंगूठी का जादू हँसी-खेल लगता है। अविमारक के अदृश्य हो जाने पर उसका हाथ पकड़ने से संतुष्ट भी अदृश्य हो जाता है। उसे अपना अदृश्य होना इतना आश्चर्यजनक लगता है कि वह अपना शरीर स्पर्शेन्द्रिय से जानने को उत्सुक हो जाता है। थूँककर देखता है। जादू से किसी चीज की प्राप्ति बालक को हो जाने पर वह जिस तरह आनंदित होता है, उसी प्रकार का हाल संतुष्ट का है।

संतुष्ट में बालक की तरह भोलापन है। और-लोग अगर उसे हँसी मजाक का साधन बनाते हैं तो भी उसका उसे कुछ भी नहीं लगता क्योंकि और लोगों से होने वाला मजाक दूर ही रहा; वह खुद का ही मजाक उड़ाकर खुद हँसने वाला और हँसाने वाला है। यह स्वच्छंद कृति उसके पास है। कुरंगी के महल में वह बड़ा मजाक करता है। अविमारक की तरह कुरंगी भी प्रेम में फँस गयी है। लेकिन प्रेम की सफलता के एक भी चिह्न दिखायी न देने से वह आत्महत्या करने निकली भी है। इसी समय

अविमारक आता है और कुरंगी के प्राण बचाता है। उसकी आँखों में आँसू आते हैं। संतुष्ट उसको सांत्वना देने के लिए कहता है 'इस तरह खुद को सताना ठीक नहीं, नहीं तो मैं भी रो पड़ूँगा। लेकिन बेटी! एक अड़चन है। मेरे रोने पर भी मेरी आँखों से पानी नहीं आता। मेरे पिताजी के परलोक सिधारने पर मैंने रोने का खूब प्रयास किया। पर आँखों में पानी ही नहीं आया। फिर भी मैं तुम्हारे साथ रोने के लिए तैयार हूँ।' शोककारक प्रसंग को हास्य में झट से परिवर्तित करके जीवन के दुःख का विनोद करने की कितनी सहज शक्ति संतुष्ट के पास है। आगे चलकर दोनों प्रेमियों को एकांत मिल जाने की दृष्टि से नलिनिका संतुष्ट को बाहर जाने के लिए सुझाती है। नटखट संतुष्ट जान बूझकर वहाँ खड़ा रहता है। पहली बार जब संतुष्ट के साथ अविमारक आया था तब नलिनिका ने, उसे पहले कभी न देखने के कारण पूछा था, 'यह नया पुरुष कौन है?' संतुष्ट ने मजाक में उत्तर दिया था, 'राजमहल के लोग कितने होशियार रहते हैं बाबा। नहीं तो मुझे देखकर मैं पुरुष हूँ ऐसा कौन करता? मैं तो स्त्री हूँ, पुष्करणी नामक चेटी हूँ।' और अब जब नलिनिका उसे खींचकर बाहर निकालने लगती है तब संतुष्ट नटखटपन से कहता है, 'हाँ हाँ, ऐसा क्यों खींचती हो? मैं बहुत नाजुक हूँ।'

अपने मजाक की अपेक्षा दूसरों को आनंद देने में संतुष्ट सच्चा आनंद पाता है। यह वृत्ति अविमारक में अत्यंत उत्कट रूप में दिखती है। अविमारक से संतुष्ट इतना प्रेम करता है कि उसके लिए वह चाहे जो साहस करने के लिए, चाहे जो दुःख सहने के लिए तैयार है। शाप के कारण अविमारक को अंत्यज बनकर रहना पड़ता है। किसी भी ब्राह्मण ने ऐसी अवस्था में समाज के कुपित होने के भय से, बहिष्कृत होने के डर से उसका साथ छोड़ दिया होता। लेकिन यह भोला ब्राह्मण यह धोखा हर रोज स्वीकृत करके अविमारक से मिलने के लिए रात के आने पर शहर के बाहर निकलता है। वह अविमारक से कहता है, 'दिन भर इधर उधर भटककर मन को चैन नहीं मिलता। इसीलिए रात में मैं एकाध वेश्या की तरह तेरे पास सोने के लिए आता हूँ।'

संतुष्ट हमेशा इसी चिंता में रहता है कि शाप के कारण अविमारक का आगे क्या होगा? उसमें यह समझने पर कि अविमारक राजकन्या से प्यार करता है उसकी चिंता और कई गुना बढ़ती है। प्रेम की वेदना को वह जानता है। अविमारक के रास्ते में काँटे बिछे हुए हैं। उसकी अस्पृश्यता के कारण वह नगर में निःसंकोच घूम नहीं सकता। चोरी से कुछ करना भी हो तो कुंतिभोज के मंत्री जागरूक हैं, वैसे भी शासन के मामले में निष्टुर हैं। अविमारक भी तरुण प्रेमी की तरह अविचारी है और साहसी भी। इन संकटों का पहाड़ सामने देखकर संतुष्ट अविमारक को अकेला कभी न छोड़ने का निश्चय करता है और हमेशा साये की तरह उसके साथ रहता है।

कुरंगी के महल में रात के समय वह अविमारक को अकेले छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। अविमारक जब संतुष्ट को समझाता है कि पराये घर रात को अकेले को ही जाना चाहिए ऐसी नीति है, तब वह उसे छोड़ता है। लेकिन उसके पहले वह अविमारक को अपने एक मित्र के घर ले जाता है और रात होने तक वहाँ पड़े रहने के लिए जगह देता है।

एक बार साहस करके अविमारक कुरंगी के महल में रात के समय जाता है। फिर मिलन न होने की संभावना से अविमारक अत्यंत निराश होकर खुदकशी करने का विचार करता है। अविमारक की मनोदशा की कल्पना आते ही और उसकी माँ से जब संतुष्ट सुनता है कि उसे बाहर जाकर बहुत देर हुई है और अभी तक लौटा नहीं, उसे धक्का लगता है। प्रेम निराशा से विह्वल कोमल राजकुमार कहाँ अकेला घूमता होगा, क्या करता होगा, इन विचारों से संतुष्ट के प्राण व्याकुल होते हैं। लेकिन वह दुःख के कारण हिम्मत हारने वाला नहीं है। निराशा से उसका कलेजा मुँह को आता नहीं। अविमारक से उसका इतना पक्का स्नेह है कि वह दृढ़ता से कहता है कि, 'मैं धरती का कोना कोना छानूँगा, लेकिन राजकुमार को ढूँढ़ निकाले बगैर नहीं रहूँगा। और अगर राजकुमार न मिला, कम से कम उसका शरीर भी न मिला तो उसको ढूँढने के लिए मैं प्रत्यक्ष स्वर्ग में जाऊँगा।'

अविमारक संतुष्ट के इस अजीब भक्ति से परिचित है। घर से बाहर निकलते समय खुद कहाँ जाने वाला है इसकी सूचना संतुष्ट को नहीं दी, इसलिए अविमारक पछताता है। यह गरीब ब्राह्मण अपने को ढूँढने को न जाने कहाँ कहाँ दर दर भटकता होगा इस विचार से अविमारक व्याकुल हो जाता है। अविमारक संतुष्ट के बारे में क्या सोचता है यह उसके ही शब्दों में सुनना ठीक होगा।

'गपशप में हँसाने वाला, लड़ने का प्रसंग आने पर शूर की तरह मुकाबला करने वाला, शोक में गुरु की तरह धीरज बँधाने वाला, शत्रु के सामने साहस से बर्ताव करने वाला संतुष्ट मेरे हृदय का महोत्सव है। और क्या कहूँ ? एक शरीर विभक्त होकर दो जगह हुआ ऐसा भी कहा जा सकता है।'

इसलिए ढूँढते ढूँढते थककर एक पेड़ के नीचे सोया संतुष्ट जब अविमारक को दिखायी देता है तब वह फूला नहीं समाता। वह दौड़ते हुए जाता है और संतुष्ट से गले मिलता है। अविमारक और संतुष्ट का मिलन सच्चे स्नेह का, निःस्वार्थ प्रीति का जीवित प्रतीक है।

●●●

२. वसन्तक

वसन्तको भवान् ननु ।

— प्रतिज्ञायौगन्धरायण, ३.

प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक का तीसरा अंक प्रारंभ होता है और एक भिखारी रंगमंच पर प्रवेश करता है । यही विदूषक है । किसी मंदिर में दान दिया गया है, उसमें उसे मोदक का दोना और दक्षिणा मिली थी । मंदिर की सीढ़ी पर मोदक का दोना रखकर दक्षिणा की सुवर्ण मुद्रा गाँठ में रखने लगता है तब कोई, मोदक का उसका दोना लेकर भाग जाता है । उसके शोध में वह निकलता है और मुँह से विचित्र बातें कर रहा है ।

विदूषक ब्राह्मण होने के कारण ही उसे मोदक और दक्षिणा का लाभ हुआ है । उसका ब्राह्मण्य सिद्ध करने की नौबत आती तो न जाने वह क्या करता । सुदैव से अपनी विद्वत्ता प्रकट करने का प्रसंग विदूषक पर आता नहीं यही ठीक है । लेकिन उसके ब्राह्मण का गर्व कुछ कम नहीं है । ब्राह्मण पर हमला करके किसी ने मोदक चुराये यह ब्राह्मण का अपमान है इस तरह वह चिल्लाता है । आगे चलकर जब उसे उसके मोदक वापस मिलते हैं तभी उसे आनंद होता है । उस आनंद में वह श्रमणक को मोदक का दान करने के लिए और धृष्टता से स्वस्तिवाचन के मंत्र सुनाने के लिए तैयार होता है । लेकिन यह केवल ब्राह्मण होने का घमंड है ।

ब्राह्मण का केवल एक गुण इस विदूषक में है । और वह है खाने का लोभ । वास्तव में वह पहले ही मिठाई खा चुका है । वह जोर से डकारता है और सुअर की झुर्रियाँ पड़ी हुई पीठ की तरह डकार को दुर्गंध नहीं आती । इसलिए वह खुद की तारीफ कर लेता है । फिर भी उसका मोदक का लोभ कम नहीं हुआ है ।

विदूषक मोदक के शोध में रहता है तभी दूसरी तरफ से बारिश में रास्ते से कलकल करती हुई बहने वाली दूषित फेनिल धारा के समान एक पागल दौड़ता हुआ आता है। उस पागल के पास मोदक का दोना है और वह पागल की तरह हँस रहा है। पागल के पास मोदक देखकर उसका माथा ठनक उठता है और उसे वापस लेने के इरादे से विदूषक बड़े धैर्य के साथ आगे बढ़ता है। लेकिन पागल अनाड़ी का स्वाँग कर के मोदक का पता लगने नहीं देता। अपने चिल्लाने का कुछ भी फायदा न होता हुआ देखकर विदूषक उससे कहता है, 'दूसरों की वस्तुओं का इस प्रकार लोभ करने पर तुझे सिपाही बाँधकर ले जायेगा।' उन्मत्तक उसे प्रत्युत्तर देता है, 'किसकी ताकत मुझे बाँध सकती है ? राजमहल में इसके टके दिये हैं। समझे ? मोदक ही मेरी रक्षा करेगें अभी वे जरा नरम हो गये हैं तो क्या हुआ ?' उन्मत्तक को इस तरह फंदे में नहीं आता देखकर विदूषक उसे न्याय के लिए उपाध्याय की ओर खींच ले जाने की बात करता हुआ है। लेकिन इस धमकी से उन्मत्तक थोड़े ही डरने वाला है ? सिर तोड़ने का निर्धार करने वाला और धमकी देनेवाला शूर विदूषक अंत में केवल आक्रोश करके रोना प्रारंभ कर देता है। उन्मत्तक भी उसके स्वर में अपना स्वर मिलाता है।

यह सब गड़बड़ी न जाने कितनी देर तक चलती है लेकिन इतने में वहाँ एक बुद्ध श्रमणक उपस्थित होता है। उसके अभय वचन से विदूषक को धीरज मिलता है। यह सत्य है कि ब्राह्मण की रक्षा के लिये कोई भी क्यों न हो दौड़ता हुआ आया।

श्रमणक रक्षक के ठाठ से चिल्लाहट का कारण पूछता है। विदूषक अपनी शिकायत उससे कहता है कि उसके मोदक उन्मत्तक ने चुराये। श्रमणक उन्मत्तक से मोदक देखने के लिए माँगकर लेता है और हाथ में आने पर थूकता है। बेचारा विदूषक अचरज में पड़ जाता है। लेकिन झट से श्रमणक न्याय करता हुआ उन्मत्तक से कहता है, 'मोदक वापस कर दो। पानी के फेन की तरह सफेद दिखने वाले मोदक वास्तव में मोदक नही हैं। उन्हें केवल मद्य का मीठा स्वाद दिया है।' अपने को प्राप्त हुये मोदक केवल मद्य में भिगोये आटे के गोले हैं यह समझने पर विदूषक का निराशा होना स्वाभाविक है। लेकिन श्रमणक उन्मत्तक को शाप का भय दिखाता है और विदूषक को मोदक वापस करने के लिए कहता है। जो भी हो, मोदक हाथ में आये और वह भी श्रमणक के करण। इसलिए ब्राह्मण को श्रमणक का प्रयत्न मान्य करने के अलावा कोई चारा भी नहीं था।

इसमें शक नहीं कि विदूषक ने केवल शूरता की बातें की थीं। वह ब्राह्मण की तरह डरपोक है, वह सच्चा शूर न हो फिर भी वह पागल नहीं है। उसकी बुद्धि स्वार्थिक काम में ठीक काम करती है। खोया हुआ मोदक का दोना जब उसे पहली बार याद आता है तब वह जो अपने से विचार करता है वह अत्यंत तर्कसंगत है।

मोदक जब बाँटे गये तब वहाँ अकेला (एक ही स्थान पर चक्कर काटता हुआ) हिचकिचाता था, पर उसे भी मोदक मिल चुके थे; इसलिए उसने पीछा नहीं किया होगा। मन्दिर के चारों ओर अच्छी सी ऊँची दीवार होने के कारण कुत्ते का कूदकर आना भी असम्भव है। एकाध रास्ते के बटोही का चोरी करना भी असम्भव है क्योंकि खाने-पीने का साथ लिए बिना प्राय: कोई सफर के लिए नहीं निकलता। विदूषक को यकायक मोदक के गायब होने से वह इधर-उधर देखने लगता है। सामने वह शिवमूर्ति देखता है और उस शिव जी के चरण के पास मोदक का दोना दिखायी देता है। वास्तव में वे मोदक ही कात्यायनी के प्रसाद थे। कात्यायनी खुद की पत्नी, इसलिए उसका प्रसाद भी अपना ही समझकर उसे लगता है कि शिव जी ने ही दोना उड़ाया है। वह शिवजी को चोर ठहराकर अपने मोदकों की माँग करता है।

यह दोपहर का समय है। धूप से आँखें चकाचौंध हो जाती हैं और जब विदूषक फिर आँखों को मलकर शिव जी की ओर देखता है तब उसे अपनी भूल मालूम हो जाती है। वे वास्तव में मोदक न होकर चित्रकार द्वारा चित्रित सुन्दर चित्र होता है। यद्यपि विदूषक निराश हो जाता है फिर भी तर्कशुद्ध विचार करने की शक्ति से चित्रकार का नैपुण्य जान लेने की रसिकता भी उसके पास है। वह आपही आप मुस्कराकर चमकने वाले रंगों का उपयोग करके सुन्दर चित्र खींचने वाले कलाकार की प्रशंसा करता है।

विदूषक का वेश भिखारी का है, उसकी बातचीत असभ्य है, उसकी शूरता अर्थहीन है फिर भी यह स्वाँग है, क्योंकि यह विदूषक अन्य कोई नहीं, वह राजा उदयन का सखा वसन्तक है। उज्जयिनी का प्रद्योत लकड़ी के हाथी की मुक्ति की योजना से और हाथो के अन्दर सैनिक छिपा के रखकर उदयन को पकड़ता है। उदयन को मुक्त करने के लिए उसका मुख्य मंत्री यौगन्धरायण, दूसरा मंत्री रुमण्वान और साथी वसंतक, अनुक्रम से श्रमणक, उन्मत्तक और भिखारी का वेश परिधान करके छिपकर उज्जयिनी में आये हुए रहते हैं। बन्दिगृह में उदयन से मिलकर उसकी मुक्ति की योजना उसके पास पहुँचाने का कार्य विदूषक पर आया रहता है। युक्ति से वह उदयन से मिलता है पर वहाँ उसे मालूम होता है कि उदयन प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के प्रेम में फँस चुका है। कारागार को प्रमदवन मानकर उदयन के प्रेम के खेल को शुरू देखकर विदूषक चिढ़ जाता है। मुक्ति के इन सब प्रयत्नों को व्यर्थ होते हुए देखकर सभी एक क्षण के लिए निराश हो जाते हैं। विदूषक तो उदयन को वहीं छोड़कर चले जाने की सुझाता है। उस समय यौगन्धरायण कहता है, 'तू वसन्तक—राजा का साथी,

है न ? फिर विदूषक की तरह क्या बक रहा है ? राजा को, अपने स्वामी को, साथी को हम छोड़कर चलें ?

यौगन्धरायण को चिढ़ाने के लिए हो, या विदूषक का उथलापन हो; विदूषक उदयन को छोड़कर जाने को जो बात करता है उसी से यौगन्धरायण वासवदत्ता के साथ उदयन को मुक्त करने की प्रतिज्ञा करता है और इसमें शक नहीं कि इससे नाटक का उद्दिष्ट सफल हो जाता है ।

●●●

३. | वसन्तक

भवांस्तु मुखरः ।

—स्वप्नवासवदत्त, ४

उदयन का अपनी रानी, वासवदत्ता से अत्यंत प्रेम था । वह इतना था कि राजा कारोबार छोड़कर सारा समय उसके साथ ही बिताने लगा । इसका नतीजा यह हुआ कि पड़ोस के शत्रु ने अचानक हमला किया और उदयन का राज जीत लिया । उदयन को कौशम्बी को छोड़कर सीमा प्रदेश के लावणक नामक देहात का आश्रम लेना पड़ा । वहाँ भी उदयन के कार्यक्रम में अंतर नहीं आया । राज्य को फिर से प्राप्त करने की वह बात तक नहीं करता । वासवदत्ता के संग में उसे सभी बातें क्षुद्र सी लगती हैं । ऐसी स्थिति में जब उदयन एक बार शिकार खेलने गया था तब लावणक के राजमहल को आग लग गयी । उसमें वासवदत्ता जल गयी । उसकी प्राणरक्षा करते समय महामंत्री यौगंधरायण ने भी अग्नि में प्रवेश किया लेकिन वह भी अग्नि का भक्ष्य बन गया । ये सारे प्रसंग इतने डरावने थे कि उसकी स्मृति को मन से दूर करना असंभव था ।

वास्तव में लावणक का अग्निदाह यह एक यौगंधरायण का उदयन द्वारा राज्य फिर से प्राप्त करने के लिए रचा गया नाटक था । अग्निदाह के बाद उदयन ने लावणक छोड़ दिया । वह मगध के राजा दर्शक की ओर आ गया । दर्शक की बहन पद्मावती से उसका विवाह हुआ । उदयन मगध के राजमहल में रहने लगा । उसके साथ उसका साथी विदूषक वसंतक था ।

मगध में दिन बड़े सुख से बीत रहे थे । लेकिन लावणक के अग्निदाह की स्मृति छाया की तरह उदयन के मन के साथ थी । विदूषक ने संतोष की साँस ली । अग्नि-

प्रलय के बाद इस प्रकार के सुख के दिन आयेंगे ऐसा किसको लगता था ? इसीलिए विदूषक का मन इस नये सुख की ओर आकृष्ट हुआ था । कुहराम मचाने वाला अग्नि-प्रलय और हृदय को पीड़ा देने वाला उदयन का वासवदत्ता विषयक शोक दूर हो गया था । उदयन का पद्मावती के साथ विवाह हुआ, उसका उत्सव-समारोह और न्यौते कई दिनों तक चलते रहे । उन दिनों में विदूषक ने अपना कार्य साध लिया था । अब भी दामाद के साथी होने के कारण राजमहल में विदूषक की पाँचों अंगुलियाँ घी में थीं । अब अलग-अलग राजमहलों में बदल बदल कर रहना, अन्तर्गृह के कूप पर स्नान करना, और मधुर, स्वादिष्ट पक्वान्न की थालियों को समाप्त करना इसके अलावा विदूषक का दूसरा कोई कार्य नहीं था । वसंतक अत्यंत खुश है । स्वर्ग में भी इससे बढ़कर और क्या सुख होगा ? स्वर्ग में रहने के लिए अप्सरायें होती हैं । लेकिन खाने-पीने के इस सुख के आगे अप्सराओं की कमी किसको प्रतीत होगी ?

यह सुख मिलकर मन को शांति मिलने पर जीवन सफल हुआ ऐसा वसंतक का मत होगा । वसंतक कम से कम आराम के बारे में इतना जागरूक है कि उसमें थोड़ी सी भी कमी को वह सह नहीं सकता । जब वह उदयन के साथ प्रमदवन में आता है तब पद्मावती की बाट जोहते हुए चट्टान पर बैठने की सोच कर वसंतक आगे जाता है । लेकिन शरद की धूप से तप्त चट्टान पर थोड़ा सा बैठते ही वसंतक खट से खड़ा हो जाता है और उदयन से कहता है, 'हाँ हाँ ! यहाँ नहीं बाबा । धूप तेज लगती है !' दोनों छाँह में बैठने के लिए पास की कुंज की ओर मुड़ते हैं । लेकिन उसमें पद्मावती और वासवदत्ता होने के कारण दासी उदयन को वहाँ प्रवेश करने नहीं देना चाहती । इसलिए वह लतामंडप के दरवाजे पर होने वाली लता को हिलाती है जिससे मधुमक्खियों का झुंड फूलों को छोड़कर इधर ऊधर दौड़ने लगता है । फिर आराम में बाधा आती हुई देखकर वसंतक चिढ़ जाता है । उदयन अगर उसे भाववश होकर न रोकता तो उन दुष्ट भृंगों को वसंतक लाठी से मारे बगैर न छोड़ता ।

इस प्रकार बीच बीच में अनपेक्षित उपद्रव होने पर भी वसंतक को वैसे भोजन की चिंता नहीं है; इसलिए नहीं कि वह राजमहल में रहता है बल्कि इसलिए कि खुद पद्मावती घी में तैयार किये पक्वान्न लाकर 'वसन्तक कहाँ हैं !' इस तरह पूछती हुई उसे ढूँढ़ती रहती हैं; तब उसे भोजन की चिंता क्यों कर होगी ? क्रोधी वासवदत्ता की अपेक्षा इतनी चिन्ता करने वाली पद्मावती को पसन्द करना स्वाभाविक ही है ।

इस स्वर्ग सुख में वसन्तक को आजकल केवल एक बात सता रही है । उसे खाना हजम नहीं होता और कोमल बिछौने पर लेटने पर भी नींद नहीं आती । इतने स्वादिष्ट खाने को इन्कार करना पड़ रहा है इसका ही उसे मन से दुःख हो रहा है । उदयन का स्नान हुआ हो तो धोये हुए वस्त्र और अंगराग लाने की दृष्टि से एक दासी

पूछताछ करने के लिए आती है। उसे उत्तर देते हुए वसन्तक कहता है, 'देवी जी चाहे जो ले आओ। केवल खाने का कुछ भी न लाना।' वसन्तक की अन्न की इच्छा सहसा नष्ट होने का कारण अपचन ही है। उसे अपना रक्त दूषित होकर वात-विकार होने का डर लगता है। उसे ऐसा भास होता है कि इससे निर्माण होने वाली बीमारियाँ उसके गले के चारों ओर भूत की तरह मँडरा रही हैं। वह व्याकुल होकर कहता है 'कोकिल की पुतली जिस प्रकार एक आँख से दूसरी आँख में फिरती है, उसी तरह मेरा पेट चक्कर खा रहा है।' इस कुक्षिपरिवर्तन से—चक्कर खाने से—वसंतक की बुद्धि चकरा रही है क्योंकि अक्षिपरिवर्तन—अर्थात् आँखका घूमना—कोकिल का न होकर काक का होता है, इसका उसे ध्यान नहीं है।

अपनी यह कर्मदशा उसने दासी को बड़ी व्याकुलता से कही है। लेकिन उसका उस पर कोई असर नहीं होता। उल्टे कहती है, 'ऐसी स्थिति अगर सदा के लिए रह जाय तो अच्छी ही है।' उसने वसन्तक को पक्वान्न पर टूट पड़ते हुए देखा होगा तभी वह उसके दुःख से सहानुभूति नहीं रखती होगी।

पर बेचारे विदूषक को नंदनवन से वंचित हुआ सा लगता है। ठीक भी है अगर मनुष्य को बीमारी ने घेर लिया हो और वह अन्न की इच्छा न करे तो उसके जीवन में क्या सुख रह जाता है? वसंतक के इन शब्दों पर भले ही हम हँस लें पर वह अनजाने में ही जीवन का एक सरल मौलिक दर्शन बताता है। स्वास्थ्य ही सब सुखों की बुनियाद है, क्या यह झूठ थोड़े ही है?

इस विदूषक के स्वभाव का लक्षण है 'आराम'। भोजन और अन्नपचन इन विषयों पर उस का भाग्य अगर उसके आरामप्रिय स्वभाव के बाह्य प्रमाण हैं तो सुस्त सा होकर आराम में बोलने की और पेटू वृत्ति से बोलते समय शब्द की गड़बड़ी करने की उसकी आदत को उसके स्वभाव के मानसिक प्रमाण मानने होंगे।

प्रमदवन में पद्मावती की राह देखते समय वसंतक उदयन से पूछता है, तुम्हें अधिक पसंद कौन है? पद्मावती या वासवदता? यह प्रश्न पूछने में शायद विदूषक का कुछ भी उद्देश्य नहीं होगा। समय काटने के लिए, और जीभ चलाने के लिए सामने पक्वान्न की थाली न हो तो एकाध विषय तो चाहिए। इसलिए उसने यह प्रश्न पूछा होगा। क्योंकि वसंतक मूर्ख और बातूनी है। यह उदयन अच्छी तरह जानता है और इसलिए इस प्रकार उत्तर देना उदयन को आपत्ति सा लगता है। पास के लतामंडप में पद्मावती और वासवदत्ता हैं और वे अपनी बातों को सुन सकती हैं, इसकी कल्पना तक उदयन को नहीं है। लेकिन उदयन इस चिंता में पड़ जाता है कि अगर इस प्रकार उत्तर मैंने दिया और वसंतक ने अपने बातूनी स्वभाव के अनुसार अगर कहीं पद्मावती के सामने इस बातको छेड़ दिया तो उसका कोमल मन कितना दुःखी हो जायेगा। पद्मावती के

गुणों से यद्यपि उदयन उसकी ओर आकृष्ट हुआ है फिर भी मन की बात और है, जहाँ वासवदत्ता का प्रेम है जिसकी जगह पद्मावती ले नहीं सकती। पद्मावती की भावनाओं को ठेस न लगे इसलिए उदयन अपने इस अप्रिय उत्तर को देने में टालमटोल कर रहा है। लेकिन विदूषक हँसी मजाक करता है। उदयन से सीधा उत्तर न पाकर वह उसके सामने हाथ फैला कर खड़ा रहता है और राजा को डाँटता है कि उत्तर दिये बगैर उन्हें जरा भी हिलने नहीं देगा। ब्राह्मण का यह उत्साह देख कर राजा उससे लड़ने को तैयार हो जाता है। लेकिन यह देख कर वसंतक घबरा जाता है। उदयन को मन से हँसी आती है। लेकिन विदूषक को प्रसन्न करने के लिए वह खुद डरे हुए का स्वाँग करता है। डाँटने से राजा उससे डर गया ऐसा समझ कर विदूषक खुश होता है। लेकिन वह उदयन को वहीं पर नहीं छोड़ता। अंत में अपनी मैत्री की सौगंध लेकर वह उदयन से अपना वासवदत्ता से जो प्रेम है उस को प्रकट करा ही लेता है।

उदयन को विदूषक के इन सब स्वाँगों का मजा आता होगा क्योंकि, विदूषक की बारी समाप्त हो जाने पर उदयन भी वही प्रश्न उससे पूछता है, और उसने जिस तरह का उत्साह दिखाया, घबड़ा जाने का स्वाँग किया, क्षमा माँगी और अंत में मैत्री की सौगंध लेकर जवाब प्राप्त करा लिया; इन सब बातों को उदयन जैसे के वैसे दुहराता है। ओट में स्थित पद्मावती को भी लगता है कि, महाराजा भी विदूषक की चाल चल रहे हैं।

उदयन के प्रश्न का उत्तर देते हुए वसंतक ने कहा है कि वह पद्मावती को अधिक पसंद करता है क्योंकि पद्मावती उसे पेट भर मिष्ठान्न खाने देती है। विदूषक के उत्तर की अपेक्षा उदयन का उत्तर अधिक महत्त्वपूर्ण था। उदयन ने यद्यपि पद्मावती के संबंध में नितांत आदर व्यक्ति किया था फिर भी उसका प्रेम वासवदत्ता पर ही था। सुन कर पद्मावती को मानसिक धक्का लगा होगा। वह सिरदर्द से बीमार पड़ जाती है। उदयन को इस बात का पता चलते ही वह उससे मिलने के लिए तुरन्त समुद्रगृह में जाता है।

बिछौना बिछा है। शाम का शीतल पवन बह रहा है और अभी तक पद्मावती समुद्रगृह में नहीं आयी है। बिछौने पर बैठ कर उसकी राह देखते हुए नींद आने लगती है। इसीलिए उदयन विदूषक से एकाध कथा सुनाने के लिए कहता है। वसंतक को बातें करना ही अधिक पसंद था। कथा सुनते समय उदयन को हाँ कहते जाना चाहिए ऐसा वचन लेकर वसंतक कहानी सुनाना प्रारंभ करता है। उज्जयिनी नाम की एक नगरी है। वहाँ लोगों के लिए अनेक सुन्दर स्नान गृह रचे हैं। विदूषक ने आराम से कहानी कहना प्रारंभ किया लेकिन उज्जयिनी का नाम आते ही उदयन के मन में वासवदत्ता की स्मृति फिर से जागृत हो जाती है। कम से कम इस समय तो दुःखद स्मृति ने

हो इसलिए उदयन विदूषक से पूछता है कि किसकी कथा कह रहा है ? विदूषक कहता है, 'अच्छा इसको नहीं चाहते हो तो दूसरी कहता हूँ। सुन लो। ब्रह्मदत्त नामक एक नगर है। वहाँ कांपिल्य नाम का राजा राज्य कर रहा था —

वसंतक का ध्यान न जाने कहाँ है। धीरे धीरे कथा प्रारंभ करने में ही उसने शहर का नाम राजा को और राजा का नाम शहर को दे दिया है। दासी से अपने अपचन की बात करते समय कौवे के बदले कोयल की आँखों का उल्लेख करके इसी प्रकार शब्दों की गड़बड़ी की थी। यह बात या तो दासी के ध्यान में नहीं आयी या यह समझकर कि ठीक बात करने की अपेक्षा विदूषक की जिह्वा को, खाने की आदत ही अधिक है, वसंतक की भूल को सुधारने का बिल्कुल प्रयास नहीं किया था। उदयन को नींद आ रही है फिर भी अब की गलती उसके ध्यान में आती ही है। वह कहता है, 'मूर्ख ! इस प्रकार कहना चाहिए कि कांपिल्य नामक शहर और ब्रह्मदत्त नाम का राजा था।' इस प्रकार की भावना से विदूषक कहता है कि 'इसमें कुछ विशेष नहीं है, 'ऐसा ? अच्छा पहले इसे मैं कंठस्थ करता हूँ।' विदूषक इन शब्दों को कंठस्थ करने लगता है। इतने में उदयन सो भी जाता है। विदूषक की कथा उसके शांत आरामप्रिय स्वभाव के अनुसार पहले वाक्य के आगे नहीं जाती।

वसंतक खाने-पीने के संबंध में और गपशप करने में जैसे आरामप्रिय है वैसे मन की शांति उसे प्रिय है। उसकी कायरता उसका स्वभावधर्म होगा। लेकिन डर लगने योग्य कुछ हो जाने से उसके मन को पीड़ा पहुँचती है। उसको वह नहीं चाहता होगा। अन्यत्र वह शूर की तरह बातें करेगा। लेकिन वह भी वहीं तक जहाँ तक उसे तकलीफ न उठाने की निश्चिति होगी। भँवरों के सताने से वह चिढ़कर लाठी लेकर उन पर टूट पड़ता है। उदयन से अपने प्रश्न का उत्तर पाने के लिए उसे डाँटता है। लेकिन उदयन की आवाज ऊँची होते ही इस ब्राह्मण का सारा उत्साह ठंडा पड़ता है। वासवदत्ता की अपेक्षा पद्मावती अधिक पसंद है ऐसा वह स्पष्ट कहता है क्योंकि वासवदत्ता अग्निदाह में जलकर नष्ट हो चुकी है। ऐसी सब की कल्पना है। इसलिए. लेकिन उदयन जब, 'तेरी यह बात मैं वासवदत्ता से कह दूँगा।' ऐसा कहता है तब फिर विदूषक के छक्के छूट जाते हैं। उदयन वसंतक का स्वभाव जानकर सब बातें हँसी में ले जाता है। लेकिन वासवदत्ता के आत्मभिमानी स्वभाव को वसंतक का उत्तर निश्चित ही अच्छा लगने वाला नहीं है। वह खुद से कहती है, 'क्या कहा है उसे ध्यान में रख।' सुदैव से वही ठीक हुआ कि वसंतक पर इससे क्या गुजरी यह दिखाने की नौबत नहीं आयी। इसमें कोई शक नहीं कि वसंतक डरपोक है। समुद्रगृह के दरवाजे पर लगाई हुई फूलों की माला टूटकर नीचे गिरती है और संध्यावात से वह आगे पीछे हिलती रहती है। वसंतक को लगता है कि वह साँप है। वह चौंककर चिल्लाता

हुआ जो पीछे हटता है। उदयन के उसको भरोसा देने तक वह समुद्रगृह में पैर रखने के लिए तैयार नहीं होता।

अपने निकम्मे और आरामप्रिय स्वभाव से वसंतक ने बातचीत में सावधानी स्वीकृत नहीं की, फिर भी ऐसा समझ लेना जरूरी नहीं कि वह मूर्ख है। वैसे तो वह सचेत और होशियार भी है। उदयन के दुःख में या संकट-प्रसंग में उसकी बिना भूले मदद करता है। वासवदत्ता के नष्ट हो जाने से उदयन के मन पर कितना बड़ा आघात हुआ है इसकी ठीक कल्पना उसे है। उदयन का मन दुःखी बातों में लगा न रहे इसलिए वह उसकी ओर ध्यान रखता है और जैसे तैसे उसे आराम प्राप्त करा देने का प्रयत्न करता है। मगध के राजमहल में रहते समय वह उदयन को जानबूझकर प्रमदवन में ले आता है। वहाँ के खिले फूलों की ओर, क्षितिज के नीले छोर से एक कतार में उड़ने वाले सफेद बकों की ओर वह उदयन का ध्यान आकृष्ट कर लेता है। पारिजात के गुच्छों को तोड़ा हुआ देखकर पद्मावती का प्रमदवन में ही कहीं होना ठीक भाँप लेता है। उसको वह बड़ी सतर्कता से ढूँढ निकालता है। उदयन की भावविकलता की अवस्था को ध्यान में लेकर वह भँवरों की तकलीफ की ओर उपेक्षा करता है। उदयन का मन रिझाने के लिए वह कुछ न कुछ विषय निकालता है और अपने ढंग से हँसाता है। कथा सुनाने के लिये वह कभी भी तैयार है।

उसने प्रमदवन में वासवदत्ता के संबंध में प्रश्न पूछा और झट से उदयन का मन बेचैन हुआ। उदयन की आँखों में आँसू आ गये। इसी समय पद्मावती वहाँ आ गयी। वसंतक उदयन के लिए पानी लाने गया था। अचानक पद्मावती को वहाँ आयी हुई देखकर वह क्षण के लिए घबड़ा जाता है। लेकिन झट से चतुराई के साथ कहता है, कुछ विशेष नहीं है। फूलों के पराग आँखों में गये हैं इसलिए महाराज की आँखों में पानी आ गया है। मुँह धोने के लिए ही पानी लाने मैं गया था।' वसंतक इतना कहकर रुकता नहीं बल्कि वह पानी का दोना पद्मावती के हाथों में देता है और उदयन के हाथों में पानी देने की सूचना देता है। वसंतक की यह होशियारी देखकर पद्मावती खुद से कहती है, 'स्वामी अगर अच्छा बर्ताव रखता हो तो सेवक भी किस प्रकार सभ्यता से बरतता है।' प्रमदवन के इस प्रसंग का प्रारंभ वसंतक के मजे में पूछे गये प्रश्न से हुआ था लेकिन उसका अंत उदयन के अश्रु में हुआ। पद्मावती और कुछ न पूछ बैठे इसलिए वसंतक उदयन को सुझाता है कि अब दर्शकों से मिलने का समय हुआ है और इस प्रसंग पर अंतिम पर्दा डालता है।

समुद्रगृह में उदयन को थोड़ी देर के लिए नींद आती है। उसी समय पद्मावती का हाल जानने के लिए आयी हुई वासवदत्ता उसे दिखायी देती है। वासवदत्ता अग्नि-दाह में नहीं जली बल्कि वह जिंदा है इस प्रकार उदयन का विचार दृढ़ हो जाता है।

लेकिन यह सब रहस्य प्रकट करने का समय अभी तक न आया हुआ देखकर, वसंतक राजा को स्वप्न पड़ा हुआ था ऐसा आभास निर्माण करता है और इतने पर उदयन को अपने हठ पर डटा हुआ देखकर वसंतक कहता है, 'मैंने सुना है कि इस राजमहल में अवंतिसुंदरी नाम की एक यक्षिणी रहती है! शायद तुमने उसे ही देखा होगा।'

मुँहतोड़ जबाब देकर उदयन के मन का समाधान करने की, संकट में उसे सँभाल लेने की, मजाक करके उसे हँसाने की और वासवदत्ता के वियोग का दुःख अधिक न होने देने की, और इन सभी बातों के साथ वासवदत्ता की याद हमेशा हरी रखना इस प्रकार के अनेकविध कार्य की वसंतक पूर्ति करता है।

उदयन का यह साथी पेटू होगा; डरपोक होगा; बातूनी होगा; बोलते समय शब्दों की ओर ठीक ध्यान देने का परिश्रम भी न लेता होगा। लेकिन यह ध्यान में रखने योग्य है कि वासवदत्ता के दुःख से कोमल बने हुए उदयन को उसने फूल की तरह सँभाला है और अपने मौजी स्वभाव से उसे खुश रखने में किसी प्रकार की कमी नहीं की है।

●))

४. गौतम

अयमपरः कार्मान्तरसचिवोऽस्मानुपस्थितः ।

—मालविकाग्निमित्र, १.

इयमस्य कामतंत्रसचिवस्य नीतिः ।

—मालविकाग्निमित्र, ४.

गौतम का वेश विदूषक का है । लेकिन दो रानियों के क्रोध और मत्सर को बाजू में रख कर राजा अग्निमित्र को मालविका की प्राप्ति करा देने में जिन युक्तियों की योजना गौतम करता है और हँसते-हँसते यश प्राप्त करता है, इसे देख कर गौतम का व्यक्तित्व विदूषक के वेश में छिपा कर रखना अनुचित है ।

गौतम दिखने में जरा कुरूप होगा । रानी धारिणी की छोटी बहन एक जगह बन्दर को देख कर घबड़ाती है और चिल्लाती है । सब उसकी ओर दौड़ते हैं । इससे गौतम सहजता से एक कठिन प्रसंग से बच जाता है । इस समय गौतम कहता है; 'वाह रे पिंगल मर्कट ! तू ने अपने पक्ष को अच्छी तरह सम्हाला ।' इसमें 'पक्ष' शब्द का प्रकट अर्थ बाजू होता है फिर भी गौतम और मर्कट का साहचर्य भी इसमें सूचित हुआ है ।

इस नाटक में गौतम को साँप छूने का एक प्रसंग है । उस समय गौतम की अवस्था देख कर अग्निमित्र कहता है, 'बेचारा स्वभाव से ही डरपोक है । इरावती की दासी भी मानती है कि गौतम साँप से बहुत डरता है । समुद्रगृह के द्वार पर बैठ कर जब वह ऊँघता रहता है तब यही निपुणिका नामक दासी एक साँप जैसी टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी उस पर फेंकती है । गौतम 'साँप-साँप' कहता हुआ चौंक कर उठता है । स्वप्नवासवदत्ता

का वसंतक माला को साँप समझता है तो गौतम लकड़ी को साँप मानता है। उदयन को वह साँप न होकर माला है इस प्रकार वसंतक को समझाना पड़ता है। लेकिन यहाँ गौतम अपनी भूल को खुद ही जान लेता है और व्यर्थ ही डर जाने से वह आप ही आप हँसता है। गौतम के इस समय के शब्दों में सर्प छूने की सच्ची बात हमें यहाँ मालूम हो जाती है। वास्तव में गौतम को साँप ने छुआ नहीं था। [उसने केतकी का काँटा अपनी उंगली में चुभा लिया था।] लेकिन बड़ी रानी धारणी के सामने साँप सूँघने की बात कह कर उसने साँप के दाँतों के चिह्न उँगली पर दिखाये थे। गौतम बताता है कि रानी से मिलने के लिए आते समय फूल लेने की इच्छा से केतकी वन में गया, वहाँ साँप ने डँस लिया। इस स्वाँग में गौतम का काँपना, अपनी बूढ़ी माँ की देखभाल करने की राजा से बिनती करना, धारिणी से भूलों के लिए क्षमा माँगना, राजा के निजी वैद्य से अपने को मृत्यु से बचाने में असमर्थ पाकर विह्वल होना आदि साँप के छूने का यह सारा नाटक गौतम इस तरह से खेलता है कि धारिणी को लगता है कि अपने लिए एक ब्राह्मण की जान चली जा रही है; जो गौतम इस प्रकार का सुंदर डरावना स्वाँग रच सकता है और डँडे को साँप समझने की भूल ध्यान में आ जाने पर खुद ही हँस सकता है, उसे हमेशा के अर्थ में डरपोक कैसे कहा जा सकता है? रत्नावली नाटक का विदूषक केवल युद्ध के वर्णन से घबड़ा जाता है। लेकिन मालविकाग्निमित्र नाटक के अंत में परिव्राजिका अपने ऊपर बीते डाकुओं के डाके का वर्णन करती है, और उस स्मृति से भी कोमल मालविका जब घबड़ा जाती है जब गौतम आगे आकर मालविका को धीरज देता है और 'यह केवल बीते हुए प्रसंगों का वर्णन है' ऐसा कह कर उसका डर दूर करता है। गौतम में कहीं कायरता का अंश हो तो भी मन से वह कायर नहीं ऐसा ही कहना पड़ता है।

अपने जातिधर्म के अनुसार गौतम को भोजन से बड़ा प्रेम है। नृत्याभिनय का प्रयोग चालू रहता है तब राजा के भाट मध्याह्न हो जाने की सूचना देते हैं। गौतम प्रयोग के बीच में से खट से उठता है। गौतम सभी को जताता है कि मध्याह्न का अर्थ है भोजन का समय। उसे कभी भी टालना नहीं चाहिए। वैद्यकशास्त्र का प्रमाण सामने रखता है। धारिणी को जल्दी भोजन तैयार करने की सूचना देता है। गौतम की दृष्टि से भोजन के सामने सब बातें व्यर्थ हैं। मालविका के लिए अधीर बने हुए राजा को पाकशाला में घूमने वाले लोभी लेकिन डरपोक पंछी की उपमा देता है। मालविका से मिलाने का कार्य राजा ने उस पर सौंप दिया है। जब राजा इसकी याद उसे दिलाता है तब गौतम कहता है, 'मुझे आप की चिन्ता है। लेकिन हमारी भी चिन्ता करो ना; दूकान की भट्टी की तरह हमारी जठराग्नि धगधग जल रही है।' इरावती की दासी की कल्पना हो गयी है कि स्वस्ति वाचन के नाम से मिलने वाले मोदक पेट में डालने

के अलावा गौतम को कोई दूसरा काम ही नहीं है। वह उसका वर्णन 'बाजार में घुसा हुआ साँड़' के रूप में करती है।

गौतम ब्राह्मण है लेकिन उसका वेदाध्ययन से अधिक सम्बन्ध नहीं आया है। इरावती तो उसे 'महाब्राह्मण' अर्थात् मूर्ख कहकर दो बार पुकारती है। मालविका का नृत्याभिनय पूर्ण हो जाने पर उसके सम्बन्ध में अपनी राय देते समय वह एक दोष दिखाता है। नृत्य प्रयोग प्रारम्भ करने के पहले हमेशा की रीति के अनुसार पहले ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए थी। मालविका के अभिनय के दर्शनपूर्व गौतम की पूजा नहीं की गयी। यह रहा मालविका के नृत्य का दोष। आगे चलकर जब इरावती को पता चलता है कि राजा और मालविका के मिलन का संपूर्ण षड्यंत्र गौतम द्वारा रचा गया है तब वह उस पर वैसा प्रकट अभियोग भी लगाती है। गौतम कहता है, 'रानी, कुटिल नीति का एक अक्षर भी मैंने पढ़ा हो तो मुझे गायत्री मन्त्र याद नहीं आयेगा।' गौतम की कुटिल नीति हमें मालूम होने के कारण उसे गायत्री मन्त्र भी अच्छी तरह से याद नहीं 'ऐसा ही अर्थ इन शब्दों से निकलता है।

शास्त्रविषयों के बारे में गौतम का अज्ञान शायद सत्य होगा लेकिन कभी कभी वह व्यवहार में भी पागलपन कर बैठता है। हरदत्त और गणदास इन दोनों नाट्याचार्यों में जो झगड़ा शुरू हुआ है वह धारिणी को बिल्कुल पसंद नहीं है। उसे बढ़ने से रोकने का वह मन से प्रयत्न करती है। लेकिन गौतम कहता है;-'महारानी जी, इन दो भेड़ियों में ठनी है तो हो जाने दो। हम क्या उन्हें यों ही वेतन देते हैं' यह सुनकर रानी गौतम पर नारद का आरोप लगाती है। भोलेपन का भाव लाकर गौतम झट से उत्तर देता है, 'दो हाथियों का युद्ध शुरू हो जाने पर उसमें से एक का पतन होने तक क्या शांति मिल सकती है?' और गणदास की ओर मुड़कर उससे कहता है, 'महारानी जी का कहना ठीक ही है। गणदास, नृत्य सिखाने के बहाने से सरस्वती को अर्पित मोदक खाने के अलावा तूने कुछ भी उद्योग नहीं किया है। इस झगड़े में पड़ जाने पर तेरी पराजय निश्चित है। इसलिए महारानी जी ने तुम्हारे छुटकारे का उपाय किया है उसे सुनो। होड़ की बातें छोड़ दो।'

प्रत्यक्ष नृत्याभिनय के समय, ब्राह्मण पूजा पहले नहीं की गयी यह जो दोष गौतम दिखाता है उसमें पागलपन है। परिव्राजिका को हँसी आती है और व्यंग्य से 'महान् टीकाकार' कहती है। गौतम मान्य करता है कि खुद वह मूर्ख है, बुद्धिमान लोगों का मत अपने को मान्य है। सबके मतानुसार अगर मालविका का अभिनय अच्छा हुआ हो तो उसे पारितोषिक देना चाहिए। राजा के हाथ के सोने के कड़े निकाल कर गौतम मालविका को देने लगता है। धारिणी पूछती है, 'तुझे अगर नृत्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है

तो पारितोषिक क्यों देते हो ?' गौतम उत्तर देता है, 'मेरा अपना थोड़ा ही खर्च होता है।'

मालविका प्रमदवन में आने वाली है। अशोक को फूल नहीं आये, इसलिये चरणप्रहार करके अशोक को पुष्पित करने का काम धारिणी ने मालविका को बताया है। इसी समय मालविका से युक्ति से बात करके उसका मन राजा की ओर आकृष्ट करने का कार्य उसकी सखी बकुलावलिका को गौतम ने राजा की ओर से कहा है। राजा को यह चिन्ता लगी है कि बकुलावलिका को सब बातों की याद अच्छी तरह रहेगी या नहीं ? गौतम कहता है, 'मैं इतना मूर्ख होकर उसे भूल नहीं सका फिर वह चतुर दासी कैसे भूलेगी ?' आगे चलकर मालविका जब अशोक पर चरण प्रहार करती है तब गौतम आगे आकर झट से कहता है, 'यह क्या ? राजा के प्रिय वृक्ष को लात मार रही हैं ? बकुलावलिका तुम्हें तो समझाना चाहिए था।' बेचारी मालविका अपराधी के भाव से वास्तव में डर जाती है। एक पेड़ की ओट में रहकर इरावती इस प्रसंग को देखती है। गौतम की इस अकारण मूर्खता पर वह चिढ़ जाती है और वह उसे गालियाँ भी देती है।

अग्निमित्र और मालविका का मिलन समुद्रगृह में होता है। गौतम दरवाजे के पास पहरा देता हुआ बैठा रहता है। लेकिन वह बैठे-बैठे बैल की तरह ऊँघता रहता है और नींद में मालविका का नाम लेकर बड़बड़ाने लगता है। गौतम को साँप के छूने की वार्ता मिल जाने पर उसकी पूछताछ के लिए और राजा के साथ धृष्टता से बर्ताव करने की क्षमा माँगने के लिए इरावती एक दासी के साथ वहाँ आयी रहती है। राजा मालविका के साथ समुद्रगृह में है यह उसे वरना मालूम भी न हो पाता। लेकिन गौतम के बड़बड़ाने से उसे शक होता है। दासी गौतम पर टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी फेंकती है। गौतम चौंककर चिल्लाता है। अग्निमित्र अन्दर से दौड़ता हुआ आता है। पीछे से मालविका भी आती है और इस प्रकार राजा के गुप्त मिलन की बात सम्पूर्ण रीति से खुल जाती है। इरावती फिर चिढ़ती है। धारिणी की बहन की दुर्घटना को लेकर सब का ध्यान अचानक उस ओर न मुड़ जाता तो इस प्रसंग से छुटकारा पाने का और कोई मार्ग नहीं था।

इसमें कोई शक नहीं कि समुद्रगृह के एकान्त में मालविका और अग्निमित्र की भेंट इस प्रकार प्रकट होकर इस प्रसंग की दुर्दशा होने के लिए कारण है गौतम का ऊंघना और बड़बड़ाना। लेकिन गौतम के हाथों से यह जो पागलपन हुआ उसका दूसरा भी पहलू है जिसे ध्यान में लेना आवश्यक है। इस मिलन के लिए गौतम ने बड़ी चातुरी से षड्यंत्र की रचना की थी। पहले प्रमदवन में मालविका के आने पर राजा ने उससे मिलकर जो प्रणय की लीलाएँ कीं उसको अपनी आँखों से देखकर इरावती जलती हुई

चली गयी। छोटी रानी के समाधान के लिए धारिणी ने मालविका को समुद्रगृह के तलघर में बन्द करने का हुक्म दिया। पहरे पर की दासी को कड़ा इशारा दिया कि खुद की नाममुद्रा दिखाये बगैर मालविका से कोई भी मिलने न पाये और उसको किसी भी हालत में बाहर छोड़ना भी नहीं चाहिए। इस विचित्र प्रसंग से मार्ग निकालने के लिए गौतम ने साँप के छूने का नाटक किया। पहले तय की हुई योजना के अनुसार, साँप का विष उतारने के लिए गौतम को राजवैद्य की ओर भेजा जाता है। राजवैद्य मंत्र प्रयोग के लिए नाममुद्रा की माँग करता है। धारिणी की अँगूठी पर नाम की मुद्रा थी ही। अपने कारण विदूषक पर यह बीता है इस डर से धारिणी ने डरते-डरते उंगली से अँगूठी निकाल कर दी। वह हाथ में आते ही गौतम सीधे समुद्रगृह की ओर गया। द्वारपालिका से उसने कहा कि राजा के ग्रह प्रतिकूल हैं, राज्यज्योतिषी की आज्ञा है कि ग्रहों की शांति के लिए सब बन्दियों की मुक्ति की जाय। इसके अलावा उसने धारिणी को नाममुद्रा भी दिखायी। राज्य कारोबार के कार्य निमित्त से अग्निमित्र भी धारिणी के महल से निकलकर समुद्रगृह की ओर आता है। इस प्रकार मालविका मुक्त हो गयी और राजा से उसका मिलन हुआ। गौतम अशोक पल्लव खाने वाले हिरन को दूर करने का निमित्त कर वहाँ से जाता है और दोनों को एकांत प्राप्त करा देता है। मालविका के साथ बकुलावलिका थी। उसको एक जगह पहरे पर रखा। खुद वह दरवाजे के चबूतरे पर बैठा, और वहाँ बैठे-बैठे उसे नींद आ गयी। इस प्रकार का सम्पूर्ण प्रसंग है। वास्तव में, गौतम ने यह षड्यंत्र इतनी चातुरी से रचा था कि उसका किसी को पता लग सकेगा ऐसी कल्पना भी नहीं आती। इसलिए सफलता के आनन्द में गौतम ऊंघने लगा होगा। गौतम को साँप के छूने की वार्ता लगते ही उसकी पूछताछ के लिए इरावती इतनी जल्दी उसको ढूँढते हुए आयेगी इसकी क्या कल्पना थी? प्रमदवन में राजा का अनुनय तिरस्कृत कर क्रोध से निकल आने में इरावती ने एक तरह से पति का अपमान किया था। उसके लिए परिताप होने से राजा से फिर समझौता करने के प्रयत्न के उद्देश्यों को मन में रखकर इस बार वह समुद्रगृह की ओर आ जायेगी, इसकी कल्पना किसी को नहीं थी। इरावती का आना अत्यंत अकल्पित और अचानक था। इसलिए गौतम ऊंघता हुआ फँस गया और यह षड्यंत्र अचानक प्रकट हुआ। गौतम के अनवधान की अपेक्षा इरावती के अचानक आ जाने से इस मिलन पर पानी फिर गया। जिन युक्तियों की योजना करके गौतम ने मालविका को मुक्त किया और उसको राजा से भेंट करा दी इससे लगता है कि इरावती के आ जाने से कुछ गड़बड़ी हो जाने की कल्पना भी अगर उसे होती तो उसका भी इन्तजाम पहले से ही कर रखता। जो हुआ है वह सब अकल्पित है। इसीलिए इस प्रसंग में गौतम के पागलपन को ज्यादा दोष नहीं दिया जा सकता। लेकिन यह दूसरा

पहलू देख लेने पर फिर यह ध्यान में रखना जरूरी है कि गौतम कोई मंत्री-बृहस्पति या राजनीतिज्ञ नहीं है जिसके षड्यन्त्र में कहीं सींग समाने की जगह न हो। गौतम विदूषक है। इसलिए ऐन मौके पर कुछ-न-कुछ गड़बड़ी होकर हास्य का निर्माण होना उसके चरित्र-चित्रण के योग्य ही है। इस दृष्टि से बड़ी कुशलता से निर्माण किये हुए प्रसंग में गौतम का बैठे जगह पर बैल की तरह ऊंघना, नींद में बड़बड़ाना, इरावती की दासी का उस पर साँप जैसी लकड़ी फेंककर उसे डराना और उसकी आवाज सुनकर अग्निमित्र और मालविका का समुद्रगृह से बाहर आना आदि जो घटनाएँ घटती हैं उसकी हास्यकारिता ध्यान में लेने योग्य है। 'पिजड़े से छूटा हुआ कबूतर बिल्ली का भक्ष्य बन जाय उसी तरह यह हुआ है।' गौतम का यह कथन सत्य है। ऐसा कहना पड़ता है कि विदूषकी चित्रण के अनुसार दिया गया यह हास्यकारक परिवर्तन नाट्य-दृष्टि से आवश्यक था।

जिस अर्थ में कुछ विदूषक मूर्ख होते हैं उस अर्थ में गौतम मूर्ख नहीं है। खुद को पागल कहलाने पर भी और उपर्युक्त जैसे एकाध प्रसंग में दुर्दशा हो जाने पर भी मूलतः गौतम अकलमन्द है। ऐसा कहना पड़ता है कि हँसाने के लिए या कुछ इष्ट प्राप्ति के लिए गौतम पागलपन का स्वाँग रचता है। उदाहरणार्थ प्रमदवन के दृश्य में राजा के प्रिय अशोक पर लात प्रहार करने का अभियोग लगा कर गौतम की मालविका को डराने की बात ऊपर से मूर्खता सी लगती है। इरावती को भी वैसे ही लगती है। लेकिन सूक्ष्मता से देखने पर ऐसा दिखायी देगा कि गौतम ने यह मूर्खता जान-बूझकर की है। बकुलावलिका को उसने पहले ही अपने विश्वास में लेकर मालविका के मन में राजा के सम्बन्ध में प्रेमबीज बोने का कार्य सौंपा है। मालविका के अशोक पर चरण प्रहार करने के लिए प्रमदवन में आ जाने पर उसे डराने पर वह भोली बालिका, सचमुच अपनी गलती हो गयी, इस भावना से राजा से क्षमा मांगेगी। उसके पैरों पर झुक जाने पर राजा आगे आकर उसे ऊपर उठाते हुए उदार मन से क्षमा करने का नाटक सहज कर सकेगा। एक ओर राजा को मालविका को पास लेने का मौका मिल जायेगा, दूसरी ओर राजा के उदार और खुले स्वभाव को देखकर उसके सम्बन्ध में उसका प्रेम और बढ़ जायेगा। यह सब चाल ध्यान में लेकर ही गौतम ने यह योजना तैयार की होगी। तीसरे अंक में यह स्पष्ट दिखायी देता है कि ये सारी बातें घटित होती हैं। अग्निमित्र को तो मन से इतना आनन्द होता है कि क्षमा करने का नाटक जारी रखने का ध्यान भी उसे नहीं रहता। इस घटना का अर्थ ऐसा लेना पड़ता है कि गौतम का यह पागलपन सहेतुक है।

पहले दो अंकों में गौतम जो मूर्खता का स्वाँग रचता है उसका हेतु तो स्पष्ट है। नाट्याचार्यों का झगड़ा अच्छी तरह हो जाय जिससे अंत में नृत्याभिनय करके

दिखाने की बारी आयेगी और इस बहाने से मालविका राजा को दिखायी देगी यह उद्देश्य उसके नारद बनने में रहा है। एक-एक नाट्याचार्य से मिलकर, हरएक के मन में कुछ अलग ही कहकर उनके मन कलुषित करके यह झगड़ा गौतम ने ही निर्माण किया होगा। इसमें कोई शक नहीं कि झगड़ने वाले भेड़, लड़ने वाले हाथी, ऐसी जो उपमाएँ गौतम उनको उद्देश्यकर देता है और नाट्यशिक्षण के नाम से मुफ्त वेतन और पूजा की थाली प्राप्त करने का उनका परिश्रम, इस प्रकार का अभियोग लगाता है, इनमें विनोद की ओट से दोनों नाट्याचार्यों को मर्मभेदक बातें सुनाकर चिढ़ाने का कार्य गौतम कर रहा है। दोनों में गणदास अधिक भावनाप्रधान है। धारिणी मनाने की चेष्टा करती है, चिढ़ती है, संतप्त हो जाती है। उल्टे, धारिणी के क्रोध का गौतम अर्थ लगाता है कि गणदास का स्पर्धा में टिकना असम्भव है। इसीलिए उसको बचाने के लिए रानी क्रोध का स्वाँग रचकर स्पर्धा ही न होने देने का प्रयत्न कर रही है। अब गणदास भी निश्चय से कहता है कि अगर रानी ने स्पर्धा में अपने गुण दिखाने का अवसर नहीं प्राप्त करा दिया तो उसके विश्वास के अपात्र होने का अर्थ वह मान लेगा। धारिणी लाचार हो जाती है। झगड़ा हद से न बढ़े और नृत्याभिनय के प्रदर्शन की बारी न आ जाय इसलिए वह जो-जो आपत्तियाँ उठाती है, जो प्रयत्न करती है, व्यर्थ हो जाते हैं। पर बात भी सत्य है कि नाट्याचार्य के झगड़े का अन्त यही हो इसके लिए परिव्राजिका की सहायता भी गौतम को खूब हुई है। लेकिन उसने उसे अपने आयोजन में पहले से ही शामिल कर लिया होगा और अपनेपन के रिश्ते से, मालविका से प्रेम होने से, वह अग्निमित्र की रानी हो जाय तो अच्छा ही है इस विचार से परिव्राजिका ने भी उसकी खुशी से मदद की होगी। इसमें कोई शक नहीं कि जो भी हो मालविका राजा की दृष्टि में आ जाय इस उद्देश्य की सफलता के लिए गौतम ने यह सब खेल रचा है। अपने पर या राजा पर शक न आ जाय इसलिए नाट्याचार्यों में झगड़ा निर्माण करके परस्पर प्रसंग निर्माण हो जाय इस प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म और चतुर योजना उसने की है। जब यह झगड़ा शुरू रहता है तब राजा कुछ भी बोलता नहीं और गौतम विदूषकी चाल चलता है जिससे एक ओर झगड़े की आग में तेल डालता है तो दूसरी ओर गौतम पर प्रकट शक भी नहीं होता। अंत में यह धारिणी के ध्यान में आ ही जाता है कि यह सब षड्न्त्र है। अग्निमित्र से वह कहती भी है, 'राजनैतिक कार्य में इतनी चतुराई दिखायी होती तो कम-से-कम राज्य का फायदा ही हो जाता।'

दूसरे अंक में जब मालविका का नृत्याभिनय प्रारम्भ होता है तब गौतम राजा को धोखे की सूचना देने के लिए भूलता नहीं, "मित्र मधु (मालविका के रूप से) हाथों में है फिर भी मधुमक्खी (धारिणी के रूप से) उसके पास है। इसलिए जो आनन्द लूटना

है वह जरा संभल के, समझे !" इस प्रसंग में गौतम जो नृत्य का दोष निकलता है उसमें मूर्खता है । लेकिन उसका उद्देश्य मालविका को रंगमंच पर अटकाना है जिससे राजा उसे आँख भर कर देख सके । ब्राह्मण की पूजा रह गयी इस प्रकार असंबद्ध दोष दिखाकर गौतम जो विनोद करता है उससे मालविका को भी हँसी आती है । राजा को उसके स्मितयुक्त मुखकमल के सौंदर्य को देखने का अवसर मिल जाता है ।

इन दोनों प्रसंगों में ऊपरी दिखायी देने वाली मूर्खता से तीन उद्देश्य सध जाने हैं । मालविका को राजा देख सके यह गौतम का षड्यंत्र पक्का होता है । उसका अपना और राजा का इस करतूत में हाथ है इस प्रकार का किसी को भी शक नहीं होता । और राजा का अंतरंग मित्र होने से उसके प्रेम सम्बन्धों में सहायता करने की और आनंद प्राप्त करा देने की गौतम की जिम्मेदारी पूर्ण रूप से सफल हो जाती है । गणदास और धारिणी को गौतम ने अच्छी तरह धोखा दिया है जो षड्यंत्र को सफलता में प्रत्यक्ष होता है । लेकिन गौतम जब नृत्य का दोष निकालता है और धारिणी उसकी मूर्खता की ओर ध्यान न देने की सूचना करती है तब गणदास कहता है; 'गौतम के मूर्ख होने पर भी उसके पास सूक्ष्म दृष्टि नहीं ऐसा क्यों कहा जाय ? 'विद्वानों के संग में मूर्ख भी सयाना बन जाता है' मूर्खता का स्वाँग रचकर गौतम दूसरों को किस तरह धोखा देता है इसका यह एक सुन्दर प्रमाण है ।

राजा के मित्र के नाते मालविका की प्राप्ति करा देने के कार्य में गौतम ने जो सहायता की है वह बेजोड़ है । अग्निमित्र का सब बोझ केवल गौतम पर है । ऐसा लगता है कि मालविका के दर्शन से पाणिग्रहण तक जो जो घटनाएँ घटती हैं वे गौतम के आयोजन और सहयोग के बिना असंभव थीं । नृत्याभिनय का प्रसंग हो जाने पर गौतम दूसरे अंक में राजा से कहता है, 'मुझसे जो कुछ करना संभव था वह सब मैंने किया है ।' यह अग्निमित्र को मान्य नहीं है कि अपने 'मतिविभाव' को इस प्रकार की सीमा गौतम डाल ले । राजा उससे प्रार्थना करता है कि उसकी मदद अंत तक मिलनी चाहिए । मालविका से मिलने में भी गौतम की मदद लिए बगैर राजा कुछ भी नहीं कर सकता तो प्रमदवन के या समुद्रगृह के अनपेक्षित संकट के प्रसंग में अग्निमित्र अकेला क्या कर सकता था ?

राजा की इच्छापूर्ति में कितने विघ्न हैं इनकी गौतम को अच्छी कल्पना है । स्वभावत: सरल होने के कारण या बात नाजुक होने के कारण; अग्निमित्र के हाथों से स्वयं प्रेरणा से कुछ भी नहीं हुआ है । प्रत्येक प्रसंग में उसको हाथ पकड़ कर ले जाना पड़ता है । मालविका तो बेचारी धारिणी की आश्रिता है । उससे कुछ सम्मान से बर्ताव किया जाने पर भी वह मूलत: राजकन्या है, यह नाटक के अंत में प्रकट होने पर उसकी योग्यता सेविका की ही है । इस प्रकार की आशा भी नहीं की जा सकती कि

वह राजा के प्रेम को बढ़ाने में कुछ कर सकेगी । चंद्रिका को मेघ छिपाते हैं उसी प्रकार उसकी अवस्था है । राजा की दृष्टि उस पर न लगे इसलिए नाग जैसे धन पर नजर रखता है वैसे धारिणी उसको सँभालती है । लेकिन सब रुकावटों को दूर करने की कल्पना और होशियारी गौतम के पास है ।

नृत्याभिनय के प्रसंग में राजा को सतर्कता से बरताव करने की वह सूचना देता है । मालविका से मिलने के लिए उत्कट होने पर, इरावती से प्रमदवन में मिलने का दिया हुआ वचन तोड़कर उसे दुःख न दे और शक निर्माण न करे इस प्रकार की सलाह वह राजा को देकर उसे प्रमदवन में ले आता है । इस प्रसंग में मालविका से बातचीत करते समय राजा को ध्यान नहीं रहेगा, इसलिए वह इरावती के आगमन की सूचना भी देता है ।

पहले दो अंकों में गौतम जान बूझकर पागल सा बर्ताव करता है फिर भी सब प्रसंगों का सूत्र मानो उसके हाथों में है । बहुत कुछ भवति-न-भवति होने पर नाट्याचार्य के झगड़े का निर्णय किस कसौटी परकिया जाय इसका जिम्मा गौतम ही करता है । वह नाट्याचार्यों को सूचना देता है कि शिष्यों के अभिनय कराने की सिद्धता की जाय । सिद्धता हो जाने पर मृदंग ध्वनि करने से उसे सूचना मानकर राजासहित सब प्राश्निक और प्रेक्षक उपस्थित हो जायेंगे ऐसे वही कहता है । मालविका के गाने से उसकी प्रेम भावनाएँ व्यक्त हो रही हैं, यह गूढार्थ भी वही राजा से कहता है ।

तीसरे अंक में मालविका प्रमद वन में आती है । इस घटना का अर्थ गौतम राजा को समझाता है । न खिलने वाले अशोक वृक्ष पर चरण प्रहार करने का कार्य अगर मालविका पर सौंपा न जाता तो उसकी जैसी दासी को राजकुल के विशिष्ट अलंकार पहनने के लिए धारिणी कभी न देती, यह गौतम का तर्क ठीक निकलता है । माल- और बकुलावलिका की जो बातचीत होती है उससे मालविका राजा से प्रेम करती है यह अर्थ भी गौतम ही राजा को स्पष्ट करता है और उसको संतोष प्राप्त करा देता है ।

यह बात सत्य है कि एकाध अनपेक्षित घटना से गौतम पहले पहल डरता है । प्रमदवन में और समुद्रगृह के पास इरावती के अचानक आ जाने पर क्या करना चाहिए यह गौतम झट से समझता नहीं । समुद्रगृह के प्रसंग में ऐन मौके पर बंदर ने दुर्घटना निर्माण न की होती और सब का ध्यान उस ओर आकृष्ट न होता तो अग्निमित्र की मुक्ति का कोई भी मार्ग नहीं था । प्रमदवन में अग्निमित्र मालविका को पास लेकर प्रेम की बातें कह रहा है और इतने में इरावती सामने आकर खड़ी होती है तब राजा ही क्या गौतम भी भौंचक्का हो जाता है । राजा धीरे से कहता है, 'अब

क्या करना चाहिए ?' गातम कुड़बुड़ाता है, 'यहाँ से चंपत हो जाओ !' प्रणयलीला करते समय रंगे हाथों पकड़े जाने पर जवाब भी क्या दिया जाय ? कुछ तो बताना चाहिए, इसलिए गौतम कहता है, 'भीति को तोड़ते समय अगर चोर पकड़ा गया तो उसे कहना चाहिए कि मै सिर्फ शास्त्र सिद्धांत का प्रयोग करके देख रहा था ।' लेकिन थोड़ी ही देर में गौतम खुद को सम्हाल लेता है । वह इरावती से कहता है कि 'राजा उससे ही मिलने के लिए प्रमदवन में आया था । उसके आने में देर हुई और सामने मालविका दिखायी दी, इसलिए केवल समय काटने के लिए उसके साथ गपशप हो रही थी ।' सहज सामने दिखायी देने वाली रानी की दासी से बातें करना भी अगर अपराध होता हो तो फिर आप ही न्याय करें ।' गौतम के इस उत्तर से इरावती हड़बड़ाती है, चिढ़ती है । लेकिन क्या प्रत्युत्तर दिया जाय यह उसे सूझता नहीं । वह राजा का अनुनय दुत्कार कर केवल क्रोध से पैर पटकती हुई निकल जाती है ।

गौतम इस प्रकार मुँहतोड़ जबाब देने वाला है । लेकिन जिन बातों की गौतम ने खुद विचारपूर्ण योजना की है उनके सम्बन्ध में गौतम के विनोद और बोलने में आत्मविश्वास का तेज दिखायी देता है । प्रारंभ में जब नाटयाचार्य झगड़ते आते हैं तब राजा कहता है, 'मित्र तुम्हारी नीति के फूल खिल गये हैं ।' गौतम उत्तर देता है, 'फल भी जल्द ही देखने को मिलेंगे ।' अर्थात् यह फल है झगड़े का अंत और नृत्याभिनय के प्रसंग से राजा को मालविका के दर्शन । प्रमदवन में राजा की मालविका से भेंट होती है जिसका श्रेय विचार करने पर गौतम को ही देना पड़ेगा । गौतम के 'कुछ ऊधमी चाल के कारण' धारिणी झूले से गिरती है और उसके पैर को लग जाता है । ऐसा कहने के लिए अवकाश है कि यह नटखटपन गौतम ने जान-बूझकर किया है क्योंकि अशोक वृक्ष धारिणी को प्रिय है यह बात उसे मालूम है । अशोक को अभी तक फूल न आने के कारण चरण प्रहार करके उसका 'दोहद' पूरा करने की जिम्मेदारी अन्यथा धारिणी अपने ऊपर ही ले लेती । अब उसके पैर को चोट लगने से यह कार्य दूसरे को बताना आवश्यक है । दोहद पूर्ण करने के लिए उसका इरावती को कहना असंभव था क्योंकि दोनों रानियों में परस्पर मत्सर की भावना थोड़ी क्यों न हो, पर है । लेकिन इसकी अपेक्षा मालविका जैसी युवती और सुन्दर दासी अपने काबू में रहने पर दूसरों को बताने की क्या आवश्यकता है ? इसलिए यह सीधा तर्क किया जा सकता है कि अशोक को चरण प्रहार करने का कार्य मालविका की ओर आयेगा ? मालविका के इस निमित प्रमदवन में आ जाने पर उससे मिलना कठिन नहीं था ।

इसके लिए तर्क करने की आवश्यकता नहीं कि समुद्रगृह की भेंट गौतम ने ही नयोजित की थी क्योंकि रानी की दासी और राज वैद्य को अपने गुट में शामिल करके रानी की नाममुद्रा प्राप्त करने के लिए सर्पदंश का जो नाटक उसने खेला वह

अपनी आँखों के सामने ही है। लेकिन नाममुद्रा हाथ में आ जाने पर भी समुद्रगृह के तलघर से मालविका को अचानक मुक्त क्यों किया जा रहा है और अंगूठी रानी की एकाध दासी को लानी चाहिए थी इसके बदले गौतम क्यों ले आया ? इस प्रकार की आशंका पहरा देने वाली दासी को आ जानी चाहिए थी। इसलिए राजा गौतम से कहता है, 'दासी माधविका मूर्ख होगी।' गौतम थोड़े गर्व से कहता है कि इस विरोध की कल्पना मुझे थी और उसका जबाब भी मेरे पास था। राजा के ग्रह अनिष्ट हो जाने के कारण राजज्योतिषी ने बंदीजनों को मुक्त करने के लिए कहा है। मालविका को जो बंदी होना पड़ा उसका प्रमुख कारण है प्रमदवन में घटित प्रसंग को लेकर इरावती द्वारा की गयी शिकायत। उसके संतोष के लिए धारिणी ने यह प्रबंध किया था। अब अंगूठी दासी के साथ न भेजकर राजा के साथी के साथ भेजने से मालविका को मुक्त करने की जिम्मेदारी धारिणी पर न आकर राजा पर आती है, और फिर धारिणी के खिलाफ शिकायत करने के लिए इरावती को अवसर नहीं मिलता। यह सब बताने के बाद गौतम राजा से कहता है, 'मैं मूर्ख हूँ लेकिन मुझमें अक्ल नहीं है ऐसा मत सोचो।'

इस प्रकार नाटक की सब घटनाओं पर गौतम का प्रभाव नजर आता है। राजा का उद्दिष्ट सफल करते समय उसने बीचबीच में विदूषक का भाव दिखाया है फिर भी दूसरों का मजाक उड़ाते समय वह अपना भी काफी मनोरंजन कर लेता है। नाट्याचार्यों में झगड़ा पैदा करके गणदास की वह प्रकट रूप में हँसी उड़ाता है। इस और सर्पदंश के प्रसंग में उसने धारिणी को खूब बनाया है। मालविका के संदर्भ में उसने धारिणी को मधुमक्खी, मेघावली, बिल्ली, पिंगलाक्षी इस प्रकार की जो उपमाएँ दी हैं उनमें भी मजाक है। कुढ़ने वाली इरावती को उसने वक्रगति से चलने वाले मंगल की उपमा दी है। गौतम ने परिव्राजिका और मालविका का भी मजाक उड़ाया है। परिव्राजिका को वह पीठमर्दिका कहता है; वास्तव में पीठमर्दिका का अर्थ है प्रेम प्रसंग में मदद करने वाली निम्न श्रेणी की स्त्री। परिव्राजिका अग्निमित्र की अप्रत्यक्ष रीति से जो मदद करती है। वह मालविका से प्रेम होने के कारण। इसमें कोई शक नहीं कि वह उच्च कुल की है। इसलिए उसे पीठमर्दिका कहना निःशंक पाजीपन है। समुद्रगृह के तलघर में बंद की गयी मालविका का 'पातालवासी नागकन्या' इस प्रकार से हास्यपूर्ण वर्णन करता है।

वास्तव में गौतम के मजाक करने का विषय है अग्निमित्र। राजा के साथ हमेशा होने के कारण उसको परिहास करने के लिए खूब अवसर मिलता है। इसके अलावा, राजा उस पर संपूर्णतया अवलंबित है। इसलिए गौतम एक बार कहता भी है, 'तुम जरा धीरज धरते और अपना आयोजन निश्चित, सरलता से सफल हो जायेगा

ऐसा विश्वास रखोगे तो ठीक हो जायेगा ।' वह राजा को उस पंछी की उपमा देता है जो माँस के लोभ से पाकशाला के चारों ओर मँडराता है लेकिन अंदर जाने का धैर्य नहीं रखता है । नाट्याचार्यों में झगड़ा लगाकर नृत्याभिनय के मिस मालविका का "विरल नेपथ्य' का और प्रेमाविष्कार का सुन्दर दर्शन पास में लेने का अवसर उसने ही राजा को प्राप्त करा दिया था । इतने पर ही न रुककर अंत तक सहाय करने के लिए अग्निमित्र जब उससे विनती करता है तब गौतम कहता है, 'भले ! यह तो दरिद्री रोगी की तरह हो गया । वैद्य को आना तो चाहिए ही पर औषधि को लेकर वैद्य आ जाय इस प्रकार की तुम्हारी अपेक्षा दिखायी देती है ।' प्रमदवन में मालविका से बात-चीत करते समय अचानक इरावती आती है । इस संकट से मुक्त होने का कोई मार्ग दिखायी नहीं देता । 'कुछ भी तो करो अब' इस प्रकार की सूचना गौतम राजा को देता है और अग्निमित्र इरावती का अनुनय करने के लिये उससे क्षमा माँगता है । क्रुद्ध इरावती वहाँ से चिढ़कर उसी तरह चली जाती है । अग्निमित्र के ध्यान में झट से यह आता नहीं । लेकिन राजा इरावती के सामने झुका है और वह वहाँ से चली गयी है, इस प्रसंग की हास्यकारिता गौतम के ध्यान में आये बगैर नहीं रहती । वह कहता है, 'हाँ, उठो । तुम्हारे ऊपर कृपा हो गयी ।' मालविका राजा का चित्र देखकर उसका सौंदर्य देख रही है । गौतम राजा को चिढ़ाने के लिए कहता है, 'सुना ? तुम्हारी अपेक्षा तुम्हारा चित्र ही उसे अधिक पसन्द है । अर्थात् हम जवान हैं इस प्रकार का तुम्हें जो गर्व हुआ है वह व्यर्थ है । यह पेटी का अलंकारों के लिए गर्व करने जैसे हुआ है ।' अंत में मालविका का हाथ धारिणी राजा के हाथ में देती है और मालविका को रानी का सम्मान देती है तब गौतम अंतिम मजाक करता है; राजा शर्माता है । ठीक है । 'नया वर शर्माता ही है ।'

मैत्रेय के विनोद में जो प्रखरता है, बुद्धि का तेज है, वह गौतम के विनोद में नहीं है । गौतम केवल हँसोड़ है । लेकिन अनेक युक्तियों की योजना करके अपना हेतु साध्य करने में और खुद पागल का रूप लेकर हरएक का मजाक उड़ाने में गौतम का जो चातुर्य है वह बेजोड़ है । अपनी चपलता का ज्ञान खुद गौतम को है । राजा ने 'कार्यान्तिर सचिव' कहकर और इरावती ने 'कामतन्त्र सचिव' अर्थात् प्रेमविश्राम का मंत्री कहकर गौतम का जो वर्णन किया है वह अत्यंत उचित है ।

• • •

९. | माणवक

'सर्वत्र प्रमादी वैधेय: :

—विक्रमोर्वशीय, २.

भो अहल्याकामुकस्य इन्द्रस्य वज्र: सचिव:, उर्वशीकामुकस्य भवत: अपि अहम् । द्वौ अपि अत्र उन्मत्तौ ।

—विक्रमोर्वशीय, ३.

इस विदूषक के नाम में ही शारीरिक विकृति की सूचना है क्योंकि 'माणवक' का अर्थ ही है 'बौना आदमी।' रानी की दासी कहती है कि माणवक चित्र के बन्दर जैसा दिखता है। पुरूरव्य का पुत्र कुमार नमस्कार करने के लिए बताता है। विदूषक कहता है, 'वह क्यों डरे ? यह बन में बढ़ा है अर्थात् उससे बन्दर परिचित होंगे ही।' अपना बाह्यांग कैसा दिखता है इसकी पूरी कल्पना माणवक को है। इतना ही नहीं तो खुद का खुनकर मजाक करने की उसकी वृत्ति है। राजा से वह स्पष्ट पूछता है, 'मित्र, मैं जिस तरह कुरूपता में अद्वितीय हूँ उसी तरह क्या उर्वशी भी रूप में बेजोड़ है ?'

दासी के कहने के अनुसार माणवक 'ब्रह्मबन्धु' अर्थात् केवल नाममात्र का ब्राह्मण है। लेकिन खुद जन्म से ब्राह्मण होने के कारण और राजा के मित्र होने के नाते सभी अपने को मान दें ऐसी माणवक की अपेक्षा है। वह अपने को उर्वशी द्वारा वंदन करवाता है। शत्रु-मित्र कोई भी उसे नमस्कार करें और कुछ भेंट या दक्षिणा दें तो वह आशीर्वाद देने के लिए तैयार है। पुरूरवा चन्द्र की पूजा कर रहा है। पुरूरवा चन्द्रवंश का और चन्द्र उसका दादा है। राजा की पूजा शुरू रहती है तब माणवक को

खड़ा रहना पड़ता है। उसके स्वास्थ्यप्रिय स्वभाव के अनुकूल कब बैठूँ ऐसा उसे लग रहा है। इसीलिए वह राजा से कहता है, 'तुम्हारे दादा ने मेरे मुख से कहलाया है कि अब बैठने में कोई आपत्ति नहीं। फिर मैं भी आराम से बैठ सकूँगा। इसका मतलब यह हुआ कि स्वर्गीय चन्द्र और राजा के पुरखों का वह खुद प्रतिनिधि है और ईश्वर ब्राह्मण के मुख से बोलता है। माणवक के ब्राह्मण्य का गर्व और सुखासीन स्वभाव दोनों ही यहाँ अच्छी तरह व्यक्त होते हैं।

अपने प्रेम सम्बन्ध में राजा को माणवक से कुछ भी मदद नहीं मिलती। वह राजा को केवल आशीर्वचन देता रहता है। एक बार माणवक इसी प्रकार की कोरी सदिच्छा व्यक्त करता रहता है और इतने में राजा की दायीं आँख फड़कती है और उसे शुभ शकुन होता है। झट से माणवक अपनी डींग हाँकते हुए कहता है : 'देखा !' ब्राह्मण के शब्द कभी झूठ नहीं निकलते !'

भुक्खड़पन माणवक का स्थायी धर्म है। पुरुरव्य के स्वास्थ्य में फर्क हुआ है। उसका चित्त भी व्यग्र हुआ सा दिखता है। उसका मन किसी स्त्री की ओर आकृष्ट हो जाने से यह फर्क हुआ है ऐसा रानी को लगता है। माणवक मूर्खता से कहता है कि राजा को पित्त हुआ है; उसका यह परिणाम है। खाने के अच्छे पदार्थ भेज देने पर राजा का स्वास्थ्य आप ही आप सुधर जायेगा। राजा पर चिढ़कर उसका अनुनय न मानते हुए रानी निकल गयी है। पुरूरवा थोड़ासा चिढ़ जाता है और कहता है कि इसके बाद रानी से कठोर व्यवहार करना चाहिए। उस पर माणवक कहता है, 'जले तुम्हारी कठोरता ! ब्राह्मण के पेट में आग लगी है पहले उसकी कुछ सोचो। स्नान, भोजन का समय कब का बीत चुका है।'

अपने क्रोधी बर्ताव का रानी को बाद में परिताप होता है। पुरूरव्य का मन प्रसन्न करने के लिए वह प्रियप्रसादन नामक व्रत करती है। यह देखकर पुरूरवा भल-मनसी के साथ रानी से कहता है कि व्रत करके खुद को कष्ट उठाने की कोई आवश्य-कता नहीं थी। राजा के इस बात का अर्थ मूर्ख माणवक के ध्यान में कुछ भी नहीं आता। उसके दिमाग में इतनी ही बात आती है कि राजा के व्रत को रोकने से उसके निमित्त से अपने को मिलने वाले मोदक नहीं मिलेंगे। वह राजा को उपदेश देता है : 'ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए। कोई कुछ बातें कहता हो तो उसका विरोध नहीं करना चाहिए।'

स्वस्तिवाचन के मोदकों की थाली मिलती हुई दिखायी देने पर माणवक को आनन्द होना स्वाभाविक है। पक्वान्नों की थाली हाथ में लेकर जब रानी आने लगती है तो बहुत सुन्दर दिखती है ऐसा उसका मत है। भोजन या दक्षिणा मिलने वाली हो

तो उसे तकलीफ महसूस नहीं होती। ऐसे समय आशीर्वादों की खैरात करने के लिए माणवक तैयार है।

अंगराग, फूल आदि जो कुछ भी भेंट के रूप में मुफ्त मिलता उसे स्वीकार करने के लिए माणवक तैयार है। लेकिन उसकी सब से प्रिय भेंट है मीठे पक्वान्न। पक्वान्न के अलावा उसे कुछ सूझता ही नहीं। बातचीत का विषय चाहे जो हो माणवक उसका सम्बन्ध खाने के साथ जोड़ता है। राजा का प्रेमरहस्य उसे मालूम हो चुका है। उसे गुप्त रखने के लिए राजा ने उसे कहा है। इस स्थिति में माणवक अपनी तुलना उस ब्राह्मण से करता है जिसके पेट में ठूँस-ठूँसकर अन्न भर दिया गया है जिससे पेट फूटने वाला ही है। उर्वशी का पत्र प्राप्त हो जाने पर राजा का आनन्दित होना स्वाभाविक है। माणवक कहता है, 'मुझे अपने पसंद का खाद्य पदार्थ प्राप्त हो जाने पर ऐसा ही आनन्द होता है।' अर्द्ध चन्द्रमा का उदय देखकर उसे लड्डू के टुकड़े की याद हो जाती है। पुरूरवा कहता है कि 'पेट्स को खाने के अलावा दूसरा कुछ दिखता ही नहीं।'

केवल खाने का मनोराज्य करने में भी माणवक को सुख होता है। रसोईघर में विविध पदार्थ तैयार करने के लिए सब चीजें सजाकर रखी हैं, या अलग-अलग रसीले, स्वादिष्ट पदार्थ पकाने का कार्य चला है, केवल यह दृश्य देखकर माणवक को जो आनन्द होता है उसका पृथ्वी पर ही क्या स्वर्ग में भी जोड़ नहीं। उर्वशी से वह तुच्छता से कहता भी है, 'स्वर्ग में है ही क्या ? वहाँ न खाते हैं न पीते हैं। पलक न हिलाते हुए देवता केवल एक दूसरे की ओर देखते रहते हैं और मछलियों की बिडंबना करते हैं।' माणवक का मत है कि पृथ्वी का सब से उत्कृष्ट स्थान है रसोईघर। पुरूरवा प्रेमविह्वल अवस्था में है, उसका मन कहीं नहीं लग रहा है, इसलिए वह माणवक को कुछ मनोरंजन करने के लिए सुझाता है। झट से माणवक उत्तर देता है : 'रसोईघर में जायेंगे !'

ब्राह्मण का पेटूपन ही नहीं, कायरता भी माणवक में है। वह साँप से डरता है। भूर्जपत्र पर प्रेमलेख लिखकर उर्वशी उसे आकाश से नीचे फेंक देती है। हवा में तैरते आते हुए भूर्जपत्र को साँप की केंचुली समझकर माणवक भागने लगता है। लेकिन माणवक रानी की दासी से भी डरता है। उसे दूर से ही आते हुए देखकर वह घबड़ा जाता है और उसे ऐसा लगता है कि कहीं राजा का प्रेमरहस्य प्रकट न हो जाय। दासी इस बात को पूर्ण रूप से जानती है कि विदूषक को धोखा देने पर कोई भी रहस्य जिस प्रकार कमल पत्र से ओस के कण झरते हैं उसी प्रकार माणवक के पास क्षणभर नहीं रह सकता। वह माणवक से कहती है कि गलती से राजा ने अपनी प्रेयसी के नाम से रानी को पुकारा और माणवक उर्वशी का सब प्रेमरहस्य उससे कह

डालता है, इतना ही नहीं जो रहस्य छिपा रखने के लिए मुँह बन्द रखने की जो तकलीफ होती थी वह समाप्त हुई समझकर वह खुश होता है।

राजा के उस प्रेम को प्रकट करने की इतनी-सी ही भूल माणवक के हाथ से हुई है सो बात नहीं। उर्वशी का प्रेमपत्र सँभाल कर रखने के लिए राजा उसके पास देता है। उसे वह खो देता है। यह सब से बड़ा प्रमाद है। वायु के साथ अपने हाथ का पत्र भी उड़कर जाता है इसका भान भी माणवक को नहीं है। वह पत्र दासी को मिलता है और दासी रानी के हाथ में देती है। उसे लेकर रानी राजा से विवरण पूछने के लिए आयी है। इस प्रकार की विचित्र घटना में विदूषक की भूल के कारण राजा फँसता है। पहले पहल राजा जब उससे पत्र के बारे में पूछता है तब पत्र कहाँ खो गया यह माणवक के ध्यान में आता है। वह राजा को पागल के जैसे उत्तर देने लगता है कि 'उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा है, उसका पत्र भी स्वर्गीय है, इसलिए वह भी उसके साथ आकाश मार्ग से चला गया।' लेकिन जब रानी उसे राजा को पढ़कर दिखाती है तो वह निराश हो जाता है और वह हड़बड़ाने लगता है। वास्तव में एक बड़ी भूल करने के बाद माणवक को कम-से-कम चुप बैठना चाहिए था। लेकिन वह मूर्ख की तरह बड़बड़ाने लगता है। राजा से कहता है, 'चोर को रंगे हाथ पकड़े जाने पर जबाब क्या दिया जाय ?' रानी की तरफ मुड़कर कहता है कि 'पित्त-प्रकोप हो जाने से राजा का स्वास्थ्य बिगड़ चुका है।' इसलिए उस पर उपाय के रूप में खाने के लिए तुरन्त लाने के लिए कहता है और कहता है, 'अन्न की बलि चढ़ा देने पर भूत शांत हो जाता है।' माणवक का यह समर्थन केवल मूर्खता का ही नहीं था। उस पत्र से अपना कोई सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार राजा दिखाने का प्रयत्न कर रहा था। लेकिन भूत बलि के उदाहरण से इस प्रकार का अर्थ निकलता है कि राजा को प्रसन्न किये बगैर वह पत्र का सम्बन्ध प्रकट नहीं करेगा। अपनी बात से क्या अर्थ निकलता है इसका ध्यान भी उसे नहीं है। राजा चिढ़कर कहता है, 'मूर्ख, तुम मुझपर यह अकारण गुनाह लाद रहे हो।'

प्रेम प्रकरण में माणवक का सहाय मांगने से राजा के पल्ले में गड़बड़ी और निराशा के अलावा कुछ नहीं पड़ता। राजा उर्वशी के प्रेम के बारे में माणवक को कुछ अपनापन लगता है ऐसा दिखता नहीं। उर्वशी के लिए उत्सुक बना हुआ राजा माणवक को वर्षा बिन्दु के लिए आर्त बने हुए चातक की तरह लगता है। राजा को उर्वशी के बारे में बहुत कुछ कहें ऐसा लगना स्वाभाविक है और मित्र होने के कारण वह यह बात माणवक से कहता है। लेकिन माणवक कहता है, 'वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं। तुम्हारी ओर देखने पर ही सब समझ में आ गया।' उर्वशी से मिलने का एकाध उपाय सुझाने की ताकत माणवक में बिलकुल नहीं है। माणवक ने सुझाया है

कि उर्वशी के सम्बन्ध में स्वप्न में विचार करें या चित्र उतारें। लेकिन राजा जब कहता है कि नींद न आने के कारण उर्वशी का स्वप्न में दिखाई देना कठिन है और चित्र खींचने लगता हूँ तो आँखों में आँसू उमड़ आते हैं और चित्र अधूरा ही रह जाता है तब माणवक कहता है, 'इसके परे अपनी बुद्धि काम नहीं देती।'

बुद्धि की बात तो रहने दीजिए। लेकिन माणवक के पास केवल अंदाज करने की भी कल्पना नहीं है। भूर्जपत्र देखकर उर्वशी का प्रेम पत्र होगा, या रानी जो व्रत कर रही है उसके ही राजा पर क्रोध करके चले जाने के परिताप का फल है, ये माणवक के तर्क ठीक हैं लेकिन वे अकल्पित सूझे हैं। ठीक विचार करके फिर एकाध युक्तियुक्त निष्कर्ष निकालना उसे मालूम नहीं है। उर्वशी के प्रेम में राजा के फँस जाने का पता जब रानी को चलता है तब वह फौरन चली जाती है। उसका चला जाना राजा के लिए ठीक है ऐसा माणवक का निष्कर्ष गलत ही है। दासी उसे धोखा देकर राजा के प्रेम का रहस्य उससे निकाल लेती है, और उर्वशी का प्रेमपत्र वह खो बैठता है, इन दोनों प्रसंगों में माणवक जो समर्थन करता है वह केवल गप्प है। इससे केवल उसका समाधान हो जाता है लेकिन इस में कोई शक नहीं कि वह राजा के लिए विघ्न बन चुका है।

राजा के मित्र के नाते ऐसी अपेक्षा स्वभाविक है कि वह उसे प्रेम प्रकरण में सहायता करे। अन्यथा राजा उसे न रहस्य ही बताता न उसकी सलाह ही लेता। लेकिन माणवक मदद की अपेक्षा उल्टा ही अधिक होता है। माणवक राजा के खिलाफ रानी की मदद करने के लिए तैयार है। उसके बारे में वह प्रकट सहानुभूति दिखाता है। दासी के साथ वह संदेश देता है कि राजा को इस मृगजल से वापस नहीं भेजा तो वह मुँह भी नहीं दिखायेगा। और वह यह जो प्रेम दिखाता है इसका कारण है, रानी से उसे स्वस्ति वाचन के मोदक मिलने का आश्वासन। अन्न की बलि देने पर भूत भी संतुष्ट होता है, यह न्याय माणवक के अपने संबंध में ठीक लागू होता है।

माणवक मूर्ख है लेकिन वह दूसरों का मजाक करने में पीछे नहीं रहता। प्रेम में फँसे हुए राजा को उसने जलबिन्दु के लिए आर्त चातक की उपमा दी है। रानी प्रेम पत्र लेकर जब राजा के सामने उपस्थित होती है तब वह राजा को रंगे हाथ पकड़े जाने वाले चोर की उपमा देता है। उर्वशी जब राजा से मिलने के लिए आती है तब राजा राजमहल की अटारी पर चांदनी में बैठा है। राजा आनंद से उसे अपने पास बिठा लेता है। उस समय माणवक और उर्वशी की सखी चित्रलेखा वहाँ उपस्थित हैं। माणवक धृष्टता से पूछता है, क्या तुम दोनों के लिए यहीं रात हो गयी? रानी राजा की मर्जी सम्हालने के लिए उन्हें अपनी पसंद की स्त्री के साथ ब्याह रचने की अनुमति देती है। इस पर उसे अच्छा लगे इस प्रकार की कुछ बातें करने के इरादे से राजा आगे आता है माणवक बीच में कहता है, 'डरो मत। बोलो, सभी उपाय समाप्त हो जाने पर वैद्य जिस

प्रकार रोगी को छोड़ देता है उसी प्रकार रानी ने अब आपको महारानी से मुक्त करा दिया है।' इस प्रसंग में माणवक बेचारी रानी का मजाक करता है। रानी जब तय करती है कि आगे चलकर उर्वशी के संबंध में कोई भी रुकावट न लायी जाय तब माणवक कहता है, 'यह एकाध मछुए की तरह हो गया। मछली हाथ से निकल जाने पर वह कहता है, चलो उतना ही धर्म हुआ।' अंत में राजा को ऐसा पता चलता है कि उर्वशी से अपने को पुत्र प्राप्त हुआ है। लेकिन उसने उनसे इतने दिनों तक क्यों छिपा कर रखा यह कुछ समझ में नहीं आता। माणवक से पूछने पर वह कहता है, 'यह प्रश्न अपनी बुद्धि से परे को है। लेकिन इतना बड़ा लड़का हो जाने का उर्वशी का मानना उस के बूढ़ी हो जाने की स्वीकृति देने के जैसे है और बूढ़ी हो जाने पर राजा का पहले जैसा प्रेम नहीं रहेगा। यही कारण होगा।' सच्चा कारण उर्वशी बताती है। भरतमुनि के शाप के कारण उर्वशी को पृथ्वी पर मर्त्य स्त्री की तरह आकर रहना पड़ता है। लेकिन इन्द्र उस पर अनुग्रह करके उसे आश्वासन देता है कि उसके होनेवाले पुत्र का मुख राजा को दिखायी देने तक ही उसे पृथ्वी पर रहना पड़ेगा, उसके बाद फिर से वह स्वर्ग में आ सकती है। पुरूरव्य के गाढ़ प्रेम के कारण उर्वशी ने अपने लड़के को छुपाकर मारीच ऋषि के आश्रम में भेज दिया और इस तरह पुरूरव्य के साहचर्य का जितना अधिक देर तक लाभ हो सकता था उतना लाभ उठा लिया। अर्थात्, अब पुत्र के दिखायी देने पर पृथ्वी का निवास समाप्त करके उर्वशी को स्वर्ग में वापस जाना होगा। इस अकल्पित वियोग की कल्पना से पुरूरवा और उर्वशी दोनों व्याकुल हो जाते हैं। माणवक राजा से कहता है, 'मुझे लगता है कि अब तुम वल्कल परिधान करके संन्यास लोगे।'

माणवक से किसी भी प्रकार की सहायता की अपेक्षा करना ही गलत था। 'कुछ चिंता मत करो। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करेगा।' उर्वशी ने पत्र भेजकर तुम्हारी इच्छा रूपी फूल को खिला दिया है। मिलन का फल तुझे, दिये बगैर वह कैसे रह सकती है?' 'जल्द ही तुम्हें उनकी प्राप्ति हो जायेगी।' राजा को इस प्रकार के आशीर्वचन देने के अलावा माणवक के हाथ से कुछ होता नहीं।

मदद तो दूर रही। माणवक नये विघ्नों का निर्माण करता है। राजा का रहस्य प्रकट करने में, पत्र खोने में, रानी के सामने मूर्ख की तरह प्रतिपादन करने में माणवक ने अपनी मूर्खता की माला पिरोयी है। राजा कहता है, 'इस गधे ने, हर जगह विघ्न निर्माण करके रखे हैं।' राजा के ये शब्द यथार्थ हैं ऐसा कौन कह सकता है? माणवक की सहायता राजा को मिल जाय यह कल्पना ही हास्यकर है। खुद माणवक कहता है, "अहिल्या के लिए पागल बने हुए इंद्र का वज्र को मंत्री बनाना और उर्वशी के लिए पागल बने हुए तुम, और तुम्हारा मंत्री पद मै लूँ। मुझे लगता है दोनों ही पागल हैं।" माणवक सम्बन्धी इतनी यथार्थ आलोचना और कोई भी शायद ही करता। अर्थात् माणवक

का पागलपन विनोद का पोषक है। उसकी भूलों से अनजाने में कथानक को गति मिलती है, तो उसकी असम्बद्ध बातों से और उसका दूसरों का मजाक उड़ाने से हास्य निर्माण होकर राजा के प्रेम प्रकरण पर और अंतःपुर के वातावरण पर मार्मिक प्रकाश भी पड़ता है। माणवक की मूर्खता का इस प्रकार दोनों ओर से उपयोग सिद्ध हुआ है।

६. माढव्य

चपलोऽयं बटुः ।

अभिज्ञान शाकुंतल,

शकुंतला के अचानक अदृश्य हो जाने से दुष्यंत दुःख में डूबा है । अतः शान्ति के लिए वह प्रमद वन में आता है । लेकिन इसी समय वसंत का प्रारम्भ हुआ है । आम बौरा गये है । आम का बौर मदन के पाँच बाणों में से एक है । वसंत का वह चिह्न देखकर दुष्यंत प्रेमभावना से और व्याकुल होता है । विदूषक झट से उठता है और हाथ की लाठी उठा कर आम के बौर को पीटने के लिए चल देता है । दुष्यन्त उसे रोक कर कहता है, 'ब्राह्मण का प्रभाव दिखा दिया ! बैठो' 'दुष्यन्त के इन शब्दों में इस विदूषक की जाति और प्रकार स्पष्ट समझ में आता है । माढव्य यह एक मूर्ख और डरपोक ब्राह्मण है ।

दुष्यन्त जब आखेट की योजना करके सैनिकों के साथ निकला तब माढव्य को उसके साथ जाना पड़ा । लेकिन आखेट के अनुभवों से माढव्य इतना हैरान हो गया है कि उतना कभी अपनी आयु में हैरान नहीं हुआ होगा । इन अनुभवों की राम कहानी कहते हुए वह रंगमंच पर अपना पहला कदम रखता है ।

शिकार के झमेले में माढव्य के सुखी और आरामप्रिय जीवन को ऐसा धक्का लगा है कि उसे दुष्यन्त राजा के साथ मैत्री करने का पछतावा हो रहा है । मध्याह्न पर एक वन से दूसरे वन में वन्य पशुओं का पीछा करते हुए सरपट घोड़ों को दौड़ाने में कुछ बड़ा सुखद अनुभव निश्चित रूप से नहीं है । ग्रीष्म ऋतु के दिन कहीं कहीं हरियाली, वृक्ष लताओं की थोड़ी सी छाया आदि के कारण शिकार और पीड़ादायक हो जाता है । लगातार दौड़ने से प्यास लगने पर कम से कम स्वच्छ और ठंडा पानी

पीने के लिए मिले तो कितना अच्छा होता, लेकिन यहाँ देखो तो पहाड़ से निकले हुए पानी के सोते; धूप से तपकर उसका पानी कुनकुना हुआ है; और आसपास के पेड़ के पके और सड़े पत्तों के उसमें गिरने से पानी खारा हो गया है। पानी के बारे में जो रोना है वही खाने के बारे में। शिकार की धुन में अन्न अच्छी तरह पकाकर खाने का किसी को सूझता हो तब ना ! मारे हुए जानवरों का माँस लेकर लोहे की सलाई पर भूँजना और बस ! वैसे हीं खाना। न नमक मिर्च न तेल-मसाला। ऐसा कच्चा भुँजा माँस रोज रोज खाकर किसकी भूख मिट सकती है ? विविध मिष्टान्न खाने की आदत जिस जी को हुई है उसकी तृप्ति कैसे हो सकती है ? अच्छा, जो कुछ निगलना पड़ता है वह भी समय पर मिले तो भी ठीक। शिकार की धुन में कभी कभी टुकड़े खाने की बारी आती है। उसमें घोड़े पर बैठकर सतत दौड़ लगाने से माढव्य के शरीर की हड्डी हड्डी दुख रही है। रात को बिछौने पर लेटते ही नस नस ठनकने लगती है। इसलिए रात की नींद से थके हुए, दुखी शरीर को विश्राम भी नहीं मिलता। भोर को अगर आँख भी लग जाती है तो जल्दी उठे हुए शिकारी और उनके जंगली कुत्ते ऐसा कुछ चिल्लाते हैं और गड़बड़ी मचाते हैं कि उस आवाज से मरा हुआ भी चौंककर उठकर बैठेगा ! इस परिस्थिति में क्या आदमी जिन्दा भी रह सकता है ?

एक अंग्रेजी कवि के शब्दों में जरा फर्क करके कहना हो तो माढव्य की शिकायत इस प्रकार की है;

नित (शरीर के) रोंगटे खड़े होना ही जीवन है क्या ?
खाने पीने, नींद लेने भी समय न मिले तो क्या ?[1]

दुष्यन्त माढव्य को साथ न लाता, या शिकार का यह पाजीपन कम से कम एक दिन के लिए रोकता तो भी माढव्य को उतना ही आराम मिलता। माढव्य के मन की इस अवस्था में संयोग से दुष्यंत की शकुंतला से भेंट होकर नायिका की ओर आकृष्ट हो जाने की घटना माढव्य को अत्यंत पीड़ादायक लगना स्वाभाविक है क्योंकि दुष्यन्त अब उस लड़की के पीछे लगेगा। अर्थात् कभी न कभी शिकार के काम रुक जायेंगे ऐसी जो माढव्य की आशा थी वह चकनाचूर हो गयी। शिकार का रोकना दूर रहा। उल्टे दुष्यन्त ने आश्रम के थोड़ी दूरी पर डेरा डाल कर घर ही बसाया है। यह ऐसा ही हुआ है जैसे पहले ही करेला फिर उसमें नीम चढ़ा।

माढव्य की सहनशीलता की हद हो गयी है। कितना सहन करें, और कितनी

---

१. लाँग फेलो की मूल पंक्तियाँ इस प्रकार की हैं—

What is this life if full of care ?
We have no time to stand and stare.

देर तक सहे ? दुष्यन्त का बड़ा विरोध करने का उसने निश्चय किया है। दुष्यन्त को आते हुए देखकर वह अष्टांग वक्र करके खड़ा रहता है। बेचारे की यह दुर्दशा देखकर तो दुष्यन्त की अक्ल पर प्रकाश पड़ना चाहिए था। हमेशा की तरह झुककर नमस्कार करके दुष्यन्त का स्वागत करने की ताकत उसके शरीर में बाकी नहीं है। दुष्यन्त के आ जाने पर वह केवल मुख से स्वागत शब्द का उच्चारण करता है। दुष्यन्त के पूछने पर कि इस तरह की हालत क्यों हो गयी, माढव्य चिढ़कर कहता है; 'नदी के किनारे का बाँस अगर तीन जगह कूबड़ की तरह झुक गया हो तो कहना चाहिए कि वैसा करने में उसे आनन्द होता है या नदी के प्रवाह से उसे झुकना पड़ता है ? 'ठीक तरह खड़े रहकर शरीर हिलाने की शक्ति भी माढव्य में नहीं है, उसका कारण बाहरी है। दुष्यन्त के शिकार के शौक का ही यह परिमाण है। दुष्यन्त का शिकार खेलना बन्द कराने के हेतु माढव्य उसके साथ झगड़ता है; वादविवाद करता है; शिकायत करता है; उसके मन परिवर्तन करने के लिए जो जो सम्भव था वह करके अन्त में हाथ जोड़कर बिनती भी करता है। दुष्यन्त मित्र होने पर भी राजा होने के कारण माढव्य को इस प्रकार की बिनती करनी पड़ती है। दुष्यन्त के सेनापति के आगे राम कहानी कहने की बिलकुल जरूरत नहीं थी। सेनापति जब ढोंग से मृगया का महत् वर्णन करने लगता है और दुष्यन्त का गौरव गान करता है तब माढव्य उस पर टूट पड़ता है और कहता है, 'तेरे उत्साह को आग लगे। राजा की अक्ल अब ठिकाने आ गयी है। तुझे अगर शिकार के लिए जाना है तो जा। फिर वन में घूमते समय मनुष्य की नाक कुतरकर खाने के लिए लालची बने हुए एकाध रीछ के मुँह में अनायास ही तू जाकर गिरेगा।'

माढव्य की दुर्दशा के कारण करुणा उत्पन्न होकर नहीं लेकिन शकुन्तला से परिचय बढ़ाने के लिए दुष्यन्त शिकार की योजना रद्द करता है। जो भी हो, शिकार खेलना बन्द हो जाने से माढव्य खुश है। आगे चलकर जब आश्रम के पास अकेले रहने का निर्णय दुष्यन्त लेता है और सभी सेना माढव्य के साथ वापस भेजने का तय करता है तब यह देखकर माढव्य को आनन्द और अभिमान होता है कि वन की धकापेली को छोड़कर राजधानी के सुखी वातावरण में वापस जाने को मिल रहा है।

लेकिन इसका मतलब यह न निकाला जाय कि माढव्य खुद के आराम के सामने दुष्यन्त की बिलकुल परवाह नहीं करता। दुष्यन्त के शकुन्तला के पीछे लग जाने पर माढव्य को जो क्रोध आता है उसका एक कारण यह है कि खुद का सुखी जीवन नष्ट हुआ था। फिर भी उसके लिए दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि शकुन्तला के बारे में उसने सुना था कि वह 'तापसकन्या' अर्थात् ब्राह्मण ऋषि की लड़की है। माढव्य को यह जँचता नहीं कि दुष्यन्त ब्राह्मण कन्या को विवाह बंधन में फँसाकर

प्रतिलोम विवाह करे और धर्म नीति से खिलाफ बर्ताव करे । इसके अलावा दुष्यन्त को शकुन्तला से जो प्रेम है वह क्षणिक आकर्षण होने का भी डर माढव्य को था । मीठा खजूर खाकर ऊबने से आदमी को खट्टी इमली खाने की इच्छा होती है; वैसे अन्तःपुर के अनेक स्त्री-रत्नों का उपभोग लेने पर दुष्यन्त को निसर्ग के खुले वातावरण में पली सीधी-सादी आश्रम-बालिका का मोह निर्माण हुआ होगा । अगर यह सच होता तो एक निष्पाप बालिका का जीवन नाश करने का कितना बड़ा नैतिक गुनाह दुष्यन्त के हाथों हो जाता । माढव्य दुष्यन्त का जो मजाक करता है, उसका बड़े जोर से विरोध करता है, उसका वास्तविक कारण यही है और इसमें माढव्य का दुष्यन्त से जो अपना पन है, प्रकट होता है । माढव्य के विरोध के मूल में यही चिन्ता है कि अपने मित्र के हाथों से प्रमाद न हो जाय और सामाजिक या धार्मिक नीति का उल्लंघन भी उसके हाथों न हो ।

दुष्यन्त जब उसे बताता है कि शकुन्तला राजर्षि और अप्सरा की कन्या है, और दुष्यन्त का उद्देश्य मन बहलाव का न होकर शकुन्तला से धर्म विधि से विवाह करके रानी बनाना है, तब माढव्य अपने विरोधी आक्षेपों को वापस लेता है । इतना ही नहीं तो शकुन्तला का रसपूर्ण वर्णन करने के लिए दुष्यन्त को उत्तेजन देता है। उसका सौंदर्य अद्वितीय है ऐसा दुष्यन्त जैसे रसिक के मुँह से सुनने पर दुष्यन्त का आकर्षण अटल है ऐसा माढव्य का विश्वास होता है । प्रेम में कितनी प्रगति हो गयी है इसकी वह सहानुभूति से पूछताछ करता है । दुष्यन्त जब कहता है कि तापस कन्याएँ स्वभावतः लज्जाशील होती हैं, तब उसे धीरज देने के लिए माढव्य मजाक से कहता है । 'तो क्या हुआ ? क्या तुम्हारी यह अपेक्षा है कि आँखें मिलीं न मिलीं तो वह आकर तुम्हारी गोद में बैठे ¡' लेकिन अब माढव्य को लगता है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम सम्पादन में कमी न रखे । वह कहता है, 'तुमने तपोवन को ही उपवन बनाया है ।' माढव्य इस प्रकार दुष्यन्त को आशीर्वाद देता है कि प्रेम प्रवास में उसे सफलता मिले और प्रवास बढ़े तो 'साथ में नाश्ता भी काफी ले लें !' इस प्रकार की हँसोड़ लेकिन मैत्री की सूचना भी देता है ।

शिकार की तकलीफ से बचकर आराम से घर जाने के लिए मिलता हुआ देखकर माढव्य फूला न समाया है । फिर भी इसे भी ध्यान में रखना चाहिए कि दुष्यंत की मैत्री की भावना, दुष्यंत के संबंध में उसका आदर और स्नेह मन से है । शकुंतला को देखकर उसकी ओर आकृष्ट दुष्यंत माढव्य से कहता है, 'माढव्य तेरी आँखें संतुष्ट हो जाने का मौका अभी तक आया ही नहीं । जो देखना चाहिए था, उसे अभी तक तुमने देखा भी नहीं है ।' माढव्य झट से उत्तर देता है, 'क्यों ? आप हैं ना मेरे सामने ?' दुष्यंत के भव्य और सुन्दर व्यक्तित्व की कितनी सहज और हृद्य सूचना है । माढव्य की

इस अपनेपन की भावना को सभी जानते होंगे क्योंकि राजमाता उसे दुष्यंत का छोटा भाई मानती है। दुष्यंत उसे सेना के साथ राजधानी को भेजता है, वह भी युवराज की प्रतिष्ठा के साथ। माढव्य भी दुष्यंत द्वारा बतायी गयी हर बात मानने के लिए तैयार है। सेना लेकर वह चुपचाप राजधानी को लौटता है, दुष्यंत शकुंतला का चित्र खींच रहा है। इतने में रानी वसुमति का आगमन मालूम हो जाता है। माढव्य झटसे चित्रफलक लेकर भाग जाता है। वह दुष्यंत का संदेश लेकर हँसपदिका की ओर आता है। ये सभी अनुभव उसे सुखकर लगते हैं। सो बात नहीं। फिर भी दुष्यंत के लिए वह सब कुछ करने के लिए तैयार है। विरह के विकट समय में वह दुष्यंत का साथ देता है। उसे शकुंतला के बारे में बातचीत करने के लिए उत्तेजन देता है। उसका चित्र पूर्ण करने के लिए कहता है। जो भी हो माढव्य दुष्यंत के मन पर जो दुःख का बोझ है वह हल्का हो जाय और उसका मन अन्यत्र लग जाए इसके लिए प्रयत्न करता है। दुष्यंत असह्य दुःख से व्याकुल होने लगता है तब उसे वह कहता है, 'उच्च श्रेणी के लोग क्या इस प्रकार शोक करते हैं ? झंझा से कहीं पर्वत काँपते नहीं।' वह दुष्यंत को केवल उपदेश ही नहीं देता, वह धीरज रखे, आशा न छोड़ दे, इस प्रकार की बातें करके उसको सांत्वना भी देता है और उसका ढाढ़स बाँधने का प्रयत्न करता है। वह कहता है। 'मछली द्वारा निगली गयी अंगूठी फिर से हाथ लग जायेगी ऐसा स्वप्न में भी लगता था क्या ? लेकिन वह मिल ही गयी। फिर ऐसा क्यों कहा जाय कि शकुंतला का पता नहीं लगेगा ?' माढव्य व्यवहार ज्ञान भी प्रकट करता है। 'जिस लड़की का ब्याह हो चुका है उसके माँ-बाप को क्या ऐसा लग सकता है कि लड़की अपने पति से दूर रहे ? शकुंतला के माता पिता उसका और दुष्यंत का दुख देखते हुए कभी चुप नहीं बैठेंगे।'

लेकिन विनोद की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा ही मानना पड़ता है कि माढव्य मूर्ख है। दुष्यंत के विरह दुःख में वह उसे सांत्वना देकर धीरज देता है फिर भी उसका मूल स्वभाव उसमें झाँके बगैर नहीं रहता। उसे ऐसा लगता है कि दुष्यंत शोक से पागल हो गया है। चित्र के भ्रमर को उद्देश्य कर जब दुष्यंत भावावेग से बातें करने लगता है तब माढव्य, 'वह भ्रम में बक रहा है' इतना ही कहकर रुकता नहीं। उसे भी आश्चर्य होता है कि चित्र के भ्रमर को वास्तविक भ्रमर मान कर खुद भी दुष्यंत के साथ कैसे बह गया। दुष्यंत विरहाग्नि से जल रहा है तो इधर माढव्य के पेट में भी आग लगी है। जब दुष्यंत चित्र की पृष्ठभूमि किस प्रकार रँगायी जाय इसका भावपूर्ण वर्णन कर रहा है, तब माढव्य, अपने से ही क्यों न हो, कहता है कि चित्र अच्छी तरह पूरा करना हो तो लंबी दाढ़ी वाले तपस्वी का चित्र खींचकर चित्र फलक को भर देना चाहिए।

प्रमदवन के इस प्रसंग में यद्यपि माढव्य ने अपनी मूर्खता अपने पास रखी है फिर भी प्रारंभ के प्रवेश में उसने उसका प्रदर्शन किया है। संयोग से जिस शकुंतला से भेंट हुई थी उसके मिलन के लिए दुष्यंत इस सोच में है कि किस युक्ति की योजना की जाय। वह माढव्य से कहता है, 'मुझे तुम्हारी सलाह चाहिए।' माढव्य को लगता है कि अपने से जो सलाह पूछी जा रही है वह खाने पीने से संबंधित होगी। इसके अलावा क्या होगा? वह बड़े उत्साह से आगे आता है। दुष्यंत जब उसे अपना प्रश्न स्पष्ट करके बताता है तब माढव्य के ध्यान में आता है कि दुष्यंत को आश्रम में फिर से जाने के लिए कोई कारण चाहिए। माढव्य कहता है, 'कर इकट्ठा करने वाले अधिकारी बनकर जाओ ना।' इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि माढव्य की यह हास्यकर सूचना विफल है। लेकिन थोड़ी ही देर में आश्रम के तापस दुष्यंत की ओर आते हैं और यह प्रार्थना करते हैं कि यज्ञ रक्षण के लिए वे आश्रम में आकर रहें। दुष्यंत को जिस कारण की आवश्यकता थी वह उसे इस प्रकार अचानक मिल जाता है। लेकिन इसी समय राजमाता का संदेश आता है कि व्रत समाप्ति का भोजन है और उसके लिए दुष्यंत बिना भूले घर वापस आ जाय। अब राजा इस दुबिधा में पड़ते हैं कि तपस्वियों की बिनती के अनुसार आश्रम में जायँ या माता की आज्ञा के अनुसार राजधानी को लौटें। उसे कुछ भी नहीं सूझता। वह माढव्य से जब पूछता है तब वह उत्तर देता है, 'त्रिशंकु की तरह बीच ही बीच लटकते रहिए।'

माढव्य की मूर्खता की पूर्ण पहचान दुष्यंत को होगी। कभी कभी माढव्य की मूर्खता हास्यकारक होने पर भी एकाध बार उससे अड़चन पैदा होने की संभावना भी रहती है। माढव्य को इसका ज्ञान नहीं कि किसके सामने किस प्रकार की बातें की जायँ। अंतःपुर में जाकर आश्रम की बातें यदि वह मूर्खता से कहने लगेगा तो रानियों में गलतफहमी निर्माण होकर विचित्र वातावरण उत्पन्न हो जायेगा। माढव्य का यह 'चपल' स्वभाव ध्यान में लेकर ही दुष्यंत उसे शकुंतला के बारे में कुछ पता लगने नहीं देता। माढव्य भी मूर्ख है इसलिए दुष्यंत जो करता है वह सब उसे सत्य लगता है।

माढव्य जैसा मूर्ख है वैसे ही अत्यंत डरपोक भी। आश्रम के अदृश्य राक्षस का नाम सुनते ही वह पसीने से तर हो जाता है। दुष्यंत के शकुंतला के सौंदर्य का खूब वर्णन करने पर माढव्य में उसे देखने का कुतूहल निर्माण होता है। तपस्वियों द्वारा निमंत्रण मिलने से तपोवन के जाने का मौका भी मिला था। दुष्यंत उससे पूछता है कि 'क्या तुम आते हो? माढव्य उत्तर देता है, 'शकुंतला को देखने का कौतूहल पहले उमड़-उमड़कर वह रहा था। लेकिन राक्षस का नाम सुनते ही एक बूँद भी बाकी न रहा।' माढव्य डरपोक तो है ही लेकिन वह बातें करता है शूरता को। दुष्यंत जब उसे राजधानी को वापस भेजता है तब माढव्य उनसे पूछता है 'आपको ऐसा तो नहीं

लगता कि मैं राक्षस से डरकर वापस चला हूँ।' दुष्यंत स्वाभाविक स्मित से कहता है, 'हे ब्राह्मण ! तुम्हारे बारे में मुझे विपरीत कल्पना क्या हो सकती है ?'

माढव्य को अंतःपुर का भी बड़ा डर लगता है। उसके मत से अंतःपुर का अर्थ है कालकूट, या स्वच्छन्द प्राणियों को पकड़ने का जाल। वसुमति का आना सुनते ही माढव्य दुम दबाकर भागता है। हंसपदिका के महल में जाकर दुष्यंत का संदेश देने के लिए वह तैयार नहीं है क्यों कि उसे मालूम है कि एक बार रानी की दासियों द्वारा घिर जाने पर वहाँ से छुटकारा पाना अप्सराओं की चाल में फँसे विरागी के जैसे असंभव है। लेकिन दुष्यंत के हठ के कारण उसे हंसपदिका के महल में जाना पड़ता है। दासी के हाथ से उड़ाया जाने वाला मजाक जैसे वह रोक नहीं पाता वैसे मातलि के हाथ की मार भी वह टाल नहीं सकता।

दुष्यंत ने इस प्रकार का निर्णय लिया है कि इस मूर्ख के सामने अपना प्रेम प्रकट नहीं करना चाहिए। कालिदास ने भी माढव्य की मूर्खता की अपेक्षा उसकी अनुपस्थिति से कथा को आगे बढ़ाया है। माढव्य तीन बार रंगमंच पर आता है और तीन बार जाता है। हर बार उसके जाने से कथावस्तु का कार्य बढ़ता जाता है। अधिकतर माढव्य का मजाक उड़ाया जाता है। लेकिन कालिदास ने इन फजीहतों के प्रसंगों को परदे के पीछे रखा है। वरना हंसपदिका के महल में जाने पर उसकी दासियाँ कैसे उसे घेर लेती हैं, कौन उसकी चोटी को पकड़कर खींचता है तो कौन आहिस्ता से उसे कैसे घूँसे लगाते हैं, यह हास्यकर दृश्य हमें देखने को मिल जाता, और मातलि भी उसे तिरछा पकड़कर, उसका मुंह नीचे करके ईख के पोर की तरह उसे तीन जगह कैसे झुकाता है यह हमें दिखायी देता। कालिदास को इस मूर्ख ब्राह्मण पर करुणा आ जाने से ये प्रसंग प्रत्यक्ष नहीं दिखाये गये हैं। इसीलिए रंगमंच पर यह विचित्र दृश्य नहीं दिखाई देता।

●●●

७. | मैत्रेय

अये ! सर्वकालमित्रं मैत्रेयः प्राप्तः ।

—मृच्छकटिक, १.

अथवा नाहं दरिद्रः यस्य मम
विभवानुगता भार्या, सुखदुःखसुहृद् भवान् ।

—मृच्छकटिक, ३. ७.

मैत्रेय दिखने में बहुत सुन्दर नहीं है। शकार कहता है कि उसका सिर कौवे के पैर जैसा है ! खुद मैत्रेय अपने सिर को ऊंट के घुटने की उपमा देता है । अर्थात् वह असुन्दर ब्राह्मण है ।

लेकिन मैत्रेय अन्य कुछ विदूषकों की तरह न खाली पंड़िताई का स्वाँग रचता है न अर्थहीन बड़प्पन की बातें करता है। अर्थात् जन्म से ब्राह्मण होने के कारण मंत्र पठन, यज्ञ-याग, पशुबन्ध आदि बातें मैत्रेय जानता है। उसकी बातों में इस विशेष वातावरण का रंग चढ़ना स्वाभविक है। वसन्तसेना के चबूतरे पर ऊंघने वाले पहरे दार को देखकर उसे श्रोत्रिय कीं उपमा सूझती है। संस्कृत पढ़ने वाली स्त्री और 'काकली' गाने वाले पुरुष को देखकर उसे हँसी आ जाती है क्योंकि नाक में नयी नथिया ड़ालने पर गाय जिस तरह सूँ सूँ करती है उसी तरह संस्कृत पढ़ने वाली स्त्री रटती रहती है; और कोमल-आवाज में गाने वाला पुरुष, सूखे फूलों की माला पहने हुए और मंत्र जपने वाले बूढ़े पुरोहित की तरह उसे बिलकुल नहीं भाता। वसन्तसेना के महल में घूमते समय मैत्रेय आने पर ही खुश हो जाता है क्योंकि रावण जैसे पराक्रमी राजा को पुष्पक विमान की प्राप्ति के लिए कड़ी तपस्या करनी पड़ी थी, लेकिन मैत्रेय को बिना

परिश्रम के लवाजमा आगे पीछे लेकर वसन्तसेना के स्वर्गतुल्य प्रासाद में अकड़ कर घूमने को मिला है। मंत्र पठन, जपजाप्य आदि ब्रह्म कर्त्तव्य का केवल स्वाँग रचकर ब्राह्मण के बल पर पुष्ट हुए और आलसी बनकर सुखी जीवन के लालची ब्राह्मणों का उड़ाया गया मजाक मैत्रेय के ऊपरी अवलोकन में दिखता है।

रेभिजक का गाना सुनकर रात को घर वापस आने पर चारुदत्त का नौकर पैर धोने के लिए पानी लाता है और सहज मैत्रेय को चारुदत्त के पैर धोने के लिए कहता है। मैत्रेय झट से उछलकर कहता है, 'यह रंडापुत्र सेवक है इसलिए उसका पानी लाना ठीक है। लेकिन मुझ जैसे ब्राह्मण को दूसरे के पैर धोने के लिए यह कहता है, इसका मतलब क्या ?' कुछ भी आता नहीं लेकिन ब्राह्मण्य का गर्व तो पर्याप्त मात्रा में है। इतना ही है कि मैत्रेय अपनी विद्वत्ता का जिस तरह प्रदर्शन नहीं करता उसी तरह ब्राह्मण्य की श्रेष्ठता की आते-जाते डींग भी नहीं हाँकता।

मैत्रेय पेटू है। सूत्रधार घर की व्रत समाप्ति के भोजन का आमंत्रण देने के लिए मैत्रेय से मिलता है। लेकिन मैत्रेय को पहले ही दूसरा आमंत्रण मिल जाने से सूत्रधार को नकार देना पड़ता है। आमंत्रण को नकार देते समय उसे जितना बुरा लगता है उतना, शायद उससे अधिक, दुःख भोजन के लिए आमंत्रण लेने के लिए घूमने की बारी आने के कारण होता है। चारुदत्त का पुराना वैभव याद करके अब की बुरी अवस्था के कारण वह और खिन्न हो जाता है। चारुदत्त के घर में जब समृद्धि थी तब कुशलता से तैयार किए गए मधुर सुवासित पक्वान्नों का ढेर मैत्रेय के आगे रखा जाता था और सामने रखे हुए रंगों के प्यालों को चित्रकार जिस तरह तूलिका से धीरे से स्पर्श करके दूर करता है वैसे ही मैत्रेय नानाविधि पक्वान्नों की थालियों को केवल अंगुली लगाकर दूर करता था। चौराहे पर बैठकर ऊँघते हुए पागुर करने वाले बैल की तरह मैत्रेय को भी बैठने के अलावा दूसरा काम नहीं है। लेकिन अब उसे अपने पेट की व्यवस्था के लिए घूमना पड़ रहा है। वसंतसेना के प्रासाद की समृद्धि देखकर मैत्रेय की आँखों का चौंधिया जाना स्वाभाविक है। लेकिन यह वैभव और यह शोभा देखते हुए मैत्रेय जब रसोईघर के पास आ जाता है तब सच-मुच उसकी लार टपकने लगती है। रसोईघर की वह काम की गड़बड़ी ... काटे हुए पशु की आँत धोते हुए बैठा कसाई का वह बच्चा ... एक ओर लड्डू बाँधने का तो दूसरी ओर अपूप तलने का चला हुआ वह कार्य ... और तेज नाक को लुभाने वाला वह बघार का सलोना और स्वादिष्ट वास ! अहा हा !! वसंतसेना का घर अर्थात् प्रत्यक्ष स्वर्ग है ऐसा मैत्रेय को न लगे तो ही आश्चर्य है।

वसंतसेना की माँ का बड़ा पेट देखकर मैत्रेय कुतूहल से पूछताछ करता है। उसे अलग-अलग दालान दिखाने वाली चेरी कहती है कि माँ को 'चातुर्थिक' अर्थात् हर

चार दिन के बाद बुखार आता है; इसलिए उसकी ऐसी अवस्था हो गयी है। लेकिन मैत्रेय को मन में निश्चित विश्वास है कि यह अत्यंत खाने-पीने का परिणाम है। इसलिए कोमलता का स्वाँग करते हुए मैत्रेय कहता है, 'देवता, चातुर्थिक ताप! इस गरीब ब्राह्मण पर भी तुम कृपादृष्टि रखो ना!' जब वह वसंतसेना के घर में रहता है तब अपने को कोई हाथ पैर धोने के लिए पानी ला दे, आगे आकर खाने-पीने का आग्रह करे, यह दुर्दम्य इच्छा इस ब्राह्मण के मन में निर्माण होती है। लेकिन ऐसी भलाई कोई भी नहीं दिखाता और मैत्रेय की इच्छा मन-ही मन में रह जाती है। वसंतसेना के घर का यह आतिथ्यहीन बर्ताव उसके मन में हमेशा के लिए घर कर रह जाता है। मैत्रेय के इस भोजन प्रेम में लोभी वृत्ति है, इसके शब्द हँसाने वाले हैं, लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि उसमें करुणा भी छिपी है।

मैत्रेय भी अन्य विदूषकों की तरह डरपोक है। रदनिका के शरीर को हाथ लगाने वाले लोगों पर वह गुर्राया, उनके सर तोड़ने की धमकी देता है, या कबूतरों पर लाठी उठाकर दौड़ने का शौर्य वह दिखाता है फिर भी मैत्रेय की यह शूरता थोथी है। यह सदन की ओट में रहकर भूँकने वाले कुत्ते का शौर्य है। इससे इसका डरपोकपन छिपता नहीं। बलि रखने के लिए अंधेरे में जाने की उसकी हिम्मत नहीं है। साथ में दिया चाहिए और रदनिका भी। शकार के पंजे में फँसी वसंतसेना चारुदत्त के घर का आसरा लेती हैं। वह जब वापस जाने लगती है तब उसे पहुँचाने के लिए चारुदत्त मैत्रेय से कहता है। मैत्रेय चारुदत्त से कहता है, 'तुम ही जाओ उसके साथ। फिर कलहंसी के पीछे से जाने वाले राजहंस की तरह शोभा आयेगा।' डर की भावना मैत्रेय के अंतःकरण में दूरतक जाकर बसी है। शाम के समय वेश्या, विट, चेट और राजा की मरजी के लोगों से भरे हुए रास्ते पर, कालसर्प के मुँह में अटके हुए चूहे की तरह अपनी अवस्था हो जायेगी और चौराहे पर लाकर रखे गये बलि पर कुत्ते जैसे टूट पड़ते हैं वैसे ही सभी लोग अपने पर टूट पड़ेंगे ऐसा डर मैत्रेय को लगता है।

मैत्रेय मूर्ख है, और यह मूर्खता उसकी डरपोकपन की तरह स्पष्ट है। वसंतसेना के आगमन का संदेशा लेकर चेट आता है और मैत्रेय दरवाजा खोलकर उसे आने का कारण पूछता है। वह कहता है, 'छरे, एषा सा— (अरे, यही तो) मैत्रेय चकराकर पूछता है, 'का एषा का?' (कौन? यह कौन?) चेट पहले की तरह उत्तर देता है। मैत्रेय उसका मजाक उड़ाने के लिए कहता है, 'दमाग्रस्त बूढ़े भिखारी की तरह 'सा-सा' क्या करता है?' चेट भी कम नहीं है। वह कहता है, 'लोभी कौवे की तरह तू भी 'का-का' क्या करने लगा?' इस तरह मैत्रेय जो चेटक का मजाक करता है वही उसके गले पड़ता है। बाद में वसंतसेना के आगमन के बारे में सीधे न कहते हुए चेट मैत्रेय के सामने दो पहेलियाँ रखता है: नगर की रक्षा कौन करता है? आम किस ऋतु में

बौराते हैं ? इन पहेलियों का उत्तर ढूँढ़ने के लिए मैत्रेय को चारुदत्त की ओर दौड़ना पड़ता है। लेकिन 'सेना' और 'वसन्त' ये उत्तर मिलने पर भी मैत्रेय के ध्यान में यह नहीं आता कि उन्हें किस प्रकार जोड़ा जाय। चेटक उसे ये दो 'पद' जोड़ने के लिए कहता है तो मैत्रेय अपने पैर जोड़ता है। चेट पदों को घुमाने के लिए कहता है तो मैत्रेय अपने पैर धुमाकर खुद के चारों ओर चक्कर काटता है। अंत में चेट जब 'पद' का अर्थ शब्द कहकर स्पष्ट करता है तब कहीं जाकर मैत्रेय के दिमाग पर प्रकाश पड़ता है कि 'वसंतसेना' के आने के बारे में बना रहा है। यहाँ तो अभावित विनोद निर्माण हुआ हैं उसका स्तर सामान्य हैं फिर भी उससे मैत्रेय के दिमाग का स्तर मालूम होना कठिन नहीं है। ऐसा लगता है कि बातों की या प्रसंगों की सूक्ष्मता समझ लेने की पात्रता मैत्रेय में नहीं है। मेघगर्जना होते ही वसंतसेना डर कर चारुदत्त के गले लग जाती है। उस अभिनव शरीरस्पर्श से चारुदत्त आनन्दित होता है और मेघ को धन्यवाद देता है। लेकिन मैत्रेय मूर्खता से वसंतसेना को डराने के कारण मेघ को ही गाली देने लगता है।

बातचीत की तो यह रही। मैत्रेय की मूर्खता उसकी कृति में भी उतरी है। इसके दो बड़े सबूत नाटक में हैं। वसंतसेना के जो अलंकार चारुदत्त के पास धरोहर के रूप में थे वे ठीक शर्विलक के हाथ में आने के लिए जिम्मेदार मैत्रेय ही है। पहले से ही वह अलंकार सम्हालकर रखने के लिए राजी नहीं हैं। यह भार लेना मतलब रात को नींद को भगा देना है ऐसा सोचकर, अलंकार अगर कोई चोर चुरा ले जाय तो छुटकारा मिल जायेगा ऐसा स्पष्ट शब्द मैत्रेय कहता है। मैत्रेय अलंकार छाती से लगा कर सोता है और नींद में बड़बड़ाने लगता है। इसलिए शर्विलक को अलंकारों का पता लगना आसान हो जाता है। नींद में चारुदत्त ही सामने है ऐसा सोचकर मैत्रेय अलंकार सामने रखता है और ठीक शर्विलक के हाथ में देता है। बाद में न्यायालय में शकार के साथ झगड़ा करते समय ये ही अलंकार अनजाने में जमीन पर गिर जाते हैं तब उसकी मूर्खता की चरमसीमा हो जाती है। जिन अलंकारों की जरूरत थी वह सहज सामने आकर उस सबूत के चारुदत्त के गले लगा हुआ कानून का फन्दा और कस जाता है।

इसमें शक नहीं कि मैत्रेय की इन दो बड़ी गलतियों के कारण कथानक को गति मिलती है। विदूषक के पागलपन का उपयोग कथा विकास के लिए कर लेने की कालिदास की पद्धति शूद्रक के नाटक में नजर आती है। मैत्रेय की मूर्खता शूद्रक ने कोमलतार से चित्रित की है इसलिए उसमें भड़कीला रंग नहीं दिखाता। फिर भी मैत्रेय का चरित्र चित्रण इतने पर ही रुक जाता तो वह निर्जीव बन जाता। शूद्रक ने

मैत्रेय के चित्र में और कुछ रंगों को भर दिया है । उनको देखे बिना मैत्रेय का वास्तविक दर्शन नहीं होगा ।

मैत्रेय मूर्ख है लेकिन उसकी दृष्टि सूक्ष्म है । और जो जो उसने देखा है उस अनुभव से जो अक्ल मिली है वह उसके दिमाग में ठूँस ठूँस कर भरी हुई है । उसी के साथ जो सामने आता है उसके बारे में स्पष्ट कहने की उसकी आदत है । वैसे कहा जाय तो मैत्रेय की जीभ हमेशा ही चलती रहती है और उसके क्षेत्र में आने वाली हर चीज पर उसका आघात होता ही रहता है । इस सम्बन्ध में मैत्रेय स दो प्रिय विषय हैं अर्थात् वे हैं सम्पत्ति और गणिका ।

मैत्रेय को सम्पत्ति से घृणा है । एक समय वैभव में रहने वाले चारुदत्त को दारिद्र ने आकर उसका और उसके आसपास के लोगों का जीवन कुंठित किया, गरीबी की आँच लग गयी, शायद इसलिए मैत्रेय को सम्पत्ति के घृणा हो गयी होगी । लेकिन गरीबी ने चारुदत्त के हृदय पर आघात किया है, उसके जीबन को कटु बनाया है । वैसा मैत्रेय का नहीं हुआ है । चारुदत्त की तरह न वह पुराने वैभव की स्मृति से दुःख करता है न काल परिवर्तन हो जाने पर मुंह मोड़ लेने वाले समाज का हिसाब और उसकी स्वर्थी निष्ठुरता देखकर व्याकुल होता है । ऐसे कैसा कहा जा सकता है कि वैभव लुप्त होकर बुरी हालत हो जाने का उसे दुःख नहीं । लेकिन चारुदत्त को जिस कटुता का अनुभव आता है उस्र बार बार देखकर मैत्रेय का मन अधिक गहराई तक पहुँचा है । इस अवलोकन में मानवी जीवन की गरीबी के एक बड़े दुःख की ओर शुद्ध मन से और हेयता से देखने की दृष्टि प्रकट हुई है । ठारुदत्त अपने दुःख से व्यकुल होता है । उल्ट मैत्रेय सम्पत्ति का उमहास करता है । सम्पत्ति 'कल्यवर्त' है अर्थात् सुबह के नाश्ते के लिए भूउ कम पड़ने वाली है और नाशवान है इस प्रकार बताता है । जंगल में घूमने वाले ग्वाल बाल जिस तरह जहाँ भिड़ नहीं कारेगी वहाँ घूमते जाते हैं उसी तरह सम्पत्ति भीं जहाँ कोई उसे नहीं खायेगा, जहाँ उसका उप भोग लेने के लिए कोई समजदार आदरी नहीं होगा ठोक ऐसी जगह ही वह जाती है । इस तात्त्विक भूकिा से मैत्रेय पैसे से मापित जगद् व्यवहार को देखता है तभी उसकी वृत्ति में कोमलता नहीं है, उल्टे एक प्रकार की बेफिक्री की तुच्छता आयी है । इतना विशाल वैभव वर में होते हुए वसन्त सेना उसका स्वागत नहीं करती, मेहमानदारी के रूप में उसके सामने पानी का प्याला भी रखा नहीं जाता; इसके मैत्रेय का आपेसे बाहर होना स्वाभाविक है । गरीब कम से कम शब्दों से उदर होते हैं । मन की कंजूसीं बृत्ति अमीरों के अलावा और कहाँ मिलेगी ? इसलिए वसन्त सेना ओर उसके परिवार मैत्रेय को बिलकुल सहानुभूति नहीं है ।

वसन्तसेना के प्रासाद के वैभव से उसकी आँखें चकाचौंध हुई हैं फिर भी वह लुभा नहीं गया। कीमती रेशमी वस्त्र पहने हुए, अलंकारों से सजे हुए वसन्तसेना के भाई को देखकर मैत्रेय मानता है कि पूर्व जन्म के पुण्य के सिवा, तपस्या के बिना, वसन्तसेना के भाई का जन्म मिलना असम्भव है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इससे उसके साथ रहने का लाभ मैत्रेय को छूट गया है। स्मशान में खिले हुए फूल क्या कोई तोड़ लेता है? वसन्तसेना के ये भाई दूर के ढोल सुहावने से हैं। वसन्तसेना की माँ का—जिसे अमीरी के कारण बेडौल मुटापा प्राप्त है—मैत्रेय 'कपर्दक-डाकिनी' अर्थात् क्षुद्रडाकिन का विशेषण देता है। वसन्तसेना की माँ का मजाक करते समय मैत्रेय का मुँह स्वच्छंद रूप से चलने लगता है। उसकी अति विशाल तोंद देखकर पास की दासी से पूछता है कि 'जिस तरह महादेव की पिण्डी स्थापन करके फिर मंदिर की दीवारें खड़ी की जाती हैं क्या उसी तरह पहले इन्हें कमरे के अन्दर रखकर फिर दरवाजे तैयार किये गये?' मैत्रेय का यह मजाक अच्छा न लगने से दासी उससे कहती है कि 'माँ की तबियत ठीक नहीं हैं, बीमारी के कारण उनकी ऐसी अवस्था हो गयी है।' मैत्रेय यह सुनकर इतना ही कहता है, 'इसके बाद मर जाने पर इसके शरीर से कम से कम एक हजार गीदड़ों का पेट भर जायेगा।'

मैत्रेय को इस बात का आश्चर्य होता है कि वसन्तसेना के यहाँ इतनी सम्पत्ति कहाँ से आ गयी? उसे पहले लगता है कि समुन्दर पर उनका बड़ा व्यापार चलता होगा। लेकिन झट से सयानेपन का स्वाँग करके अपनी गलती को ठीक करते हुए कहता है, 'पागल की तरह मैं क्या सोच रहा हूँ! मदन रूपी समुन्दर में प्रेम रूपी निर्मल जल पर तैरने वाले स्तन, जघन और नितम्ब ये ही तुम्हारे मनोहर जहाज है।'

सम्पत्ति के साथ गणिका का और वेश्या जीवन का इस प्रकार मजाक करते समय मैत्रेय सौम्य टीका या सभ्यताओं की सीमाओं को मानता नहीं। लेकिन स्पष्ट वक्तृत्व तो मैत्रेय का स्वभाव धर्म है 'गणिका जूते के अन्दर घुसा हुआ कंकड़ है। निकालते समय भी चुभता ही है।' इस प्रकार का मैत्रेय का मत हो गया है। एक बार वसन्तसेना के घर का अनुभव खुद लेने पर और उसके चोरी हो गये अलंकारों के बदले चारुदत्त द्वारा भेजी गयी अमूल्य रत्नमाला निश्चिन्त होकर रख लेने की उसकी लोभी वृत्ति देखकर मैत्रेय का उपर्युक्त मत और दृढ़ हो जाता है। मैत्रेय जब कभी मौका मिलता है चारुदत्त से कहते रहता है कि गणिका का साथ छोड़ दे।

अचरज की बात यह है कि चारुदत्त वसन्तसेना से मन से प्रेम करता है, यह देखकर भी, और उसके स्वभाव के अन्य पहलू देखने पर भी मैत्रेय का गणिका के सम्बन्ध में जो मत था उसमें अन्तर नहीं आता। वसन्तसेना गाड़ी में बैठकर आती है। उसे उतार लेने के लिए चारुदत्त मैत्रेय से कहता है। मैत्रेय चिढ़कर कहता है,

'क्या इसके पैर किसी ने बाँध रखे हैं जो उससे अपने आप उतरते नहीं बनता ?' बाहर तूफान आया है। जोरों की बारिश हो रही है। ऐसी अवस्था में घर आयी हुई वसन्त-सेना को रहने का आग्रह करना यह केवल मेहमानदारी की दृष्टि से ही नहीं बल्कि केवल मानवता की दृष्टि से भी ठीक था। क्या मैत्रेय इतना भी नहीं समझता होगा ? लेकिन औद्धत्य से पूछता है, 'आज रात को यहीं सोने का आप का इरादा दिखायी देता है।'

मैत्रेय के इस मुँहफट, स्त्रीदाक्षिण्यविरहित और बेमुरौवत, अभ्यास कथन का अर्थ यह नहीं कि उसके मन में वैयक्तिक या निजी मनमुटाव है। साधरणतः उसका गणिका के सम्बन्ध में मत ही अलग है। बातों-बातों में उसने अपना सिद्धान्त इस प्रकार कहा है, 'बिना मूल की बढ़ने वाली कमल-लता, न ठगाने वाले व्यापारी, सोना न चुराने वाला सुनार, बिना झगड़े की बस्ती और लोभरहित गणिका का इस संसार में मिलना असंसव है।'

सम्पत्ति और गणिका के बारे में मैत्रेय थोड़ासा चिढ़कर बोलता है, फिर भी उसकी आलोचना को अनुभव का सहारा प्राप्त है और इसे भी न भूलना चाहिए कि मजाक करने की उसकी स्वच्छन्द वृत्ति है। वैसे कहा जाय तो मैत्रेय का अवलोकन इन दो विषयों के आप-पास ही रहा है फिर भी उसे विषय की सीमा नहीं है। उसके सामने आने वाले हर प्रसंग, व्यक्ति, वस्तुओं की असंगति या कमी पर उसकी मार्मिक और मर्मभेदक मजाक करने वाली दृष्टि पड़ती ही है। उसकी नजर से या चिन्तन से कुछ भी बचना संभव नहीं। एक दूसरे को झुककर नमस्कार करने वाले चारुदत्त और वसन्तसेना को देखकर वायु से झुकने वाली धान की बाल की उपमा देता है, या रास्ते पर दोनों के चलते हुए दृश्य की कल्पना करके ठुमकती चलती हुई कलहंसी के पीछे अलसाकर चलते हुए राजहंस को याद करता है, और इस प्रकार दोनों का भी स्वच्छंद मजाक उड़ाता है। यह भी ध्यान में लेने योग्य बात है कि मजाक उड़ाते समय वह खुद को भी उससे अलग नहीं रखता। मैत्रेय ने मजाक उड़ाते समय जिन उपमाओं का उपयोग किया है उनमें पशु, पंछी, प्राणी और सभी श्रेणी के लोग आ गये हैं। मिट्टी के ढेले से लेकर स्वर्ग तक, फूल से लेकर तारों तक, जड़ सृष्टि से लेकर चेतन मानव और प्राणियों से लेकर देवता आदि तक सभी बातों पर उसकी स्वच्छंद नजर घूम चुकी है। इस अवलोकन से खुले दिल का विनोद या तेज उपहास का प्रकाश चमका है।

मैत्रेव जीवन का विनोदी भाष्यकार है। मैत्रेय की विदूषकी मूर्ति नाटक में सभी ओर एकाध सूत्र की तरह घूमती हुई परिहास, श्लेष, तीक्ष्ण आलोचना और व्यवहारी सूज्ञता के रंगबिरंगे फव्वारे प्रसंगानुसार उड़ाती है। मैत्रेय यह केवल अपनी ही हंसी उड़ाने वाला बेशधारी विदूषक नहीं है। उसके ऊबड़-खाबड़ सिर में और मूर्ख लगने

वाले भेजे में अत्यंत सूझता के झरने हैं। यह सूझता जो विदूषक के पास है पढ़कर नहीं आती, ग्रंथों का अभ्यास करके नहीं मिलती, बल्कि जो संसार के धुक्कमधुक्का के व्यवहार में आँख, कान और हृदय खुला रखकर कण-कण से इकट्ठा करनी पड़ती है। मैत्रेय मूर्खता करता है, आइने का प्रतिबिंब जिस तरह उलटा-सीधा होता है उसी तरह मैत्रेय करने जाता है लेकिन होता है कुछ और ही। मजाक करने के लिए भी समय देखा जाता है यह उसका ज्ञान व्यवहार में नहीं आता और वह वसंतसेना का अकारण ही मजाक उड़ाता है, उसके हृदय को छूनेवाली बातें करता है। यह सब सत्य है। लेकिन मैत्रेय की बातों में दार्शनिक की गहराई है, सुजान द्रष्टा की व्यापकता है, अनुभवी सूझता का मर्म है, जानबूझ कर किसी को दुःख देने का नटखटपन या मनमुटाव नहीं जिसे किस प्रकार भुलाया जा सकता है ? मैत्रेय का बाह्य वेश 'भेंडा' है फिर भी 'अन्दर से नारद' है। हास्यकर होकर भी सभी बातों का मजाक उड़ाने वाले शेक्सपियर के टचस्टोन् की तरह—

'... ... अपने सिरमें
... ... अकल्पित ज्ञान ठूँसा है
उसने अनुभव से ... ...'[1]

ऊपर से मूर्ख दिखायी देता है लेकिन अन्दर से असाधारण सूझता रखना किसको असंगत लगेगा ? लेकिन यह असंगति मैत्रेय जैसे जीवन के विनोदी भाष्यकार का प्राण है क्योंकि असंगति ही विनोद का मूल है।

मैत्रेय में इस प्रकार की असंगति होने पर भी उसके स्वभाव में एक संगति है। वह स्पष्ट रूप से, अबाधित प्रकट हुई है। वह है उसका चारुदत्त से प्रेम। मैत्रेय का यह मित्र-प्रेम बेजोड़ है। चारुदत्त की गरीबी के कारण मैत्रेय के प्रेम को गहरी सहानुभूति का साथ मिलने से वह प्रेम अधिक उमड़ पड़ा है। चारुदत्त का वैभव नष्ट हो जाने से अपनी भूख की व्यवस्था कहीं अन्यत्र करनी पड़ती है फिर भी मैत्रेय ओलेती की की ओर आने वाले कबूतर की तरह ईमानदारी से हररोज घर वापस आता है। संसार चाहे जैसे बर्ताव करे, मैत्रेय चारुदत्त को भूलने वाला नहीं है। चारुदत्त के दुःखी मन को आनन्दित करने का उसका प्रयत्न सतत चल रहा है। वसंतसेना का मैत्रेय को विश्वास नहीं, वसंतसेना का मुंह देखने के लिए वह राजी नहीं, फिर भी चारुदत्त के काम बताने

---

1. "... ... in his brain
... ... he hath strange places cramm'd
With diservation ... ..."

—As You Like It.

पर वसंतसेना के अलंकार वापस करने उसके घर जाने के लिए मैत्रेय बिना किसी विरोध के तैयार हो जाता है। चारुदत्त जैसे मन से शुद्ध और वृत्ति से कर्ण जैसे उदार होने वाले सज्जन पर गरीबी की आपत्ति आ जाय इसका उसे बहुत दुःख होता है और सात्त्विक क्रोध भी आता है। इस आवेग में वह ऐसे कटु वचन भी कहता है कि, 'देवता की पूजा करके किसका कल्याण हुआ है ?' ऐसी वार्ता सुनते ही कि हत्या के अभियोग में चारुदत्त को न्यायासन के सामने लाया गया है, वह आधे रास्ते से झट से उस ओर दौड़ता जाता है। वहाँ चला–हुआ साक्षी–सबूत का तमाशा देखकर जैसा उसे सात्त्विक क्रोध आता है वैसे उसका भोला अन्तःकरण उमड़कर आता है। न्यायसभा से वह पूछता है :

'ऐ सज्जनों ! बस्ती निर्माण करके, :विहार, आराम, मंदिर, तालाब, कुएँ खोदकर और यज्ञस्तंभ खड़े करके जिसने इस उज्जयिनी नगरी की शोभा बढ़ायी वह आज गरीब हो जाने से ऐसा तुम कैसे सोच सकते हो कि क्षुद्र अलंकार के लोभ से वह ऐसा अकार्य करेगा।————पत्ते फटने के डरसे जो लता के फूल भी नहीं तोड़ सकता वह मेरा प्रिय मित्र इहपर लोक में ऐसा अमंगल कृत्य कैसे कर सकता है ?'

मैत्रेय के इस उत्स्फूर्त भाषण में न्यायप्रियता, तर्कशुद्धता, विनय, भावनाप्रकर्ष और करुणायुक्त क्रोध आदि अनेक बातों का अभूतपूर्व मिलन हुआ है। अंतःकरण की शुद्ध ऊर्मि से निकला हुआ, इतना तेजस्वी और करुणा से लथपथ, वक्तृत्व शायद ही कहीं देखने को मिलेगा। यह मूर्ख विदूषक न्याय और मानवता की ओर से इतनी शूरता और सूज्ञता की वकालत करेगा ऐसा किसको लगा था।

मैत्रेय की यह पीड़ित सूज्ञता, सबूत के कागजों की चतुरता के सामने लंगड़ी पड़ना स्वाभाविक है। अंतकरण भर आने पर अन्याय से चिढ़कर क्रोध से पागल बना हुआ मैत्रेय अपने उफनते हुए क्रोध की सब वर्षा दुष्ट शकार पर करता है। न्यायालय की सभ्यता और गांभीर्य को वह क्षणभर भूल जाता है। वह शकार को लाखों गालियाँ देता है। शकार के हृदय की तरह होने वाली अपनी कुटिल लाठी को उठाकर न्याय सभा में वह शकार पर हमला करता है। मैत्रेय के इस क्रोध का और अनजाने में हो गयी गलती का परिणाम चारुदत्त को भुगतना पड़ता है। यह उसका दुर्दैव नहीं, तो सरलमार्गी भोले जीवन का दुर्दैव है।

चारुदत्त को फाँसी की सजा हो जाने पर मैत्रेय को जीवित रहने योग्य कुछ भी नहीं रहता। जिसके साथ जीवन बिताया उसे मृत्यु की राह पर अकेला छोड़ देना मैत्रेय के स्वभाव के साथ कैसे मेल खायेगा ? मूल उखाड़ देने पर क्या वृक्ष जीवित रहता है ?

केवल चारुदत्त के शब्दों के लिए रोहसेन की और उसकी अंतिम भेंट करा देने के लिए जीवित रहने का मैत्रेय का विचार है। वधस्थान पर एकत्रित विशाल जन-समूह में से छोटे रोहसेन का हाथ कसकर पकड़कर राह निकालते हुए समूह को घबड़ाने वाला यह दुर्बल ब्राह्मण भीड़ के धक्के खाते हुए, घबराता हुआ, चारुदत्त के नाम से गद्गद् होकर पुकारता हुआ, जैसे तैसे चारुदत्त के पास आ पहुँचता है। चारुदत्त के शब्द का उसने आजतक कभी अपमान नहीं किया। लेकिन आज जीवन की सीमा पर एक बार चारुदत्त को न सुनने का उसने निश्चय किया है। चारुदत्त के पीछे रोहसेन का पालन-पोषण करने के लिए भी जीवित रहना अब उसके लिए असंभव है। उसका विचार इस प्रकार है कि रोहसेन को उसकी माँ के हाथों में सौंपकर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाय और चारुदत्त का अंतिम साथ दे।

इस विचार से मैत्रेय आर्या धूता की ओर आता है। वह देखता है कि धूता चिता रचकर सती हो जाने की तैयारी में है। दैव के निष्ठुर अकल्पित घटनाओं से मैत्रेय के धैर्य का बांध अब पूर्ण रूप से टूट जाता है। मैत्रेय बड़ी व्याकुलता से उसे समझाता है। पति के शव के बगैर सती होना अधर्म है। इस प्रकार शास्त्र की बातें धूता से कहकर उसे उस भीषण व्यवसाय से परावृत्त करने की पराकाष्ठा करता है। लेकिन धूता का मन विचलित नहीं होता। ऐसा विश्वास हो जाने पर कि वह अपनी बात नहीं मानेगी यह मूर्ख लगने वाला ब्राह्मण अग्नि की तरह धधके हुए ब्रह्मतेज से और मृत्यु को भी लजाने वाले पवित्र धैर्य से उसे अंतिम आज्ञा करता है—

'किसी भी धार्मिक विधि में आगे होने का अधिकार ब्राह्मण का है। मैं पहले अग्निज्वाल में प्रवेश करता हूँ। मेरे पीछे ही आप आइए।'

गरीबी से पीड़ित चारुदत्त को अपने जीवन में छाया की तरह साथ देने वाली पत्नी की और सुख-दुःख में साथ रहने वाले प्रिय मित्र—मैत्रेय—की याद होने पर उसकी गरीबी की पीड़ा लुप्त हो जाती है। मैत्रेय के उदात्त और घनी मानवता से चारुदत्त परिचित है। न्यायालय में यकायक खींचकर स्वप्न में भी अकल्पित खून का अभियोग सुनकर चारुदत्त पर जो मर्माघात होता है उस दुःखावेग के पहले क्षण में उसे अग़र किसी की याद आती है तो वह अपने उदार पत्नी की नहीं, प्रिय पुत्र की नहीं, तो प्रेमी मैत्रेय की! 'सर्वकालमित्र' यह जो उपाधि चारुदत्त ने मैत्रेय को दी है उसे अयथार्थ कोई नहीं कह सकता। जीवन पर विनोदी भाष्य करने वाले इस विदूषक का मृत्यु पर मात करने वाला यह उदात्त मानवी तेज देखने पर 'बटु' शब्द से मैत्रेय को पुकार कर, न्यायालय से उसे निकालने का हुक्म देने वाले अंधे न्यायमूर्ति पर क्रोध आने पर भी, जीवन में जीवित रहने योग्य कुछ है ऐसी आशा भी निर्माण होती है।

• • •

८. वसन्तक

मूर्ख, नैषः कालः परिहासस्य ।

—प्रियदर्शिका ३.

इस वसंतक ब्राह्मण के पास विद्या बिलकुल नहीं है । लेकिन दक्षिणा या भेंट मिलने का संभव हो तो दौड़-धूप करके आगे जाने के लिए वह सदा संनद्ध रहता है । रानी वासवदत्ता से स्वस्तिवाचन लेने के लिए निमंत्रण मिलते ही वह फूला नहीं समाता । इस आनंद में अपने मित्र राजा उदयन के पास वह डींग हाँकता है, 'देखा? राजमहल में चार, पाँच और छः वेदों का पठन किये हुए ब्राह्मण चाहे जितने होंगे, फिर भी रानी ने बुलाया है तो वह अस्मदादि को ही !' राजा हँसकर कहता हैं, 'क्योंकि जो संख्या तुमने बतायी है उसके अलावा तुम्हारे ब्राह्मण्य का और क्या सबूत चाहिए।' अपनी पात्रता वसंतक को अच्छी तरह मालूम है । लेकिन अपने धंधे के सभी रहस्य भी उसे मालूम हैं। रानी का निमंत्रण मिलते ही धारागृह के पास के कूप पर झटसे स्नान करके मुँह से मंत्र कहे जैसी आवाज करते हुए, कू-कू करने वाले मुर्गे की तरह वह उतावलेपन से जाकर रानी के सामने खड़ा हो जाता है । हाँ, इतना भी अगर वह कर न पाता तो उसके जैसे ब्राह्मण का राजमहल में निभता भी कैसे ?

वसंतक सौंदर्य जानता नहीं सो बात नहीं । लेकिन फिर भी आरण्यिका का अभिनय देखने का उसमें कुछ भी उत्साह बाकी नहीं है । इसका कारण यह है कि राजा का मन आरण्यिका की ओर आकृष्ट हुआ है, और उसकी प्राप्ति के चिंतन में राजा के साथ उसे भी कई रातें जागनी पड़ी हैं । अभिनय-प्रदर्शन के निमित्त से आरण्यिका से भेंट करने का राजा को मौका मिल जाता है । वसंतक को यह सब मालूम है कि

वास्तव में प्रेम प्रकरण में फँसे हुए राजा लोग खुद को कैसे हास्यकर बना लेते हैं और राजमहल की क्षुद्र दासियाँ भी ऐसे प्रसंगों में उन्हें किस तरह उंगलियों पर नचाती हैं। अगर राजा को प्रेयसी से मिलकर सुख प्राप्त होता तो वसंतक को इसमें कुछ भी कहना नहीं है लेकिन वह खुद अपने आराम के लिए और बची हुई नींद पूरी करने के लिए उत्सुक है। इसीलिए अभिनय के प्रयोग के प्रारंभ में ही वसंतक सो जाता है। दासी मनोरमा जब उसे जगाने आती है तब वह खूब चिढ़ता है। उसे वह गालियाँ देता है और यह किचकिच टालकर आराम से नींद लेने के लिए वह संगीतशाला से दूर निकल जाता है। स्वादिष्ट भोजन की तरह आराम भी वसंतक को मन से पसंद है।

वसंतक केवल शरीर से ही नहीं बल्कि बुद्धि से भी मंद है। एक बार राजा को तब की याद आती है जब वह वासवदत्ता पर प्रेम करते थे। उस समय बंधन में रहने पर भी उसे सुख कैसे हुआ और वासवदत्ता जैसे स्त्री रत्न की कैसे प्राप्ति हो गयी इसका भावपूर्ण वर्णन राजा करता है। वसंतक चिढ़कर उनसे पूछता है, 'हाथी को जैसे पकड़ा था वैसे आपको पकड़ने पर आपने कैसे व्याकुल होकर रातें बितायीं, पैर में जंजीर कलकल नाद करती थी तो आप का मुँह कैसे सूख रहा था? आँखें व्यर्थ क्रोध से कैसे बड़ी हो गयी थीं, मन को कैसी यातना हो रही थी, यह सब क्या भूल गये? फिर बन्धन की इतनी स्तुति क्यों करते हैं? राजा सहज ही कहता है कि वासवदत्ता के प्रेम के कारण बंदिगृह को भी उपवन का रूप मिला था। वसंतक इस शान में पूछता है कि मानो राजा के बोलने में तर्कदुष्टता मिल गयी। 'अगर आप उस पाश को आनन्द का पाश मानते हैं तो अब दृढवर्मा (नायिका का पिता) के बन्धन में पड़ जाने पर आपको इतना दुःख क्यों होता है?' वसंतक का अजीब तर्कशास्त्र है कि एक बात में जो सत्य है वह सभी बातों के लिए सत्य होना चाहिए। राजा उसे इतना ही कहता है, 'मूर्ख कहीं का।'

राजा के नायिका से छुपकर मिलने के लिए एक योजना की गयी थी। राजमहल में नृत्याभिनय होने का रहता है। उसमें नायिका की ओर मुख्य स्त्री-भूमिका और उसकी सखी एवं राजा की विश्वसनीय दासी मनोरमा को नायक की भूमिका सौंपी गयी है। प्रत्यक्ष प्रयोग के समय राजा का नायक की भूमिका में रंगमंच पर जाना और मनोरमा का संगीतशाला में छिप कर रहने की योजना रहती है। यह योजना अन्यथा असफल होने का कुछ भी कारण नहीं था। लेकिन प्रयोग के प्रारम्भ में ही वसंतक सो जाता है और अपनी मूर्ख बकवास से सब रहस्य खोल देता है। वासवदत्ता की दासी को यह सब मालूम हो जाने पर मनोरमा चिढ़ जाती है और स्पष्ट कहती है कि इस धोखेबाजी में अपना हाथ नहीं है। वसंतक की मूर्खता के लिए मनोरमा उसकी कटु आलोचना करती है। वासवदत्ता के सामने वसंतक कुछ धोखा

देने का प्रयत्न करता है। लेकिन उसका कुछ भी उपयोग नहीं होता। सभी वसंतक का मजाक उड़ाते हैं। ऐसा विश्वास हो जाने पर कि इस धोखेबाजी का सूत्रधार वसन्तक है, बासवदत्ता उसे बंदीगृह में रखने का हुक्म देती है। तब वसन्तक भी को मालूम हुआ होगा कि सभी बन्धन आनन्द के बन्धन नहीं होते।

नृत्याभिनय के समय राजा की और नायिका की होने वाली भेंट, वसंतक के निद्रालु स्वभाव से और मूर्खता से असफल होती है। शायद इसके लिए वसंतक की मूर्खता की अपेक्षा उसका नींद से प्रेम होना ही अधिक जिम्मेदार होगा। लेकिन कभी-कभी वसंतक मूर्खता को भी प्रकट करता है। रानी वासवदत्ता ने चिढ़कर नायिका को बन्दीगृह में रखा है और राजा इस चिन्ता में हैं कि उसको कैसे मुक्त किया जाय। वसंतक से पूछने पर वह सभी सेना के साथ अंतःपुर पर हमला करने की सलाह देता है। वसंतक की मूर्खता के उत्तर की ओर ध्यान न देकर राजा उससे कहता है कि 'क्या वासवदत्ता का क्रोध कम करने का कोई योग्य मार्ग नहीं है ?' इस पर वसंतक गम्भीरता से कहता है, 'मित्र, एक मास तक उपवास करो। फिर रानी रूपी चंडी प्रसन्न हो जायेगी।'

वासवदत्ता को चंडी कहकर पुकारने में जिस तरह उसके क्रोधी स्वभाव की कल्पना आती है उसी तरह वसंतक के डरपोकपन की भी सूचना मिलती है। राजा ने उसे आरण्यिका को ढूँढ़ कर लाने के लिए कहा है और वह कहाँ गयी हैं इसका अगर पता न चले तो कम से कम जिस तालाब में वह कमलपत्र तोड़ रही थी वहाँ से उसे हस्तस्पर्श हुए कुछ पत्ते ले आने के लिए कहता है। वसंतक तालाब के पास आता है। लेकिन वह समझ नहीं पाता कि नायिका का हस्तस्पर्श किन पत्तों को हुआ है ? पास में मनोरमा भी थी। वह कहती है, 'मैं कहती हूँ'—तुरंत वसंतक घबड़ा जाता है क्यों कि उसे लगता है कि यह दासी, वासवदत्ता से कहेगी। वह काँपते हुए बूझता है, 'तुम किससे कहने वाली हो ? रानी से ? लेकिन मैंने तो एक अक्षर भी नहीं कहा है ?' नृत्याभिनय के प्रसंग में नायिका की गुप्त भेंट लेने की योजना असफल हो जाने पर वसंतक को जो अनुभव प्रत्यक्ष आ चुका है उससे उसको वासवदत्ता से डर लगना स्वाभाविक है। वासवदत्ता से नायिका की मुक्ति की बिनती करने के विचार से उसके पास जाते समय वसंतक को अपने साथ चलने को कहते हैं। वसंतक रानी के सामने जाने के लिए साफ इनकार कर देता है।

वसंतक की यह कायरता उसके स्वभाव में होगी या उसके आरामप्रिय स्वभाव से निर्माण हुई होगी क्योंकि उसे आराम में कुछ भी व्यत्यय अच्छा नहीं लगता है। फिर उसकी नींद खराब करनें से आया हो, या बंधन की कल्पना से आया हो, नहीं तो हमले के या सजा के डर से आया हो, किसी भी कारण से वसंतक के मन में एक बार

उसका प्रवेश हो जाने पर उसकी बातें और बर्ताव दोनों पूर्ण रूप से हास्यकर बन जाते हैं।

लेकिन वसंतक के स्वभाव का एक दूसरा पहलू है। राजा के साथ वाटिका बिहार में उसकी सौंदर्य दृष्टि की कल्पना हमें आती है। वाटिका के सप्तपर्ण वृक्ष की ओर उसका ध्यान जाता है। उसके फूल लगातार झरते हुए और बरसात के अंत में उसके पर्ण के बीच से जलबिंदु चूता दृश्य वह राजा को दिखाता है। विदूषक की इस अवलोकन शक्ति को देखकर उद्यान का वर्णन वर्षासुन्दरी के रूपक से करने की स्फूर्ति राजा को आती है। वसंतक की दृष्टि प्रकृति सौंदर्य से मानवी सौंदर्य की ओर मुड़ती है। उद्यान में आहिस्ता आहिस्ता घूमने वाली आरण्यिका उसे उद्यान देवता सी लगती है। फूलों के सुगंध से युक्त उसकी कजरारी लट भ्रमरमालिका सी है, तो उसके कोमल लाल हाथ मूँगे के लतापल्लव जैसे हैं। तालाब के कमल तोड़ने के लिए जब आरण्यिका अपना हाथ अंदर डुबाती है तब उसके हाथ के गुलाबी सौंदर्य से कमल की शोभा ढक जाती है। वसंतक का यह वर्णन देखने पर इसे मानना पड़ता है कि उसे सौंदर्य दृष्टि है।

वसंतक का मन कल्पना की ऊँची उड़ान मारता है फिर भी वह व्यावहारिक बातों को भूलता नहीं। राजा का उसके प्रेम में मदद करने का वह प्रयत्न करता है। प्रेमव्याकुल अवस्था में राजा के प्रति वह सहानुभूति रखता है। आरण्यिका को ढूँढ़ने का कार्य वह अपनी ओर लेता है। यह प्रथम उसके ही ध्यान में आता है कि आरण्यिका और इंदिवरिका नामक दासी वाटिका में आ रही हैं। बाद में भ्रमर जब आरण्यिका को सताते हैं और पीड़ा से बचने के लिए वह परदे से मुँह ढक लेती है तब वसंतक एक सुन्दर युक्ति राजा को सुझाता है। आरण्यिका अब डर गयी है और उसका मुँह भी ढका हुआ है। ऐसे समय अगर राजा झट से आगे आ जाय तो इंदि-वरिका ही पास है इस कल्पना से आरण्यिका घबड़ा कर उसके गले लग जायेगी और सहज ही राजा का कार्य पूर्ण होगा। वसंतक की यह सलाह इतनी अच्छी है कि झट से राजा उसको अमल में लाता है। आरण्यिका को अपनी गलती मालूम हो जाती है। वह राजा से दूर हो जाती है और डरकर इंदिवरिका को पुकारने लगती है। वसन्तक आगे आकर नर्म विनोद के साथ कहता है, 'हे देवी! सब पृथ्वी का संरक्षण करने की ताकत जिसमें है ऐसा वत्सराज आप के पास है और आप इंदिवरिका जैसी एक दासी को मदद के लिए पुकारती हैं?'

उद्यान के इस प्रसंग में वसन्तक बड़ी सजगता से बर्ताव करता है। वासव-दत्ता की दासी इस ओर आती रहती है। अगर वह इस दृश्य को देखेगी तो जरूर ही वह रानी को बता देगी। यह विपत्ति टालने के लिए वसन्तक ऐन मौके पर राजा को कदलीगृह में घुसने की सूचना देता है।

लेकिन आरण्यिका पहले ही घबरा गयी है । धूप तेज हो रही थी । इंदिवरिका उसे राजमहल लौटने के लिए सुझाती है । प्रेम प्रसंग में इस प्रकार अचानक आफत आ जाने से राजा का मन निराश हो जाता है और आरण्यिका से एकांत में भेंट हो जायेगी ऐसी एकाध युक्ति ढूंढने के लिए वसंतक से कहता है । लेकिन वसंतक का मन झट से बदल जाता है । मूर्ख की तरह बकबक करते हुए राजा से कहता है, 'क्या ऐसा मैंने नहीं सुझाया था ? आरण्यिका के पास चुपके से जाइये । आप उसके पास गये और 'सुन्दरी, खुद को क्यों पीड़ित कर लेती हो ?' ऐसे शब्द कहकर उस पर ताने कसे ! अब रोवो ! अपने हाथों से गुड़िया तोड़कर रोवे और उस पर इलाज पूछे ! वसंतक की यह बकबक जितनी असंबद्ध है उतनी ही अनपेक्षित भी । अपने आश्वासन के शब्दों को ताने मानने में जो मूर्खता वसंतक ने दिखायी उसके आगे राजा भी क्या कहे ?

ऐसा दिखता है कि विनोद कब करना चाहिए यह वसंतक को मालूम नहीं होगा । वसंतक की मूर्खता कब प्रकट होगी इसे जिस प्रकार नियम नहीं है वैसे एकाध कठिन समय में वह किस प्रकार सूझ की सी बातें करेगा इसकी भी कल्पना नहीं की जा सकती । यह सुनकर कि आरण्यिका प्रियदर्शिका को विषबाधा हो गयी है राजा निराश होता है । यह न सूझने से कि क्या करना है वह उसके सामने निराशा से रोता हुआ खड़ा रहता है । लेकिन वसंतक शांत दिमाग से राजा से कहता है 'हां आपको सर्पविद्या आती है और आप मूर्ख की तरह रोते हुए क्यों खड़े हैं ?' सर्पविद्या का उपयोग करके केवल विष उतारने का सुझाकर वसंतक रुकता नहीं; वरन् मंत्र प्रयोग के लिए पानी लाने के लिए वह खुद जल्दी से जाता है ।

राजा और आरण्यिका के मिलन के लिए जो योजना रची जा रही थी उससे वासवदत्ता को क्रोध आना स्वाभाविक था । वासवदत्ता विदूषक को को सजा देकर चुप नहीं बैठती है । वह आरण्यिका को भी कारागृह में रखती है ।

राजा इस चिंता में है कि अब नायिका को किस प्रकार मुक्त किया जाय । इतने में कलिंग राजा का पराजय होने पर उसके बन्दीगृह में रखे कैदी दृढ़वर्मा के मुक्ति की खबर उसे मिलती है । इसी समय राजमहल में जो बातें होती हैं उससे ये बातें आप ही आप स्पष्ट हो जाती हैं कि दृढ़वर्मा की बेटी प्रियदर्शिका ही आरण्यिका है और वह वासवदत्ता की बहन है । तुरन्त ही राजमहल में आनन्द का वातावरण निर्माण होता है । वसंतक आगे आकर बड़ी चतुराई से मजाक उड़ाता है । वह कहता है —

'इस अभ्युदय के समय में राजमहल में क्या करना चाहिए मालूम है ? (राजा की ओर अंगुली निर्देश करके वीणावादन को अभिनय करता हुआ) गुरु की पूजा !

(खुद का जनेऊ दिखाते हुए) ब्राह्मण का सत्कार ! (आरण्यिका की ओर निर्देश करते हुए) सभी बन्दीजनों की छुट्टी।'

राजा को तो आनन्द होता ही है लेकिन आरण्यिका से चिढ़ने के लिए अब वासवदत्ता को कुछ कारण नहीं रह जाता है। वसंतक चतुराई की और एक चमक दिखाता है। वासवदत्ता से वह कहता है, 'रानी जी, यह ठीक है कि तुम्हें अपनी बहन मिल गयी। इस लिए उसे गले लगा कर आनन्द मनाओ। लेकिन जिस वैद्य ने (अर्थात् राजा ने) विषबाधा से उसके प्राण बचाये उसे पारितोषिक देने की याद भी तुम्हें नहीं रही।'

वसंतक के नर्म विनोद से वासवदत्ता यद्यपि निरुत्तर हो गयी है फिर भी साधारणतया वह खुश है। जान-बूझ कर राजा को वह खींचती है और प्रियदर्शिका का हाथ उसके हाथ में देती है।

● ● ●

९. वसन्तक

अयि ऋज्युके वसंतकः खलु एषः । न जानासि त्वं एतस्य वक्रभणितानि ।

—रत्नावली २

यह विदूषक भी एक मूर्ख ब्राह्मण है। लेकिन प्रियदर्शिका के वसंतक की अपेक्षा यह वसंतक अधिक आनन्दित स्वभाव का है।

वसंतक दिखायी देने में साधारण ही होगा क्योंकि दूसरे उसकी आवाज सुनते ही सागरिका को ऐसा सन्देह होता है कि एकाध ऊधमी मर्कट तो नहीं आ रहा है ! और उसकी सखी द्वारा ऐसा निश्चित बताने पर कि वह मर्कट न होकर राजा का साथी वसंतक है, सागरिका का डर कम हो जाता है। फिर भी प्रत्यक्ष वसंतक को देखकर उसे हँसी आती है और मजाक उड़ाते हुए कहती है, 'अत्यन्त विचित्र तो दिखता ही है।'

राजा ने जो कहा है कि वसंतक 'महाब्राह्मण' है अर्थात नाम मात्र का ही ब्राह्मण है। वह सत्य है क्योंकि वसंतक को 'गाथा' और 'ऋक्' का अन्तर मालूम नहीं। अध्ययन के लिए कभी विशेष कष्ट उठाया हुआ नजर नहीं आता और अब राजा का मित्र होने का मान मिल जाने पर उसे अध्ययन के कष्ट उठाने की आवश्यकता भी नहीं। वसंतोत्सव के आनन्द में दासी को नृत्यगान करते हुए देखकर एक क्षण के लिए गायन सीखने की इच्छा हो जाती है। उसकी ऐसी कल्पना है कि दासी 'चर्चरी' गा रही होगी। पर एक दासी बताती है कि वह 'चर्चरी' न होकर 'द्विपद-खण्ड' नामक गान है। नाम सुनकर 'खण्ड' शब्द से वसंतक को लड्डू की याद आ जाती है और 'द्विपद-खण्ड' को खाने की चीज मान कर उसका उत्साह बढ़ता है। लेकिन दासी

जब उसे समझाती है कि वह एक शास्त्रीय गान का प्रकार है और मेहनत से अच्छी तरह सीखे बिना उसका गायन करते नहीं बनता, तब वसंतक वह सब झंझट छोड़ देता है। 'कहती है कि मेहनत से सीखना चाहिए! इतना उद्योग किसने बताया है?'

लेकिन 'खण्ड' शब्द सुनते ही किसी प्रकार का 'गोला' मन में आकर उसके लड्डू बनते होंगे ऐसा जो वसंतक को लगता है और क्षण के लिए वह आनन्दित हो जाता है। उसमें इस ब्राह्मण की भोजनप्रियता नजर आती है। वसंतोत्सव के प्रसंग में वसंतक का खुश नजर आने का कारण वसंतोत्सव का आनन्द न होकर उसके निमित्त मात्र से उसे पारितोषिक मिलने वाली सम्भावना है। आगे उस पर रानी का क्रोध हो जाता है और उसे बन्दी होना पड़ता है। उसे मुक्ति के आनन्द की अपेक्षा अब टोकरी भर लड्डू खाने के लिए मिलेंगे इसका सच्चा आनन्द होता है।

वसंतक भेट स्वरूप कोई चीज मिलने पर खुश होता है। बन्दीगृह से मुक्त होने पर उसे रेशमी वस्त्र और कुण्डलों की जोड़ी मिलती है। इस आनन्द में वह बन्दीगृह की यातनाएँ झट से भूल जाता है। एकाध काम करने के लिए बताने पर ही वह तुरन्त ही उसका मेहनताना चाहता है। नायिका के चित्र का चित्रफलक उसके पास है। राजा उसे मांगता है। वसन्तक कहता है; 'पहले मुझे परितोषिक दीजिये। फिर चित्र दे दूँगा।' राजा को वसन्तक का यह स्वभाव अच्छी तरह मालूम है। बाद के प्रसंग में, नायिका की तबीयत ठीक है और उसकी ओर राजा की भेंट होने की व्यवस्था भी हो गयी है। इस प्रकार की आनन्द देने वाली वार्ता जब वसंतक लाता है तब राजा अपने आप हाथ का कड़ा उतार कर उसे पुरस्कार देता है। वसंतक वह कड़ा अपने हाथ में पहनकर गर्व से कहता है, 'हो! अब मैं अपनी ब्राह्मणी की ओर जाता हूँ और यह अत्यन्त शुद्ध सोने का पहना हुआ सुन्दर हाथ उसे दिखा कर आता हूँ।'

वसन्तक को विनोद करना पसन्द है। उत्सव के समय वह दासियों के बीच में जाकर इनके साथ नाचता है और थका-मांदा राजा की ओर आकर अपने नाचने का पुरुषार्थ उसे बताता है। वास्तव में वसन्तक नाच जानता है सो बात नहीं। दासी ही उसका हाथ पकड़ कर उसे नचाती है।

वसंतक का यह लड़कपन अन्यत्र मनोरंजन करने वाला हो सकता है लेकिन उससे कभी कभी राजा पर संकट आ जाता है, ऐसा दिखता है। नायिका की भेंट कदलीगृह में हो जाने से राजा बड़े आनन्द में है। लेकिन वहां अचानक रानी आती है और इतना आनन्दित होने का कारण पूछती है। रानी के अकल्पित आ जाने से सभी घबड़ाते हैं। लेकिन प्रसंगावधान से राजा उत्तर देता है कि अपनी प्रिय नव-

मालिका लता को बहार आयी है और वही आनन्द का कारण है। रानी को वही ठीक जँचता है। यह स्पष्टीकरण रानी को मान्य होने पर इस प्रसंग को यहीं समाप्त होना चाहिए था। लेकिन अप्रिय बातचीत टल जाने का वसन्तक को इतना आनन्द होता कि दोनों हाथ पसार कर नाचने लगता है। रानी के आने की आहट लगते ही पास का चित्रफलक राजा वसन्तक के हाथ में देता है और वसन्तक उसे कांख में छिपा कर खड़ा रहता है। अब के उनके नाचने से चित्रफलक गिर जाता है और जो रानी को दिखना नहीं चाहिए था वह उसे देखती है। राजा ने जिसे टालने के लिए इतनी कोशिश की थी, आखिर वही घटित हुआ। रानी का चित्र के बारे में प्रश्न पूछना स्वाभाविक है। वसन्तक को अपनी मूर्खता महसूस हुई है। वह धोखा देने का प्रयत्न करते हुए रानी से कहता है कि 'महाराज अपना चित्र खुद उतार रहे थे और खुद का चित्र खुद उतारना कितनी कठिन बात है।' वसन्तक का यह धोखा देना पटने लायक नहीं है क्योंकि फलक पर राजा के चित्र के पास नायिका का भी चित्र है। वसन्तक रानी को एक ही चित्र होने का आभास देने का प्रयत्न करता है। आंखों को दो चित्र दिखते समय वसन्तक का यह गप हांकना क्या किसी बच्चे को भी जँच सकता हैं? स॰ प्रसंग पर पानी फिर जाना स्वाभाविक है। वसन्तक जनेऊ की सौगंध लेकर रानी से कहता है कि सागरिका का चित्र खींचा ही नहीं है। लेकिन रानी वसन्तक को अच्छी तरह जानती है। उसकी टेढ़ी-मेढ़ी बातों से वह पूर्ण परिचित है। इस धोखेबाजी से वह चिढ़ती है और क्रोध में निकल जाती है। वसन्तक इस पर खुश है कि 'बवंडर' आया लेकिन कुछ विशेष न करते हुए वह चला गया। लेकिन राजा इसे पूर्ण रूपसे जानता है कि जो कुछ हुआ वह ठीक नहीं हुआ।

रानी को 'बवंडर' कहने में यह मालूम होता है कि वसंतक उससे कितना डरता है। वसंतक स्वभाव से ही डरपोक है। वसंतक और राजा को चित्र के सम्बन्ध में बातें करते समय रानी की सुसंगता नाम की दासी सुनती हैं। वह जाकर रानी को बताने की मजाक में धमकी देती है। वसंतक को वह सच लगता है और इतना घबड़ाता है कि सुसंगता को कुछ-न-कुछ पुरस्कार देकर चुप करने की राजा से बिनती करता है।

केवल युद्ध का वर्णन सुनते ही वसंतक घबड़ा जाता है। इसलिए विजयसेन को जान-बूझकर वह थोड़े में कहने के लिए कहता है। युद्ध की बात जाने दीजिये। लेकिन बकुल के पेड़ पर एक मैना बैठकर, मनुष्य से सुने हुए शब्द हूबहू कहती है, लेकिन वसंतक को लगता है कि पेड़ पर भूत है। राजा के समझाने पर भी उसका डर कम नहीं होता। थोड़ी देर बाद जब उसे अपनी भूल मालूम होता है तब वह मैना पर चिढ़ जाता है और वह टेढ़ी लाठी, जो दुष्ट आदमी के हृदय जैसी है, उठाकर पेड़ से कैथा को

जैसे गिराते हैं वैसे मैना को पीटकर जमीन पर गिराने के लिए बड़े जोश से दौड़ता हुआ जाता है। वसंतक का डर जिस तरह अकारण था उसी तरह उसके शौर्य का स्वाँग भी व्यर्थ है।

यह वसंतक नटखट और मूर्ख है फिर भी वह अक्ल का दुश्मन नहीं है। ऊपरी मैना के प्रसंग में उसके ऊधम मचाने से मैना के घबराकर उड़ जाने से राजा को बुरा लगता है, क्योंकि मैना मधुर बातें कह रही थी और उसके शब्द सुनने की राजा को उत्कंठा थी। वसंतक यह जान लेने पर अपनी गलती को ठीक करता है। मैना के शब्द जैसे के वैसे राजा को सुनाता है। वह दो सखियों की प्रेम विषयक बातचीत थी। राजा को खूब कुतूहल होता है। उसमें राजा और वसंतक मैना का पीछा करते हैं और फिर कदलीगृह में आ पहुँचने पर राजा की दृष्टि सागरिका पर पड़ती है। इस प्रकार विदूषक की गलती से एक आनंद का प्रसंग निर्माण होता है।

राजा और वसंतक जब मकरंद उद्यान में रहते हैं तब कोई आवाज सुनायी देती है। राजा को वह भ्रमर का गुंजन लगता है। लेकिन वसंतक ठीक तरह से पहचानता है कि वह नूपुरों की ध्वनि है और देवियाँ उद्यान की ओर आ रही हैं। सागरिका के पास बहुमोल रत्नमाला देखकर वसंतक तर्क करता है कि वह दासी न होकर राजघराने की कोई अज्ञात कन्या होगी। अंत में यह तर्क सत्य होकर वसंतक को अपनी चतुराई की डींग हाँकने का अच्छा मौका मिल जाता है। एक प्रसंग में तो वसंतक के मजाक उड़ाते समय कहे हुए शब्द भविष्यवाणी को तरह सच होते हैं। दूसरे अंक में रूठी हुई सागरिका को राजा मनाता रहता है। सागरिका जल्दी नहीं मान जाती। यह देखकर वसंतक मजाक में कहता है, 'इसे तो दूसरी वासवदत्ता कहना चाहिए।' वासवदत्ता का नाम सुनकर राजा झट से घबड़ाकर, उसने जो सागरिका का हाथ पकड़ा था, उसे छोड़कर दूर हटता है। गलतफहमी से क्यों न हो राजा ने जो किया वह उसके फायदे का ही हुआ, क्योंकि झट से वासवदत्ता वहाँ आकर हाजिर हो जाती है। अगर वह राजा का प्रणयाराधन देखती तो बड़ा अनर्थ हो जाता। वसंतक के अनपेक्षित मजाक से यह भयंकर प्रसंग टल गया।

आनंद के योग्य कुछ घट जाने पर वसंतक अपनी भावनाओं को दबा नहीं सकता। अपने आनंद का वह प्रदर्शन करता है। एक जादूगर के जादू से राजा की प्रिय नवमालिका लता को बहार आती है और उस समय उसके सौंदर्य के सामने रानी की माधवीलता फीकी पड़ जाती है। वसंतक आनंद के बहाव में जादूगर को अनेक धन्यवाद देता है।

वसंतोत्सव के समय तो वसंतक का आनंद उभड़ पड़ता है। सुन्दर नवयुवतियाँ हाथ में रंग की पिचकारियाँ लेकर रंग उड़ाते हुए आती हैं और मृदंग के ताल पर

पाँव रखती हुई गाने की लय सम्हालते हुए नाचती हैं। अबीर और गुलाल फेंकने से दिशाएँ भर गयी हैं। उसमें पिचकारी का रंग अंग पर पड़ने पर वारांगनाएँ चौंककर आनंद से चिल्लाती हैं और आसपास कजरारी नजर फेंकती हैं। उत्सव का यह आनंद वसंतक अपनी आँखों से चखता है और राजा को दिखाता है। मकरंद उद्यान में भी मलयवात से आम्रमंजरी के रज: कण ऊपर उठकर उनका एक छत सा बना हुआ है। उसी में भ्रमर का गुंजन और कोकिल के कुहकने का नाद भरा हुआ है। वसंतक कहता है कि एकाध अतिथि के स्वागत से तैयारी मकरंद उद्यान में की है। यह सब वर्णन या सागरिका के सौंदर्य का जो उसने वर्णन किया है वे उसकी सौंदर्य दृष्टि का जैसा सबूत देते हैं वैसे उसके आनंदी स्वभाव के दर्शक हैं।

वसंतक राजा का केवल साथी नहीं है। प्रियदर्शिका के वसंतक की अपेक्षा वह राजा की अधिक भक्ति करता है और इसका सबूत नाटक में देखने के लिए मिलता है। राजा के आनन्द से वह आनंदित होता है। राजा की प्रिय लता में बहार आने पर वह आनंद से राजा का अभिनन्दन करता है। सागरिका से मिलने की योजना पूरी हो जाने पर वह आनंद की वार्ता राजा से कहने के लिए उत्साह से निकलता है। उसे मालूम है कि कौशांबी का राज्य प्राप्त करने की अपेक्षा सागरिका के मिलन का आनंद राजा को अधिक पसन्द है। उदयन राजा मदन जैसा सुन्दर है इसका वसंतक को मन से अभिमान है। केवल राजा के संदेश पहुँचाने का कार्य ही वसंतक करता है सो बात नहीं। सागरिका के प्रेम प्राप्ति के लिए जिन युक्तियों की योजना की जाती है उसमें राजा की सहायता करने का प्रयत्न वसंतक करता है। सागरिका को वासवदत्ता का वेश देकर उसकी और राजा की भेंट गुप्त रीति से कराने की योजना की जाती है। यह कल्पना कांचनमाला नामक दासी को सूझी है फिर भी इस षड्यंत्र में वसंतक भी शामिल है। सच्ची वासवदत्ता बीच में आ टपकती है और उसके आने की कल्पना न होने से उसे ही सागरिका मानने के कारण सब योजना पर पानी फिरता है। लेकिन उसके लिए इलाज नहीं है। वसंतक का इसमें कोई अपराध नहीं। फिर भी रानी को समझाना कठिन है। वह वसंतक को ही इस षड्यंत्र का सूत्रधार समझती है और उसके हाथ पैर बांधकर उसे बाहर निकालती है।

वसंतक को गर्व था कि वह बृहस्पति जैसा सूज्ञ है। उसका विश्वास था कि राजा और सागरिका की भेंट कराने में उनका गुप्त षड्यंत्र निश्चित सफल हो जायेगा। लेकिन वसंतक को अपयश मिलने पर भी राजा के प्रति प्रेम होने के कारण उसके लिए कोशिश करने की तैयारी में वह कमी नहीं करता। इसीलिए कांचनमाला उसकी स्तुति करती है कि जिस तरह राजा का महामंत्री यौगंधरायण संधि और विग्रह

अर्थात् शांति और युद्ध की चिन्ता राजा के लिए करता है वैसे ही वसंतक भी शायद उससे अधिक ही चिन्ता, संधि और विग्रह अर्थात् सागरिका के साथ मिलन और वासवदत्ता से दुराव, इनके संबंध में करता रहता है।

राजा के आनन्द में नहीं तो दुःख में भी वसंतक उसका हिस्सेदार है। सुसङ्गता से जब वह जान जाता है कि क्रोध में रानी ने सागरिका को इसलिए क़ैद में रखा है कि राजा उसे देख न सके, तब वसन्तक को इतना बुरा लगता है कि वह रोने लगता है। रत्नमाला लेकर जाने के लिए भी उसका मन राजी नहीं होता। ऐसी कल्पना आने पर कि सागरिका के दूर जाने से उसकी रत्नमाला की ओर देखकर राजा को दुःख में उतना ही सुख मिलेगा, वह रत्नमाला लेकर राजा की ओर जाने के लिए तैयार होता है।

बाद में अंतःपुर में आग लगती है। यह ध्यान में आते ही कि सागरिका अंदर अटक गयी है, राजा उदयन अग्नि में प्रवेश करने के लिए दौड़ता है। वसंतक उसे साहस से रोकने की चेष्टा करता है। लेकिन सागरिका को बचाने के अलावा दूसरा विचार उदयन को कैसे सूझ सकता है? राजा के अग्नि में कूदने पर वासवदत्ता का होश उड़ जाता है और वह भी राजा के पीछे दौड़ने लगती है। लेकिन अब वसंतक को चुप खड़ा रहना असंभव हो जाता है। वह दौड़कर आगे जाता है और वासवदत्ता के सामने खड़े होकर कहता है 'रानी जी! मैं आपको रास्ता दिखाता हूँ। मेरे पीछे-पीछे आइए।'

अन्तःपुर को सचमुच आग नहीं लगी थी। वह इंद्रजाल जादूगर द्वारा निर्मित होने के कारण किसी को नुकसान नहीं पहुँचता है और अवसान सुख में होता है। लेकिन इसमें शक नहीं कि वसन्तक का प्रकट किया गया धैर्य और राजा के और रानी के प्रति उसकी भक्ति, इस संकट में चमक उठी है।

प्रियदर्शिका के विदूषक की अपेक्षा यह वसन्तक अत्यंत नटखट है। उसका तालियाँ पीटना, चुटकियाँ बजाना, चिल्ला-चिल्लाकर नाचना आदि बातें लड़कपन के प्रतीक हैं। उसके आनन्दी स्वभाव से उसके खुले और सरल मन की अच्छी कल्पना आती है। लेकिन वसंतक का राजा से प्रेम ऊपरी नहीं है। वह राजा के सुख-दुःख में हाथ बँटाने वाला और प्रसंग आने पर अपनी जान की बाजी लगाने वाला राजा का सच्चा मित्र है, यह उसके गड़बड़ी, बातूनी स्वभाव से ध्यान में नहीं आता। यह वसंतक सीधा-सादा है, पर सामान्य नहीं है।



१०. आत्रेय

भोः युष्माकं पुरतोऽहं दास्याः पुत्र्या खलीकृतः ।
तत् किं मम इह स्थितेन ।

—नागानंद, ३.

हर्ष के दोनों वसन्तकों की अपेक्षा आत्रेय का चरित्र कुछ अलग है। लेकिन उसकी जाति विदूषक की ही होने के कारण विदूषक के चित्रण में जो विशेषताएँ होती हैं वे यहाँ भी मिलती हैं।

आत्रेय ब्राह्मण है; इसलिए उसका भोजनप्रिय होना स्वाभाविक है। जैसे-जैसे धूप तेज होती जाती है वैसे-वैसे उसके पेट में चूहे दौड़ने लगते हैं। लेकिन नागानंद नाटक का नायक तापसवृत्ति का होने के कारण आत्रेय का बड़ा बुरा हाल हो जाता है। उसे मन की इच्छा के अनुसार खाने को नहीं मिलता। भूख लगने पर पेट भरने के लिए किसी भी प्रकार के कंद-मूल को खाने के लिए वह लालायित रहता है। यह सत्य है कि शाकुंतल के माढव्य की तरह वह खाने-पीने की शिकायत नहीं करता। लेकिन उसको निश्चित ही असुविधा हो जाती है। भूख के समय प्रकृति-सौंदर्य की ओर देखकर या नायक की प्रेम-विह्वलता जानकर उसे थोड़े ही अच्छा लगने वाला है? नायक का विवाह तय होने पर उसका फूले न समाना स्वाभाविक है। इसका आनन्द तो है ही कि नायक ने तापसवृत्ति छोड़कर वैवाहिक जीवन में प्रवेश किया है। साथ ही ऐसा लगता है कि विवाह के निमित्त जो दावतें मिल जायेंगी उनका काल्पनिक चित्र मन के सामने आने से ही आत्रेय को सच्चा आनन्द हुआ होगा। आत्रेय की यह इच्छा पूर्ण हुई होगी। इसके अलावा नायक के मित्र के नाते बरातियों में आत्रेय का विशेष सत्कार

हुआ है। उसका अभ्यंग स्नान होता है। उपहार के स्वरूप में वस्त्र मिलते हैं और सिर पर रखने के लिए साथ ही एक सुगंधि पुष्पमाला भी मिलती है। इससे आत्रेय प्रसन्न है। लेकिन इस उपहार के रूप में प्राप्त हुई वस्तुओं के कारण ही अपने लिए संकट की माला आने वाली है इसकी उस बेचारे आत्रेय को क्या कल्पना थी।

अन्य विदूषकों की तरह आत्रेय कुरूप है और डरपोक भी। एक प्रसंग में उसे 'कपिलमर्कट' कहकर गाली दी जाती है। इस शब्द से उसका बंदर के साथ जो साम्य है वह सूचित होता है।

आत्रेय में कुछ समय-सूचकता दिखायी देती है। मलयगिरि के परिछिन्न में नायक के साथ घूमते समय आत्रेय पहचान लेता है कि नायिका लज्जा के कारण उनके सामने नहीं आ रही है। आत्रेय धैर्य के साथ सामने आता है और मजाक से पूछता है, 'क्या तुम्हारे इस तपोवन की यह प्रथा है कि यहाँ आये हुए अतिथि का शब्द से भी स्वागत न करें।'

मलयगिरि पर नायिका को देखकर नायक उसकी ओर आकृष्ट होता है। बाद में मित्रावसु नायक से प्रार्थना करता है कि उसकी पुत्री को स्वीकार करें। इस समय आत्रेय इस मँगनी को अस्वीकार करने की सलाह देता है। इस सलाह में एकनिष्ठ प्रम का लगाव है, वैसे ही नायक के वैयक्तिक सुख की चिंता भी है। यह आत्रेय की व्यावहारिक दृष्टि है कि एक से प्यार करते समय दूसरे के साथ विवाह करने से किसी को सुख नहीं मिलेगा। मित्रावसु की कन्या और नायक की प्रेयसी एक ही है, इसका इस समय किसी को ध्यान नहीं था। इसलिए यह अस्वीकृति अनजाने में दी जाती है। इसके फलस्वरूप होनी होकर ही रहती है। अस्वीकृति सुनकर नायिका मूर्च्छित हो जाती है। एक कन्या को इस प्रकार मानसिक आघात पहुँचाने का दोष नायक पर न आ जाय इसलिए आत्रेय फिर बीच में आता है और विवाह की बातचीत नायक के माँ-बाप से करने की व्यावहारिक सलाह मित्रावसु को देता है। आत्रेय की इस सूज्ञता से नायक दोष से मुक्त हो जाता है और नायिका को और उसके पिता को भी आशा की ज्योति दिखाता है।

आत्रेय नायक का साथी है। संस्कृत नाटक की रुढ़ पद्धति के अनुसार नायक की प्रेम में मदद करने का कार्य विदूषक की ओर होता है। लेकिन नागानंद नाटक के नायक जीमूतवाहन को तापस वृत्ति का दिखाया गया है। उसे सांसारिक सुख की अपेक्षा, सन्यास का जीवन और तपश्चर्या अधिक पसंद है। इसलिए प्रेम-प्रकरण में रंग भरने के लिए विदूषक को अधिक अवसर नहीं मिला है।

फिर भी आत्रेय जीमूतवाहन के साथ वाद-विवाद करता है। वृक्ष एवं कब्र में पाँव लटकाकर बैठे माता-पिता की सेवा करने में जीमूतवाहन अपने यौवन का नाश

कर रहा है। राज वैभव का सुख और राज्यपालन की जिम्मेदारी सामने रहने पर जीमूतवाहन का अपने कर्तव्य की ओर से आँखे फेर लेना आत्रेय को अच्छा नहीं लगता। जीमूतवाहन का निश्चय है कि अपनी आयु का उपयोग लोक सेवा के लिए कर लें।

वाद-विवाद निष्फल होता हुआ देखकर आत्रेय निराश होता है। फिर भी नायक का मन ऐहिक बातों की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न वह नहीं छोड़ता। नायक के साथ वह वाटिका में आता है और रसिकता से सृष्टि-सौंदर्य का वर्णन कर लेता है। चंदन-सुगंधयुक्त शीतल पवन, जो मलयगिरि की ओर से आ रहा है, प्रिया के आलिंगन की तरह रोमांचकारी और आनंदकारक है। तपोवन के वृक्षों की घनी छाया में अनेक प्राणी विश्राम कर रहे हैं; और दूसरी ओर यज्ञ में दी जाने वाली आहुतियों का सुगांधित धूम्र चारों ओर फैल रहा है। कहीं से संगीत की मधुर ध्वनि आ रही है। मुँह में रखा हुआ तृण निगलने का ध्यान न रहकर हिरन मुड़कर ध्वनि की ओर देख रहे हैं और आँखे बंद करके संगीत के स्वर सुनने में मग्न हो गये हैं। आत्रेय बड़े उत्साह से यह वर्णन करता है और इस विविध सौंदर्य की ओर नायक का ध्यान आकृष्ट करता है। लेकिन 'अच्छा है!' इतने शांति के साथ कहने के अलावा जीमूत-वाहन पर कुछ असर नहीं होता। प्रकृति-सौंदर्य की बात तो दूर रही; लेकिन जो सौंदर्यदेवी गा रही थी, उसे देखकर भी पहले पहल तो जीमूतवाहन का हृदय शुष्क रह जाता है।

तब जीमूतवाहन का हाथ पकड़कर उसे नायिका के सामने खींच ले जाने के अलावा आत्रेय के पास कोई रास्ता नहीं था। सुदैव से नायिका के पास आने पर जीमूतवाहन का हृदय-परिवर्तन होता है। यौवन उसके अन्तःकरण में उभड़ने लगता है। वह नायिका के सौंदर्य से मुग्ध हो जाता है। क्षण भर के लिए वह माता-पिता की सेवा और तप को भूल जाता है। जीमूतवाहन प्रेम करने लगता है।

प्रेम के साथ प्रेम की पीड़ा भी प्रारंभ होती है। नायिका की प्राप्ति तक उसके अनुभव में आने वाली अस्वस्थता को जीमूतवाहन भी महसूस करता है। इस समय आत्रेय के सामने ऐसा प्रश्न आता है कि नायक के मनस्ताप को दूर करने के लिए क्या-क्या किया जाय? प्रेम की बातों को छोड़कर फिर से गुरुसेवा का व्रत प्रारंभ करें, ऐसा पागल सा उपदेश आत्रेय पहले करता है। लेकिन बाद में विरह के शीतल उपचार उसे याद आते हैं। वह जीमूनवाहन को चंदन लतागृह में ले जाता है। ठंडी चंद्रमणि जैसी शिला पर बैठकर शरीर का दाह कम करने का उपाय बताता है। अन्त में वह नायक की चित्रकला-कौशल्य की स्तुति करता है और नायिका का चित्र उतारने के लिए उत्तेजना देता है। अब कहीं आकर आत्रेय के प्रयत्नों को थोड़ा सा यश आने

लगता है और इस गंभीर स्वभाव के जीमूतवाहन के मुख पर स्मित दिखने लगता है। बाद में जीमूतवाहन और नायिका का मिलन होता है। दोनों को परस्पर प्रेम का परिचय मिलता है। इस आनन्द के प्रसंग में जीमूतवाहन मलयवती का हाथ अपने हाथ में लेकर खड़ा होता है। आत्रेय को विनोद करने का एक ही एक अवसर मिल जाता है। वह नायक को उद्देश्य करके कहता है, 'हे मित्र ! तुम्हारा गांधर्व विवाह हो गया। अब उसका हाथ छोड़ दो।'

लेकिन दूसरे का मजाक उड़ाकर विनोद करने का आत्रेय का प्रयत्न व्यर्थ है। नायक के प्रेम में सहायक बनने का भी अवसर उसे नहीं मिलता। नायक-नायिका का विवाह उनके माता पिता ने तय किया है। जीमूतवाहन के माता-पिता ने मित्रावसु की प्रार्थना मान्य करके मलयवती को बहू के रूप में स्वीकार किया है। इसलिए प्रेमाराधन या विरह दिखाने वाले प्रसंग कहीं निर्माण नहीं होते। नायक के साथी के रूप में आत्रेय को कुछ विशेष कार्य करने के लिए अवकाश नहीं मिलता। प्रेम की पूर्ति तक अपनी सूझता दिखाने के लिए या मूर्खता दिखाने के लिए इस नाटक में विदूषक को अधिक अवसर नहीं मिला है। साधारणतया आत्रेय की भूमिका अस्थिर है।

इसीलिए अधिकतर आत्रेय का चित्रण हास्यकर रीति से किया गया होगा। आत्रेय दूसरों का मजाक उड़ा नहीं सकता। इसलिए दूसरे ही उसका मजाक उड़ाते हैं। उसे विनोद करने के लिए अवसर नहीं मिलता। लेकिन वह दूसरों को विनोद करने के लिए काफी अवसर प्राप्त करा देता है।

उसका चित्रण इस तरह हुआ है। तीसरे अंक का प्रसंग है।आत्रेय नायक से मिलने के लिए वाटिका की ओर निकला है। नायक-नायिका का विवाह अभी-अभी हुआ है। दामाद के मित्र के नाते वधूपक्ष की ओर से आत्रेय का खासा अच्छा सत्कार होता है। उसके शरीर पर लगे सुगंधित उबटन की खुशबू अब भी चारों ओर फैल रही है। उसको मिली हुई पुष्पमाला उसने सिर पर रखी है और मलयवती की दी हुई लाल रेशमी वस्त्रों की जोड़ी उसके हाथ में है। आत्रेय बड़ी खुशी से निकला है। लेकिन उद्यान के रास्ते में आत्रेय के शरीर और पुष्पमाला की सुगंध से भ्रमर आकृष्ट हो जाते हैं और सतत उसका पीछा करने लगते हैं। आत्रेय चिढ़ता है। लेकिन अब उसको ध्यान आ जाता है कि वधूपक्ष से मैंने अपना इतना सम्मान करा लिया, लेकिन उसीसे यह संकट आया है। केवल चिढ़ने से कोई फायदा नहीं था क्योंकि. गालियाँ देने से या भगा देने से भ्रमर जाने वाले नहीं थे। आत्रेय को एक युक्ति सूझती है। वह अपने पास का वस्त्र खोलकर अपने सभी शरीर को स्त्री की तरह ढक लेता है। अब भ्रमर पीछे लगकर गूँजते रहने पर भी शरीर सुरक्षित था। अपनी युक्ति का खुद आत्रेय को आश्चर्य होता है। भ्रमरों को निराश करके आत्रेय फिर से अकड़कर चलने लगता है।

इसी समय शराब के नशे में चूर शेखरक विट अपनी प्रेयसी नवमालिका, जो दासी थी, को ढूंढता हुआ वहाँ आता है। विट विदूषक को नमस्कार करने के लिए तैयार नहीं है। लेकिन रूठी नवमालिका के पैर पकड़कर उसका मन रखने के लिए वह उत्सुक हुआ है। स्त्रियों के वस्त्र से ढके हुए आत्रेय को सामने देखकर उसे लगता है कि यही नवमालिका है। वह दौड़ता हुआ आगे आता है। आत्रेय के गले लग जाता है और प्यार की बातें करता हुआ आत्रेय के मुँह में पान की गिलौरी ठूँसने का यत्न करने लगता है। विट के मुँह से निकलने वाली बू जिस प्रकार असह्य है उसी प्रकार उसका किया हुआ यह कार्य भी अत्यंत घबड़ाने वाला है। बिचारे आत्रेय की बड़ी दुरवस्था हो जाती है। एक मधुकर के (भ्रमर के) सताने से तो वह बच गया। पर दूसरे मधुकर के (शराबी के) हाथ में वह फँस गया है।

आत्रेय घबड़ा कर डर से चुप खड़ा है। शराब और प्रणय के नशे से चूर विट को लगता है कि नवमालिका का क्रोध अभी तक शांत नहीं हुआ है। अभी वह बोलती नहीं। इसलिए उससे क्षमा माँगने के लिए विट नीचे झुककर आत्रेय के पैर पर सर रखता है।

ठीक इसी समय वहाँ नवमालिका आती है। विट शेखरक उसका प्रियकर है। रूठकर रात में जो विरहाग्नि की सजा दी उसे काफी मानकर अब प्रियकर से समझौता करने के लिए ही वह आयी है। पहले वह आत्रेय को पहचानती नहीं। वह ऐसा ही समझती है कि विट एक स्त्री के सामने दंडवत प्रणाम करते हुए प्रेम याचना कर रहा है। उसका चिढ़ना स्वाभाविक है।

लेकिन इधर विट का चला हुआ पाजीपन आत्रेय को असह्य होता है। क्रोध में वह विट को 'शराबी' (मत्तपालक) की गाली देता है और उसकी नवमालिका कौन और कहाँ है, आँखें खोलकर ढूँढने के लिए कहता है।

आत्रेय की आवाज सुनते ही अपनी भूल नवमालिका जान जाती है। लेकिन उसे लगता है कि आत्रेय का मजाक उड़ाने का यह एक अच्छा मौका हाथ आया है। वह अपने क्रोध का स्वाँग जान बूझकर वैसे ही रखती है।

लेकिन विट के साथ उसका नौकर चेट है। उसने नवमालिका को आते देखा है। वह आगे आकर अपने स्वामी को आत्रेय को छोड़कर सच्ची नवमालिका के पास जाने की सूचना करता है। नवमालिका झूठे क्रोध में विट के साथ अब भी झगड़ने के लिए तैयार है। इस समय आत्रेय अपना लपेटा हुआ वस्त्र बगल हटाता है। परदा दूर होते ही यह विट के ध्यान में आता है कि आत्रेय कौन है। अपनी प्रेयसी की ओर मुड़ते ही उसके मन में ऐसा विचार आता है कि, अपनी हँसी उड़ाने के लिए आत्रेय ने जान बूझकर स्त्री का स्वाँग रचा है। 'लाल मुखड़े वाला मर्कट' कहकर विट'

आत्रेय को गाली देता है और नवमालिका के मान जाने तक आत्रेय को पकड़ रखने का हुक्म वह चेट को देता है।

चेट आत्रेय के पास आकर खड़ा होता है। विट नवमालिका के पास जाकर उसका क्रोध शमन करने के लिए आराधना करने लगता है। क्षण के लिए आत्रेय की ओर किसी का ध्यान नहीं है। यह जानकर कि अच्छा सा मौका है वह झट से दौड़ता है। लेकिन यह चेट के ध्यान में आता है। वह दौड़ता हुआ जाकर आत्रेय का जनेऊ पकड़कर उसे खींचता है। दोनों की खींचा-तानी में जनेऊ टूटता है। चेट को उसका क्या! वह भी अपने स्वामी का अनुकरण करते हुए आत्रेय को गाली देता है और उसी के उत्तरीय से फाँस बनाकर उसको खींचता हुआ पहली जगह ले आता है।

भाग जाने के प्रयत्न में इन प्रकार असफल हो जाने पर आत्रेय दीनता से नवमालिका की ओर मुड़ता है और इस कठिन प्रसंग से अपनी मुक्ति कराने की उससे बिनती करता है।

नवमालिका अकड़कर कहती है 'पहले नीचे झुककर मेरे पैर छुओ।'

अब आत्रेय चिढ़ जाता है। उसका ब्राह्मण्य हड़बड़ाकर जागृत होता है। वह क्रोध से पूछता है, 'मैं....मैं राजा का साथी और ब्राह्मण! तुझ जैसे रंडापुत्री के पैर पकड़ूँ?'

नवमालिका हँसकर कहती है, 'मेरे पैर पकड़ने की बारी तुम पर आती है, या नहीं उसे तुम्हीं देखोगे।'

मन में कुछ दाँव रचकर नवमालिका यह बातचीत वहीं छोड़ देती है। वह विट की ओर मुड़ जाती है। अपना क्रोध नष्ट हुआ सा प्रतीत करते हुए वह उससे प्रेम से कहती है। 'यह आत्रेय अपने स्वामी जो मित्रावसु हैं उनके दामाद का साथी है। उसके साथ अगर हम ऐसा बर्ताव करेंगे तो हमारे स्वामी अपने ऊपर चिढ़ ही जायेंगे। इस-लिए आत्रेय को न सताकर उससे ब्राह्मण के रूप में अच्छा वर्ताव करना चाहिए।'

नवमालिका का कथन विट को झट से पटता है। प्रेयसी की आज्ञा का झट से अमल करने के लिए विट आत्रेय के पास जाकर उसके गले लगते हुए कहता है, 'तुम अपने में से हो; इसलिए तेरा थोड़ा सा मजाक उड़ाया, बस।' लेकिन विट के मन में एक बात खटकती है। आत्रेय ने थोड़ी देर पहले उसे 'मत्तपालक' (शराबी) कहा था। विट पूछता है, 'क्या मैं सचमुच शराबी हूँ?' जो भी हो मुक्ति होती हुई देखकर आत्रेय गड़बड़ी से कहता है 'आ हाँ।' 'मैंने केवल ऐसे ही कहा था।'

इतना आश्वासन विट के लिए काफी है। अपनी प्रेयसी और इस ब्राह्मण का एक ही समय सन्मान करने के उद्देश्य से विट अपना उत्तरीय तहाकर एक शिला तल-पर बिछाता है और उस पर उन दोनों को बैठने के लिए कहता है। फिर वह शराब

का प्याला भरता है। उसे सुवासित बनाने के लिए उसमें फूल डालता है और घुटने टेककर वह प्याला नवमालिका के सामने करता है। वह हंसते हंसते एव घूंट लेती है और प्याला वापस करती है। फिर विट वह प्याला आत्रेय के सामने करता हुआ कहता है, 'इस शराब का स्वाद शेखरक के अलावा दूसरे किसी ने नहीं लिया। अब तो नवमालिका के मुख स्पर्श से उसके स्वाद को सुगंध का बेजोड़ साथ मिला है। इसलिए पिओ। इसके अलावा मैं तुम्हारा सम्मान क्या कर सकता हूँ?'

उस बेचारे आत्रेय को क्या कल्पना होगी कि अपना सम्मान इस प्रकार होगा? हँसे या रोये यही उसकी समझ में नहीं आता। विट को अपने ब्राह्मणत्व की सूचना देता है। विट उस पर कहता है कि 'यदि तुम ब्राह्मण हो तो अपना जनेऊ दिखाओ।' आत्रेय का दुर्दैव! ब्राह्मण्य का यह प्रतीक वह उसे कभी भी दिखा सकता। लेकिन पहले की खींचा-तानी में आत्रेय का जनेऊ टूट गया है। इस पर नवमालिका ऐसा सुझाती है कि आत्रेय वेद के कुछ मंत्र पढ़ कर दिखायें और अपने ब्राह्मण होने का विट का विश्वास निर्माण करें। यह तो और बड़ा संकट आ गया। एक तरह से जनेऊ दिखाना आसान था। लेकिन मंत्र? आत्रेय विट से कहता है, 'मद्य की बास से वेद के अक्षर गायब हो गये हैं।' आत्रेय ने प्रसंगावधान रखा है फिर भी मन में वह अच्छी तरह जान गया है कि विट को निश्चित रूप से समझा देने के लिए अपने पास कोई भी साधन नहीं है। उसे मंत्र आते हों तब ना! इस संकट से छुटकारा पाने का कोई भी मार्ग बचा हुआ नहीं है। अंत में यह नाम मात्र का ब्राह्मण नवमालिका के पैर पकड़ता है। उसका वचन इस प्रकार सच होता है। ब्राह्मण्य का गर्व रखने वाले आत्रेय को एक दासी से याचना करने की बार आती है।

आत्रेय की इतनी फजीहत करने का नवमालिका का उद्देश्य नहीं था। सिर्फ उसे थोड़ा सा मजाक करना था। इसलिए आत्रेय की यह दुर्दशा देखकर वह विट को रुकने के लिए कहती है। वह खुद आत्रेय के पैर छूती है। उसे ब्राह्मण होने का आश्वासन वह विट को देकर उससे क्षमा माँगती है। प्रेयसी की आज्ञाओं का पालन करने के लिए विट हमेशा तैयार है। आत्रेय के सामने विट ऐसा मान्य करता है कि मद्य के नशे में अपने हाथ से यह अपराध हो गया। और फिर यह जोड़ी शराब पीने के लिए अड्डे की ओर जाती है। आत्रेय अपनी मुक्ति हो जाने पर निःश्वास छोड़ता है। उनके जाने पर शराबियों द्वारा हुई छुआछूत धोने के लिए आत्रेय कुएँ पर स्नान करता है और नायक की ओर आता है।

लेकिन आत्रेय का दुर्दैव अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। कुसुमाकर उद्यान में नायक, नायिका और उनकी एक दासी बैठी रहती है। आत्रेय को आने में देर हो गयी है। सहज ही नायक उससे पूछता है। अपनी क्या दुर्दशा हो गयी थी? यह

बताने के लिए आत्रेय मूर्ख नहीं है। वह वहाँ गप हाँकता है। 'विवाह के निमित्त से सिद्ध और विद्याधर इकट्ठा हो गये थे। उनको मद्यपान की बैठक का समा बँध गया था। उसका आनंद देखते हुए समय कैसे बीता यही ध्यान में नहीं आया।'

आत्रेय के स्पष्टीकरण पर और भाष्य न करते हुए नायक उठता है। सभी तमालवीथी की ओर आते हैं। यह आत्रेय के ध्यान में आता है कि वहाँ पहुँचने पर उतने चलने से मलयवती थक गयी है। वह जीमूतवाहन को वैसी सूचना देता है। नायक प्रेमावेग में उसे उद्देश्य करके कहता है; 'यह हिलता-डुलता स्वाभाविक सौंदर्य पास होते हुए उद्यान की शोभा देखने के लिए वास्तव में पैदल आने का परिश्रम उठाने की कोई आवश्यकता नहीं थी।' नायक के इस प्रेमपूर्ण और मोहक स्तुति से मलयवती की दासी को मन से आनंद होता है। आत्रेय को टोकती हुए वह कहती है, 'हमारी स्वामिनी का वर्णन कैसे किया वह सुना क्या ?' आत्रेय किंचित् चिढ़ कर उत्तर देता है, 'स्त्री के सौंदर्य का वर्णन किया, इसलिए इतने बौखलाने की आवश्यकता नहीं। पुरुष में सौंदर्य नहीं ऐसा थोड़े ही है ? केवल इतना ही है कि मत्सर के कारण उसका कोई वर्णन नहीं करता।'

आत्रेय से छेड़-छाड़ करने के लिए यह अच्छा मौका है। यह बात उस चतुर दासी के—उनका नाम भी चतुरिका है—ध्यान में झट से आती है। वह आत्रेय से कहती है, 'तुम्हारा वर्णन मैं करती हूँ। दासी द्वारा प्रयुक्त 'वर्णयामि' इस शब्द का अर्थ 'मैं चित्र खींचती हूँ।' ऐसा मानने से आत्रेय को मन से आनंद होता है। विट और चेट ने गाली-गलौज करके उसे 'लाल मर्कट' कहा था। उसका वह दुःख उसके मन से अभी नहीं गया है। इसलिए वह उससे कहता है, 'ऐसा होने से मुझे जीवदान देने की तरह होगा। सच इतनी कृपा करो। फिर मैं इस तरह के या उस तरह के मर्कट की तरह दिखता हूँ, ऐसा कोई नहीं कहेगा।'

दासी स्वीकार करती है। फिर यह प्रश्न उठता है कि आत्रेय चित्र के लिए किस तरह बैठे। दासी सुझाती है कि आत्रेय चित्र के लिए किस तरह बैठे। दासी सुझाती है कि विवाह समारंभ शुरू था जब इकट्ठे हुए सभी लोग जाग रहे थे; तब आत्रेय अकेला आँखे मूँदकर ऊँघ रहा था। उस समय की उसकी मूर्ति बहुत ही सुन्दर दिखती थी। फिर यदि आत्रेय उसी तरह बैठे तो उसे 'रंगना' आसान हो जायेगा। इस आनंद में कि अपना चित्र उतारा जायेगा, आत्रेय यह सूचना तुरन्त मान लेता है। चित्र के विषय के लिए आत्रेय का खास चुनाव हुआ, इसके लिए जीमूतवाहन भी उसे धन्यवाद देता है। आत्रेय खुश होता है।

फिर आत्रेय दोनो आँखें बन्द करके चित्र के लिए खड़ा हो जाता है। दासी

झट से तमालपत्र लेकर हथेली पर मलती है और उस काले रस से आत्रेय का मुँह रँगाती है।

क्या हो गया है, यह आत्रेय के ध्यान में आने के लिए देर नहीं लगती। दासी के इस पाजीपन से आत्रेय कुछ रोता है और लाठी उठाकर उस पर दौड़ पड़ता है, लेकिन विदूषक का वह स्वाँग देखकर मलयवती को हँसी आती है और जीमूतवाहन अनजाने में उसकी ही पुष्टि करता है। राजकुल में यह अतिप्रसंग हो जाने पर और नायक का उसे अप्रत्यक्ष साथ होने पर अब शिकायत भी किससे करे? मन से चिढ़कर आत्रेय कहता है, 'तुम्हारे सामने इस रंडीपुत्री ने मेरा अपमान किया। अब यहाँ रह कर भी मेरा क्या होने वाला है? मैं कहीं अन्यत्र जाता हूँ।'

आत्रेय को चिढ़ा हुआ देखकर उसको समझाने के लिए दासी उसके पीछे दौड़ती है। लेकिन फजीहत और पराजय से लजा हुआ आत्रेय अपना काला हुआ मुख लेकर रंगमंच से जो जाता है वह फिर लौट नहीं आता।

नागानंद का यह प्रसंग विनोद की दृष्टि से सुन्दर है ही पर विदूषक की फजी-हत के हमेशा के चित्रों की अपेक्षा हर्ष ने उसे और भड़कीला क्यों किया है? केवल हास्यनिर्मिति के लिए! या इस मजाक के पीछे क्या कोई सामाजिक हेतु है? ब्राह्मण विदूषक का हमेशा मजाक उड़ाया जाता है। लेकिन जनेऊ तोड़ना, मद्यप्राशन कराना, मुँह काला करना यहाँ तक के जो अतिप्रसंग हर्ष ने चित्रित किए हैं वह हर्षकालीन बुद्धधर्म के पुनरुज्जीवन का प्रतिबिम्ब तो नहीं होगा?

११. वैखानस

विदूषकः—इदानीं प्राप्यराज्यानां अशित्वा पीत्वा तिष्ठताम् ।
निपुणिका—यदा त्वं राजा तदा इदं राजकार्यम् ।

—कौमुदीमहोत्सव, ५.

रानी विजयभट्टारिका के कौमुदीमहोत्सव नामक नाटक में विदूषक का पात्र है। उसका नाम है वैखानस। वैखानस के सम्बन्ध में निपुणिका नामक दासी का पहले जो मत हो जाता है वह ऐसा है कि वह दिखने में मर्कट जैसा है और उसकी आवाज गर्दभ की तरह है। इससे निर्मित विनोद उतने ही समय के लिए है क्योंकि यह उल्लेख इतना ही सूचित करने के लिए आया है कि वैखानस विदूषक है।

लेकिन विदूषक की भोजनप्रियता लेखिका ने जानबूझकर जरा विस्तार से वर्णित की है। मोतियों का हार जमीन पर गोलाकार में पड़ा रहता है। उसे देखकर वैखानस को चावल की याद आती है। दूसरे अंक में वह अकेला ही इधर उधर घूमता रहता है। उस समय उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। एकाध डेरे का मेहमान जैसा उपेक्षित रहता है वैसी अपनी उपेक्षा होती हुई देखकर वैखानस को बुरा लगता है। बाद में जब उसे नायक की परिचारिका मिलती है तब वह भोजन का निमंत्रण मिले हुए याचक के समान खुश होता है। तीसरे अंक में नायिका का चित्र खींचने में नायक रम जाता है, तब इधर वैखानस भूख से व्याकुल हो जाता है। पाँचवें अंक में दुःखी मनःस्थिति में रहा हुआ नायक आराम मिलने की दृष्टि से जब वैखानस की ओर आता है तब कालिदास के माणवक की तरह, वैखानस उससे कहता है 'हम भोजनगृह में जायँ? या रसोई घर में जायँ?' नायक को सलाह देते समय वैखानस

ऐसा उपदेश करता है कि 'पुराना प्रेम भूल जाओ' और कहता है, 'अब तुम्हें राज्य वापस मिल गया है। इसलिए खाओ, पिओ और मजा करो।' वैखानस की कल्पना है कि राजा को इतना ही काम होता है। इसीलिए निपुणिका कहती है कि 'जब तुम राजा बनोगे तब खाने पीने के अलावा दूसरा कोई राजकार्य नहीं होगा।'

वैखानस डरपोक भी है। चित्र की गेंडली देखकर उसे सांप के होने का शक होता है और वह घबड़ा जाता है। उसे दासी का भी डर लगता है। वह उसे अपना चित्र रँगने के लिए कहता है। लेकिन जब दासी उसे क्रोध में दुतकारती है तब वह डरकर उसे मोतियों की माला देकर उसकी स्तुति करने लगता है।

नायक के सहचर के नाते वैखानस को सहानुभूति है। फिर भी वह नायक का मजाक उड़ाता ही है। नायक का राज्य नष्ट हो चुका है। अब वह प्रेम में फँस चुका है। वैखानस को यह अवस्था कष्टदायक लगती है। वह कहता है, 'यह तो अन्धे का कूप में गिरने की तरह हुआ है।' नायिका नायक का चित्र रँगती है। उसकी ओर नायक मग्न होकर देखता रहता है वैखानस पूछता है 'तुम उसकी चित्रकला के कौशल पर मुग्ध हो गये हो या खुद के सौंदर्य पर खुश हो?' बाद में नायक जब प्रेमपीर से विह्वल होकर शोक करने लगता है तब वैखानस कहता है, 'अकेले पड़े हुए सियार की तरह व्याकुल होना काफी हुआ। मेरे साथ तो बोलो।'

लेकिन वैखानस नायक से सहानुभूति भी रखता है। जमीन पर गिरा हुआ मोतियों का हार उठा लेना चोरी है ऐसा, समझकर वैखानस पहले चौंकता है। लेकिन नायक के सामने संतोषजनक रीति से स्पष्टीकरण करता है। नायिका का चित्र खींचने के लिए वह नायक को प्रोत्साहन देता है, प्रेम की पीर को प्रकट करके उसके मन का बोझ हल्का करता है, और विश्राम के लिए वह उद्यान की ओर ले जाता है। अन्तिम अंक में मोतियों की माला फिर दिखते ही नायक की आंखों में आँसू आते हैं। वैखानस सहानुभूति के स्वर में कहता है, 'सज्जन की कथा सुनकर कोई भी गदगद हो जायेगा और उनके पहने हुए अलंकार की बात हो तो आंसू आना कितना स्वाभाविक है।' अन्त में नायक का प्रेम सफल होता है। अपने इस भाग्य पर उसका विश्वास नहीं होता। वैखानस प्रेम से कहता है, 'तुम्हारे शरीर के रोंगटे खड़े हो गये हैं उन पर तो विश्वास होगा ना?' नायक और विदूषक इनकी परस्पर मैत्री का प्रमाण ही देखना हो तो, विरहपीडा से सन्तप्त नायक वैखानस की गोद में सिर रखकर सोता है। यह उल्लेख नाटक में आया है जो ध्यान देने योग्य है।

कथानक के विकास में वैखानस की ओर कोई भी महत्वपूर्ण काम नहीं है। लेकिन उसका कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है सो बात नहीं। बहुत ही छोटा सा कार्य उसकी ओर आया है। नायक की परिचारिका विनयंधरा परिव्राजिका का वेश धारण

करके नायिका के परिवार में शामिल हुई। उससे भेंट करना यह वैखानस का प्रमुख कार्य है। कुछ विशेष प्रयत्न के बिना ही वैखानस विनयंधरा से मिल पाता है। यह सब कार्य हो जाने के बाद आनन्द में लोग अपने को मूर्ख समझते हैं, फिर भी अपने 'स्नातक'—कृतकृत्य—होने की बड़ाई करता हुआ वैखानस दिखाता है। उसको प्राप्त हुई मोतीमाला नायिका की दासी के हाथ में देने से नायक और नायिका के बीच एक स्वाभाविक बन्धन तैयार होता है। वही बात चित्रालेख की भी है। नायक की प्रेमविह्वल दशा उसने परिचारिका को समझायी है ही। उससे चित्रालेख लेकर नायक को देते समय परिचारिका का धैर्यपूर्ण सन्देश भी पहुँचा सकता है। नायिका का चित्र उतारने का जो प्रोत्साहन वैखानस नायक को देता है उससे नायिका की प्रेमभावना और दृढ़ होने के लिए अप्रत्यक्ष मदद होती है। नायिका का मन तैयार करने की जिम्मेदारी परिचारिका पर है; फिर भी एक ही आलेख पर, नायिका के उतारे नायक के चित्र के पास अब उसका चित्र उतारने से वह चित्रालेख नायक-नायिका के मिलन का चित्र हो जाता है। मोतीमाला को भी प्रेम चिह्न का स्वरूप प्राप्त होता है। पुरोहित की ओर से नायक के हाथ जो माला आती है वह वैखानस के हाथ से। इस प्रकार प्रेम साफल्य में वैखानस मदद करता है।

व्यक्ति चित्रण के रूप में पुराने नाटकों के विदूषकों के सामने वैखानस हमेशा तेजस्वी नहीं है। कालिदास के माणवक और माढव्य की तरह वह भोजनप्रिय है, उसी तरह उनके ही विनोद वह फिर से करता है। वैखानस में मूर्खता है, लेकिन उसका उपयोग हास्यनिर्मिति या कथाविकास के लिए नहीं हुआ है। नायक की वह सच्ची भक्ति करता होगा, लेकिन वह कहीं भी उदात्त नहीं हुई है; उसी प्रकार का प्रसंग इस नाटक में नहीं। उज्जयिनी के कारागार में कैद उदयन से भेंट करने का महत्वपूर्ण कार्य यौगंधरायण ने वसंतक को बताया था और वह उसने किया है। लेकिन नायक की परिचारिका से भेंट करने का अमात्य मंत्रगुप्त द्वारा बताया गया कार्य करते समय वैखानस को कुछ भी कष्ट उठाना नहीं पड़ता। खुले मन का हास्य करने वाली मूर्खता, या आश्चर्य में डालने वाले विनोद की चमक, इनमें से एक भी वैखानस के पास नहीं है। केवल इतना ही है कि संस्कृत नाटक के संकेतानुसार वैखानस का साथ नायक से हुआ है।

●●●

१२

कपिञ्जल

ईदृशं राजकुलं दूरे वन्द्यतां यत्र दासी ब्राह्मणेन समं प्रतिस्पर्धां करोति। तदद्यप्रभृति निजवसुन्धराब्राह्मण्याःचरणशुश्रूषकः भूत्वा गृहे एव स्थास्यामि।

—कर्पूरमंजरी, १

राजशेखर के प्राकृत सट्टक का विदूषक सामान्यतया कपिंजल ब्राह्मण से जाना जाता है। उसके नाम से भूरे रंग की कल्पना करने पर ऐसा कह सकते हैं कि वह मर्कट की तरह अर्थात् कुरूप होगा।

लेकिन अपने वेश का खुद कपिंजल ने जो उल्लेख किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि वह लम्बी दाढ़ी और टोकरी जैसे बड़े कान वाला होगा। नाटक में भी एक जगह पिंजड़े का तोता उसकी चोटी उखाड़ने की धमकी देता है इससे उसकी ब्राह्मण की तरह लम्बी शिखा होना प्रकट होता है।

विदूषक का मत है कि भूख से जब ब्राह्मण तड़पने लगता है तब उसे मोदक के स्वप्न दिखने लगते हैं। सिंधुवार फूलों की तुलना वह दूध में पकाये नरम चावल के साथ करता है, तो जाई के फूलों को भैंस के दूध की उपमा देता है। रानी के सम्बन्ध में बातचीत करते समय वह एक बार दूध और छाछ का उल्लेख करता है। कपिंजल के ये उल्लेख उसकी भोजनप्रियता दिखाते हैं।

ऐसा नहीं दिखता कि कपिंजल ने कुछ अध्ययन करके कुछ अक्षरों को पीड़ा दी है। लेकिन वह अपने विद्वान होने की डींग हाँकता है। उसका कहना है कि एक पंडित के घर में उसके श्वसुर के श्वसुर ग्रन्थ वहन का कार्य करते थे। दासी विचक्षणा कपिंजल को अच्छी तरह जानती है और यह उसे मालूम है कि तराजू की डांडी पर

जिस प्रकार वजन के चिह्न नहीं होते वैसे ही कपिंजल कोरा है। इसलिए वह कहती है कि विद्वत्ता का हिस्सा कपिंजल की ओर आया है वह केवल अन्वय से, अर्थात् दूर से, प्रत्यक्ष नहीं। उस पर कपिंजल चिढ़कर कहता है कि उसकी तरह जो 'अकाल-जलद कुल में पैदा हुए हैं उन्हें विद्वत्ता अन्वय से अर्थात् वंश परम्परा से प्राप्त हुई है। इतने शब्दों से दोनों का झगड़ा शुरू होने में देर नहीं लगती। अपनी शक्ति सिद्ध करा के दिखाने की तैयारी कपिंजल की है। कपिंजल यह जानता है कि कस्तूरी कहीं देहात या बन में बिकती नहीं और सोने की परीक्षा कसौटी पर कसने से ही होती है। फिर भी हाथ के कंगन के लिए आइने की जरूरत न होने का आत्म-विश्वास रहने से राजा और रानी के सामने अपने ज्ञान की परीक्षा देने के लिए कपिंजल तैयार है।

झट से यह स्पर्धा तय होती है। ऐसा तय होता है कि कपिंजल और विचक्षणा वसन्त ऋतु का वर्णन करके दिखायें। दोनों ही अपनी अपनी कविता बारी बारी से पढ़कर दिखाते हैं। कपिंजल के मित्र के नाते राजा उसका पक्ष ले ऐसी अपेक्षा हो तो कपिंजल को निराश होना पड़ेगा क्योंकि विचक्षणा की कविता अधिक सरस होने को राजा स्वीकार करता है। कपिंजल चिढ़ता है, कुढ़ता है। विचक्षणा कहती है कि कपिंजल के पास कोमल शब्द प्रयोग करने की शक्ति है लेकिन उसे उसने फालतू विषय पर खर्च की है। इतना स्वीकार करने पर भी कपिंजल को सन्तोष होना कठिन हैं। वह दासी को गालियाँ देता है, वह भी उसे अपशब्द कहती है; और यह गाली-गलौज राजा और रानी के सामने होने लगती है। शब्द से मारपीट की बारी आती है। दासी को कान खींचकर तमाचा मारने की धमकी कपिंजल देता है तो उसका हाथ तोड़ने का आश्वासन विचक्षणा देती है। अंत में उसकी फजीहत हो जाने से कपिंजल राजकुल की बुरी दशा के लिए शोक करने लगता है। वह कहता है 'शराब और पंचगव्य को एक ही बरतन में रखना हो, एक ही अलंकार में माणिक और काँच का पास ही बिठाना हो, अर्थात् एक दासी को ब्राह्मण के साथ मान देना हो तो जिस राजकुल में यह अन्धेर है उस राजकुल को दूर से ही नमस्कार है। इसकी अपेक्षा घर में बैठकर पत्नी के पैर दबाना क्या बुरा है।'

कपिंजल केवल क्रोध से बोलता ही नहीं, वह सचमुच राजा और रानी को नमस्कार करके चलने लगता है। उसके चले जाने पर रानी को बुरा लगता है। वह कहती है, 'कपिंजल न हो तो क्या मजा आयेगा?' रानी के मन में उसे मनाकर फिर वापस बुला लेने का है। लेकिन दासी को वह व्यर्थ ही लगता है। कपिंजल भी दूर से ही चिल्लाता है, 'मैं नहीं आऊँगा। आने वाला ही नहीं! राजमहल में विदूषक की जरूरत हो तो दासी को ही दाढ़ी और लंबे कान लगाकर विदूषक की जगह नियुक्त

करो ।' दासी और विदूषक के झगड़े का अंत इस तरह विदूषक की फजीहत में होता है। कपिंजल इस बार वापस नहीं आता। लेकिन थोड़ी देर बाद कारण ढूँढ़ कर वह आता है और बाद में इस तरह बर्ताव करता है कि दासी का और उसका झगड़ा ही नहीं था।

राजा कर्पूरमंजरी से प्रेम करता है और मित्र के नाते उसकी मदद करने के लिए कपिंजल तैयार हुआ है। दासी पर अब भी उसे पूरा विश्वास नहीं है क्योंकि उसे बनाने की या मजाक उड़ाने की आदत ही पड़ गयी है। लेकिन जब वह आश्वासन देती है कि काम अलग चीज है और मजाक अलग, तब कपिंजल पहले का सब कुछ भूल कर उसके साथ समझौता करता है और दोनों मिलकर इसकी योजना करते हैं कि राजा को कर्पूरमंजरी किस प्रकार प्राप्त होगी। एक बार इतना विश्वास हो जाने पर विचक्षणा और उसकी बड़ी बहन का काव्य कला में प्रवीण होने की स्वीकृति कपिंजल खुले दिल से देता है। इतना ही नहीं, विचक्षणा को 'पृथ्वी की काव्यदेवी' और सुलक्षणा को 'त्रिलोक की काव्यदेवी' कहकर उनका वर्णन करता है।

अपने धन्धे के अनुसार कपिंजल राजा के सम्बन्ध में भी कई बार मजाक करता है। तीसरे अंक के प्रारम्भ में राजा अपनी प्रेयसी के बारे में स्वगत कथन करता रहता है। वह सुनकर कपिंजल पूछता है, 'इस प्रकार पत्नी से डरने वाले पति के समान क्या कुड़कुड़ा रहे हो ?' बाद में राजा उसे अपना स्वप्न विस्तार से कहता है। उसपर कपिंजल झूठ-मूठ राजा से कहता है कि उससे बढ़कर एक बढ़िया स्वप्न उसने भी देखा है। राजा मन में समझ लेता है कि इस प्रकार के हवामहल बाँधने से कोई फायदा नहीं होता।

इस प्रकार एकाध बार कपिंजल राजा का मजाक उड़ाता है फिर भी उसका साधारणतया दृष्टिकोण राजा की मदद करना है। दासी की सहायता से और अपने बल पर, वह प्रेम प्राप्ति के सम्बन्ध में बड़ी सहायता करता है। जादूगर को प्रसन्न करके वह कर्पूरमंजरी को उसके देश से लाने के लिए कहता है। रानी के कथानुसार, कर्पूरमंजरी को अपनी हकीकत कहने के लिए उत्तेजन देता है। अपने उपरने को तहा कर उसे बैठने के लिए देता है। दासी की सूचना को समझकर वह राजा को उपवन में पास के शिला तक के पास ले आता है। वहाँ से झूले पर झूलनेवाली कर्पूरमंजरी को देखने का सुख राजा को मिलता है। थोड़ी देर से वह राजा को तमाल वृक्ष के पास ले जाता है। वहाँ से कर्पूरमंजरी को अधिक निकट से देखने का मौका राजा को मिलता है। मत्सरी रानी से छिपाकर कपिंजल और दासी ने कर्पूरमंजरी की राजा से भेंट करायी। यह एक पराक्रम ही था। राजा जब उसे इसके लिए धन्यवाद देता है तब कपिंजल अपनी डींग हाँकते हुए कहता है; 'उस बूढ़ी बिल्ली को (रानी को) छाछ पिलाया ! लेकिन उसे लगता है कि दूध ही पी रही है।'

प्रेम का वर्णन करने के लिए और प्रेयसी से नैकट्य बढ़ाने के लिए कपिंजल से राजा को उत्तेजन मिलता ही रहता है। लेकिन बोलने के सम्बन्ध में कपिंजल का बातूनी स्वभाव इतना उमड़ पड़ा है कि वह उसकी ब्राह्मण जाति को और विदूषक के धन्धे को ही शोभा देता है। लेकिन कपिंजल में काव्यशक्ति भी है जो उसकी मूर्खता और विदूषक की भूमिका से असंगत लगने योग्य है। राजा और कर्पूरमंजरी का और उनके प्रेमविह्वल दशा का कपिंजल ने अत्यंत काव्यमय और सुन्दर वर्णन किया है। बाद में चन्द्रोदय और उत्सव के निमित्त प्रस्तुत किये नाट्यप्रयोग का वर्णन करने का कार्य भी कपिंजल की ओर ही आया है। इन सब वर्णनों में सुन्दरता है वैसे विस्तार भी। खुद कपिंजल ही राजा से कहता है: 'तुम सूत्रकार हो, मैं तुम्हारा टीकाकार होकर विस्तार से वर्णन करता हूँ।'

कपिंजल राजा के लिए नौकर का काम करने को तैयार है। नायक का प्रेम-ज्वर उतारने के लिए 'शीतलसामग्री' ले आने के लिए वह निकलता है। बन्द दालान में जब नायिका पसीने से तर हो जाती है तब कपिंजल पंखे से हवा करने लगता है। रानी का कर्पूरमंजरी को कारागृह में रखने की वार्ता वही राजा की ओर ले आता है।

जब रानी कर्पूरमंजरी को क़ैद करके उस पर पहरा बिठाती है तब कर्पूरमंजरी और राजा की भेंट कराने की चतुरता केवल जादूगर ही दिखाता है। उनका विवाह तय करने का श्रेय उसे ही देना चाहिए। फिर भी यह मान लेना ही पड़ेगा कि नायिका और नायक इनका नैकट्य बढ़ाकर प्रेम बढ़ाने का कार्य कपिंजल और दासी के परिश्रम के कारण ही पूर्ण हो गया है। विदूषक की सहायता कितनी मूल्यवान है इसकी पहचान राजा को है। वह कहता है, 'मेरा कार्य दूसरा कौन करेगा? चंद्र के सिवा सागर में ज्वार कौन ला सकता है?' अंत में राजा का कर्पूरमंजरी से विवाह होता है तब कपिंजल पौरोहित्य करता है और दक्षिणा के रूप में राजा उसे सौ गाँव इनाम देता है।

लेकिन राजा की प्रेम प्राप्ति में इस तरह सहायता देने वाला, विवाह के समय पौरोहित्य करने वाला या सुन्दर काव्यमय वर्णन करने में कपिंजल ने अपनी योग्यता दिखायी है। फिर भी इन सब बातों में ऐसा प्रत्यय कहीं भी नहीं आता कि वह मूलतः विदूषक है। पहले अंक में जो उसका विदूषकपन दिखता है उतना ही। बाद में कथानक में तो नायक के सामाजिक जीवन का एक मित्र या राजा का सहायक इसी भूमिका में कपिंजल घूमता हुआ नज़र आता है। इसमें कोई शक नहीं कि विदूषक राजा का साथी और सहायक होता है, लेकिन इन दो भूमिकाओं का स्पष्ट अंतर पुराने नाटकों में कभी दिखता नहीं था। लेकिन ऐसा लगता है कि कपिंजल केवल विदूषक का धन्धा कर रहा है। इसलिए उसके चित्रण के विनोद की मिठास नष्ट हो गयी है।

●●●

१३. चारायण

ही ही ! भो एते खलु परिडता अलीकविकल्पैः विस्मृतफला इव मर्कटा मूलमलभन्तः पल्लवग्राहिणो भवन्ति । मूर्खाः पुनः पनसवनपालका इव मूलमनुसरन्तः फलं प्राप्नुवन्ति ।

—विद्धशालभञ्जिका, २.

चारायण दिखने में बिलकुल विदूषक है । टोकरी जैसे कान के कारण वह मर्कट की तरह दिखता है । इसे हम अनजाने में जान लेते हैं । केलिकैलास नामक क्रीडा मंदिर की ओर चारायण राजा को ले आया है । वहाँ अनेक चित्र रँगाये गये हैं । उनमें से पिंजड़े में बंद मर्कट के चित्र की ओर राजा का ध्यान खींचता है । चित्र देखकर राजा कहता है, 'मित्र ! यह तो तुम्हारा ही चित्र दिखता है ।' चारायण चिढ़ता है और 'दुर्जनों के वचन की तरफ ध्यान नही देना चाहिए', इस तरह कहकर मुँह फेरता है । लेकिन हमें जो समझना है उसे समझ लेते हैं । बाद में अपने सिर का गंजा होना चारायण स्वीकार करता है ।

चारायण ब्राह्मण है, और जब राजा एक सुन्दर युवती का स्वप्न देखता है तब चारायण अपने जनेऊ पर हाथ रखकर आशीर्वाद देता है कि वह सच हो ।

ब्राह्मण की तरह चारायण को खाने से प्रेम होना चाहिए । लेकिन नाटक में उसके पेटूपन का उल्लेख जान-बूझ कर नहीं किया है । उसकी बातों में खाने की चीजों का उल्लेख होता है । राजा के प्रेम का रहस्य समझने के लिए वह कहता है, 'आम की गुठली दबाये बिना उनका रस नहीं निकलता ।' पककर फूटने के लिए आये अनार की

तरह उसका हृदय कुतूहल से फूट रहा है। स्वप्न में मोदक देखकर सब गाँव को निमंत्रण देने निकले आदमी की उसे याद आती है।

लेकिन खुद को दक्षिणा के रूप में जो मिलेगा वह स्वीकारने की चारायण की तैयारी है। विवाह के समय वेशभूषा आदि करके राजा के तैयार हो जाने पर वस्त्र, सुगंधी द्रव्य आदि जो बचता है उसे चारायण ले जाता है। इसके अलावा विवाह के समय राजा के मित्र के नाते उसे भेंट भी चाहिए।

चारायण स्वीकार करता है कि वह काला अक्षर भैंस बराबर है। चारायण का खुद का दूसरा विवाह रचा जाता है तब वह मौन रहता है। उस समय राजा उससे कुछ पूछता है और मौन के कारण चारायण जमीन पर कुछ लिखकर उत्तर देता है। उसकी ओर देखकर राजा कहता है, 'मैं अठारह लिपियाँ जानता हूँ लेकिन तुम्हारे अक्षर कुछ समझ में नहीं आते।' ताड़पत्र पर लिखा हुआ काव्यमय पत्र खुद पढ़ने की अपेक्षा वह राजा के हाथ में देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह अनपढ़ है। प्रेम में फँस जाने पर राजा मन से रानी का विचार छोड़ देने का प्रयत्न करता रहता है। वह देखकर चारायण कहता है, 'पढ़ा हुआ पाठ झट से भूल जाने वाले आलसी की तरह यह हो गया है।' इससे कहने की आवश्यकता नहीं कि चारायण की अपनी विद्वत्ता अगाध है। इसका पराक्रम इतना है कि अपने सूत्र की आधी पंक्ति वे पढ़ चुके है।

चारायण डरपोकपन का भी स्वाँग करता है। स्फटिक की दीवार की ओर से बोलने की आवाज सुनकर चारायण को ऐसा लगता है कि कोई यक्ष-पिशाच होगा। और उसके परिहास के लिए वह राजा से भी शिखा में गाँठ बाँधने के लिए कहता है। चलते-चलते स्फटिक की दीवार के पास आते ही राजा और विदूषक उससे टकराते हैं और उनकी गति रुक जाती है। दीवार स्फटिक की होने से टकराने का कारण झट से ध्यान में नहीं आता। ऐसा लगता है कि एकाध अदृश्य भूत होगा। झट से चारायण अपनी लाठी उठाकर अपना शौर्य दिखाने निकलता है। लेकिन बातचीत की आवाज सुनकर वह रुक जाता है। वह ऐसा तर्क करता है कि वे ब्रह्मराक्षस होंगे क्योंकि उसे मालूम था कि इस जाति को रात प्रिय होती है। वास्तव में यहाँ न भूत है न ब्रह्मराक्षस। मानव ही रहते हैं। लेकिन पहले स्फटिक की पारदर्शक दीवार ध्यान में न आने से यह गड़बड़ी हो गयी है।

विदूषक की सभी विशेषताएँ चारायण में हैं। वह कुरूप है। ब्राह्मण है। ब्राह्मण की शिक्षा की कमी, खाने में प्रेम और वस्तु प्राप्ति का लोभ उसके पास है। वह डरपोक है, लेकिन डींग हाँकता है। इसके आलावा साधारणतः विदूषक की पत्नी का वर्णन नहीं आता। लेकिन चारायण के पत्नी है और बच्चे भी हैं।

लेकिन चारायण विषदूक का धंधा करने के लिए तैयार है। रानी उसका जो मजाक उड़ाती है उसमें वह सहज ही फँसता है। रानी राजमहल के एक लड़के को स्त्री वेश पहनाकर नववधू की तरह सजाती है और चारायण का विवाह करने को तय करती है। नाटक का नायक विद्याधर मल्ल है जिसके दरबार में राजा मृगांक वर्मा जामिन के रूप में रह चुका है। ऐसा झूठ-मूठ बनाया गया है कि पुरोहित की बेटी चारायण से ब्याही गयी है। वधू का नाम 'अम्बरमालिका' (आकाशमाला) होकर उसके माँ बाप का नाम क्रमशः 'मृगतृष्णिका' (मृगजल) और 'शशशृंग' (खरगोश के सींग) हैं। यह सब मजाक है जिसे नायक जान जाता हैं पर उससे कुछ बोलता नहीं। चारायण को वधू की सब जानकारी मिलने पर भी उसे इस मजाक का पता नहीं चलता। वह झट से तैयार होता है और विवाह के लिए अनुमति देता है। विवाह विधि के शुरू रहते समय भी उसके ध्यान में कुछ नहीं आता। मंत्रोच्चार का अनुवाद करते समय लड़का अनजाने में भूल से अपना उल्लेख पुल्लिंग में करता है। फिर भी चारायण को यह जाल मालूम नहीं होता। उल्टे वह भूल को सुधारने लगता है; और ऐसा उपदेश देता है कि वधू अपना उल्लेख स्त्रीलिंग में करे। अंत में, जब लड़का उलझ कर अपना घूँघट दूर करता है तब कहीं चारायण के दिमाग में अपना मजाक उड़ाने की बात आ जाती है। फिर वह चिढ़ता है, कुहराम मचाता है और रानी की परिचारिका की बेटी मेखला; जिसने यह विवाह रचने में प्रमुख कार्य किया था, उस पर गालियों की बौछार करता है। चारायण चिढ़ता है, पैर पटकता है। लाठी उठाता है। लेकिन उसके क्रोध का कोई फायदा नहीं होता। सभी हँसते है। फजीहत होने पर चारायण वहाँ से खिसकता है और नवमालिका के कुंज की ओट में लज्जा से सिर झुकाकर खड़ा रहता है।

लेकिन हर्ष के आत्रेय की तरह चारायण मूर्ख नहीं है। फजीहत के कारण उसके अहंकार को ठेस लगी है। उसके दिमाग में विचार आ रहे हैं कि इसका बदला कैसे लिया जाय। तुरंत ही उसे एक युक्ति सूझती है। राजमहल के सुलक्षणा नामक दासी को वह अपने विश्वास में लेता है और अपना षड्यंत्र रचता है। षड्यंत्र इस तरह है—रात हो जाने पर सुलक्षणा केसर वृक्ष में छिप बैठेगी। जिस-प्रमोद वन में यह वृक्ष है वहाँ से मेखला जाने लगेगी तब ठीक मौके पर सुलक्षणा अंधकार का फायदा उठाकर नकियाकर बोलना प्रारंभ करे। उस आवाज से मेखला का ध्यान आकृष्ट होने पर सुलक्षणा को कहना होगा कि वैशाख के पूनम की रात को मेखला की मृत्यु होगी। वह आवाज और वे शब्द सुनकर मेखला अत्यंत घबड़ा जायेगी। वह मान लेगी कि पेड़ में रहने वाला कोई पिशाच बोल रहा है। वह हाथ जोड़ कर उस देवता की प्रार्थना करेगी और इस मृत्यु को कैसे टाला जा सकता, इसका उपाय बताने की बिनती करेगी। इतना हो जाने पर सुलक्षणा पहले जैसे ही आवाज में कहे कि गांधर्व वेद में प्रवीण

किसी ब्राह्मण की सन्मान और विधिपूर्वक पूजा करके, उसके पैर पकड़ने पर और उस की टांगों के नीचे से झुककर जाने पर मेखला की मृत्यु टल जायेगी। प्रसंग घट जाने पर मेखला को यह सब सच लगा। इतना ही नहीं, तो रानी भी धोखा खाती है। मेखला रानी के परिवार की है अर्थात् उसकी परिचारिका की बेटी है। तब उसका संकट टालने के लिए पेड़ के देवता ने जैसे बताया था वैसे यथाविधि करने के लिए वह तैयारी करली है। रानी को इतनी ही चिंता लगती है कि जरूरत के अनुसार उसी प्रकार का ब्राह्मण कैसे मिलेगा ? लेकिन राजा उन्हें आश्वासन देता है कि उसका मित्र चारायण गांधर्ववेदविचक्षण' है। वह रानी के लिए इस विधि में सहकार्य करने के लिए तैयार हो जायेगा। यह आश्वासन मिल जाने पर रानी और उसके परिवार की स्त्रियाँ विधि करने के लिए तैयार होती हैं। मेखला चारायण की ससन्मान पूजा करती है और हाथ जोड़कर उसके पैरों तले बैठती है। चारायण ऊँची आवाज में कहता है कि जब तक उसके जैसा गांधर्ववेदविचक्षण ब्राह्मण हिम्मत से खड़ा है तब तक कोई भी भूत मेखला का बाल भी बाँका नहीं कर सकता। सभी को धैर्य आता है। निश्चित विधि पूरा करने के लिए मेखला चारायण की टांगों के नीचे से झुककर रेंगती जाने लगती है। चारायण फूला नहीं समाता। वह बड़े जोरों से हर्ष के साथ बोलने लगता है। कैसे मैं इस मदन के रथ पर चढ़ा। अंतःपुर की एक क्रीडा दासी को कैसे मेरी टांगों के नीचे लाया-। मुझे धोखा देकर मेरा विवाह रचाया, उसका यह प्रतिशोध है। मेखला ! अब कैसे ?

इस प्रकार अचानक परिस्थिति प्रकट हो जाने पर मेखला र पड़ती है। रानी को भी शरम आती है और रुष्ट होकर कहती है, 'बेचारी का इस प्रकार व्यर्थ मजाक उड़ाने का कोई कारण नहीं था।' झट से चारायण जबाब देता है, 'राजा के मित्र के नाते तुमने मेरा चाहे जैसा मजाक उड़ाया। मेखला तुम्हारे परिवार की है इसलिए उसका मजाक उड़ाने का अधिकार मुझे भी हैं।' रानी और अन्य स्त्रियाँ क्रोध से जलने लगती हैं, रोने लगती हैं। लेकिन चारायण को उसकी परवाह नहीं। 'कैसे बनाया।' इस विजयोन्माद में वह डुबकियाँ लगा रहा है।

चारायण द्वेषी है और उसको क्रोध आने में भी देर नहीं लगती। नायक के विवाह प्रसङ्ग में खुद को पुरस्कार मिल जाना चाहिए इस प्रकार की माँग चारायण करता है। उस समय एक दासी उससे कहती है, 'तुम्हें पुरस्कार मिलने ही वाला है। अर्धचन्द्र'—चारायण चिढ़कर कहता है, 'राजमहल की तुम्हारी जैसी दासियों के मुँह पर ऐसा मारूँगा कि तुम्हारे यारों को तुम्हारी ओर देखते ही घृणा आयेगी।' एक दासी कहती है कि चारायण दुर्वासा की तरह कोपिष्ट है। चारायण के स्वभाव की ओर देखने पर दासी का यह कथन झूठ नहीं लगता।

वास्तव में विदूषक का इतना क्रोधी होना आश्चर्य की ही बात है। अपनी फजीहत होने पर आपे से बाहर होना और चिढ़ जाना स्वाभाविक है। लेकिन उसका बदला लेने के लिए षड्यंत्र रचना और प्रतिशोध लेने की योजना करना यह विदूषक के चरित्र-चित्रण की असंगति ही है। शकार की तरह आदमी क्रोधी, द्वेषी होता है और फिर भी उसका चित्रण विनोदी पात्र के रूप में किया जाता है। लेकिन चारायण शकार की तरह खलपुरुष नहीं है।

बारीकी से देखने पर चारायण के विदूषकत्व पर संदेह होता है। ऐसा लगता है कि वह धन्धे के रूप में विदूषक का स्वाँग रच रहा है। राजा जब स्वप्न में देखे हुए सुन्दरी को उद्देश्य कर भाव विवश होकर और प्रेम की बातें करने लगता है तब चारायण उसका मजाक उड़ाता है। प्रेम विचार से झन्ना उठे राजा को लड़खड़ाते चलते हुए देखकर चारायण उसे जड़ जुआ खींचने वाले बैल की उपमा देता है। राजा अपने ही विचारों में एक जगह गड़ा हुआ सा खड़ा है। उस पर चारायण कहता है, 'पेड़ की तरह एक ही जगह खड़ा रहकर तुझे बढ़ना हो तो लो यह मैं चला।' मेखला से बदला लेने का चारायण ने जो बुरा काम किया है उससे रानी की आँखों में भी पानी आता है। राजा को भी बुरा लगना स्वाभाविक है। लेकिन चारायण चिढ़कर कहता है, 'रोने दो उसे। कुछ मोती नहीं गिरते।' गेंद लेकर खेलने वाली नायिका का 'वह पीट रही है और थपका रही है' इन शब्दों में वह वर्णन करता है। मृगांकावली को पुरुष का वेश देकर उसका कुवलयमाला से विवाह रचाया जाता है। इस लिए कुवलयमाला से सम्बन्ध रखने में राजा को संकोच होता है। चारायण कहता है, 'साले की पत्नी अर्थात् अपनी आधी पत्नी है।' चारायण इतनी ही मूर्खता करके रुकता नहीं। बाद में इस झूठे विवाह का रहस्य प्रकट होकर जब कुवलयमाला सचमुच ही राजा से विवाहित होती है तब चारायण कहता है, 'अब वह आधी पत्नी नहीं रही, पूर्ण पत्नी हो गयी।'

चारायण ने सम्पूर्ण नाटक में जो मोती बिखेरे हैं उनमें बुद्धिमत्ता को झाँकी मिलती है। नायिका के सामने जाने में जब राजा हिचकिचाता है तब चारायण कहता है, 'चन्द्र की किरणें फैलने पर कुमुदिनी कितनी देर अपनी पंखुड़ियाँ मिटाकर बैठेगी?' नायिका से प्रेम करते समय रानी की ओर ध्यान न रहे ऐसा न हो इस प्रकार राजा को उपदेश करते समय वह कहता है, 'तेरह उधार की अपेक्षा नौ नगद अधिक अच्छा है।' दूसरे अंक में नायिका के पास जाने के लिए राजा को प्रोत्साहन देते हुए वह कहता है, 'चन्द्रकांत मणि की गुड़िया चन्द्र को देखकर पिघलेगी ही।' तीसरे अंक में राजा का नायिका के प्रति आकर्षण और रानी की ओर उपेक्षा देखकर चारायण विचार करने लगता है। सुस्त आदमी जिस तरह अध्ययन की ओर आनाकानी करता

है वैसे राजा का रानी की उपेक्षा करना उसे अच्छा नहीं लगता । फिर भी राजा को उत्तेजन देकर वह कहता है, 'पुरानी बहार नष्ट हुए बगैर नया बौर फूलता नहीं। कस्तूरी मृग को नये कोमल पत्ते तोड़कर खाने का शौक रहता है, थोड़े से खेत में टहलने में उसे मज़ा नहीं लगता ।' इसमें शक नहीं कि चारायण की बातों में बुद्धिमत्ता है। लेकिन राजा का कथन कि उसकी बातों के लिए सीमा नहीं, ठीक ही है। चारायण बातूनी है।

राजा के साथ उसके मित्र के रूप में चारायण घूमता है। प्रेम में फँसे हुए राजा को वह अनेक स्थलों में ले जाता है, निसर्ग दृश्यों का वर्णन करता है। लेकिन प्रत्यक्ष प्रेम प्रकरण में उसका कहीं भी हाथ नहीं है। नायिका की प्राप्ति में जिस प्रकार चारायण की प्रत्यक्ष मदद नहीं होती उसी प्रकार उसकी मूर्खता से प्रेम की गति में रुकावट निर्माण होकर अप्रत्यक्ष रीति से कथानक का विकास भी नहीं होता। वास्तव में वह राजा के सहचर के रूप में नाटक में आया है लेकिन उसकी भूमिका सांकेतिक है । उसका विनोद और उसकी बुद्धिमत्ता व्यावसायिक है। चारायण के आस-पास जिन प्रसंगों का निर्माण किया गया है वह केवल हास्यनिर्मिति के लिए ही है। उनका मूल कथावस्तु से कोई संबंध नही है; होगा तो दूरान्वय से।

वास्तव में चारायण की मूर्खता भी विदूषक के ढंग की नहीं है। अपने अपढ़ होने की, अशिक्षित होने की बात चारायण करता है। लेकिन साधारणतया उसके बोलचाल का ढंग सूज्ञ आदमी की तरह है। निसर्ग दृश्यों का काव्यमय वर्णन करने की शक्ति उसमें है। इतना ही नहीं तो अनुभव के विविध स्तरों के योग्य छन्दोबद्ध रचना करने की ताकत उसमें है। इसके अलावा, राजा की तरह वह संस्कृत कविता भी कह सकता है। राजा को आश्चर्य होता है और कहता है 'फिर तुम्हें तो अच्छी संस्कृत आती है।' चारायण धर्मशास्त्र का अवतरण कहकर दिखाता है। वह सुनने वाली मृगांकवर्मा की कंचुकी ने भले ही हँसकर हँसी मजाक उड़ाया हो, चारायण का दिया अवतरण प्राकृत में अनूदित होने पर भी अत्यंत शुद्ध है। चारायण के गांधर्व वेद में पारंगत होने का विश्वास राजा ने ही दिया है। मेखला से सम्मान लेते समय गांधर्ववेदविचक्षण के रूप में वह खड़ा रहता है। राजा के विवाह के समय चारायण गाता और नाचता है। उसका कोई मतलब नहीं है फिर भी यह नाच-गाने का प्रदर्शन केवल मूर्खता का नहीं दिखता। इसलिए ऐसा लगता है कि चारायण की मूर्खता उसकी विदूषकी धन्धे का एक भाग है। ऐसा कहने में कोई हर्ज नहीं कि विदूषकी टोपी पहनकर मजा करने का क्या फायदा है इसकी भी जानकारी विदूषक को है। वह कहता है, 'झूठी कल्पना करते हुए सूज्ञ फल को भूल जाते हैं और मर्कट की तरह मूल हाथ में लगने के बदले पत्ते ही उनके हाथ में आते हैं। उल्टे जो मूर्ख होते हैं वे

किसी फल के खेत के पहरेदार की तरह ठीक मूल को पकड़ते हैं और फल को प्राप्त कर लेते हैं।'

नाटक में चारायण के बारे में जो जानकारी मिलती है उसे देखने पर लगता है कि वह एक कुटुम्बवत्सल ब्राह्मण होकर उसे अपनी ब्राह्मणी से प्रेम है। शायद विदूषक के रूप में उसकी दरबार में नियुक्ति हो गयी होगी और उस धन्धे के अनुसार उसे बर्ताव करना पड़ता होगा। लेकिन इससे चारायण के विनोद और सूज्ञता को, जो सच्चे विदूषक की पार्श्वभूमि चाहिए थी, वह नहीं मिली है। यह और ही बात है कि उसकी बातों में चपलता की झाँकी नहीं दिखती। उसके बदला लेने की बुद्धि से, दूसरों का मजाक उड़ाने वाले विदूषक में अपना भी मज़ाक उड़ा लेने का जो सुन्दर खुला स्वभाव होता है वह चारायण को मिलना असंभव है। वैसे ही शकार का स्थान भी उसे नहीं मिल सकता; वह शकार की तरह दुष्ट नहीं है। इसके अलावा अपना मजाक उड़ाकर भी आनंदित होने की शकार की विनोदी वृत्ति भी उसमें नहीं है। चारायण खुशामदी है; पर उसे मजाक से प्यार नहीं है या अपना किया गया मजाक उससे सहा नहीं जाता। चारायण के चित्रण की यह असंगति विनोद की आवश्यक असंगति नहीं है। राजशेखर के इस विदूषक की बुनियाद अस्थिर है।



१४.

कर्णसुन्दरी का विदूषक

एषः सम्प्राप्तः भर्ता समं ब्राह्मणविटेन ।

—कर्णसुन्दरी, ४.

बिल्हण के 'कर्णसुन्दरी' नाटक में विदूषक है पर उसका कोई नाम नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि वह ब्राह्मण है। राजा और रानी उसका उल्लेख आदर से नहीं लेकिन ब्राह्मण के रूप में करते हैं। इस विदूषक के पत्नी है। सामान्यतया उसका उल्लेख ब्राह्मणी के रूप में आया है।

विदूषक की कुछ विशेषताएँ इस विदूषक में भी हैं। घनघोर युद्ध का वर्णन सुनते समय यह काँप उठता है। खाने का और दान लेने का लोभ इसमें है। रानी चिढ़ी थी। उसका क्रोध शांत हो जाने पर वह विदूषक को खूब मोदक भेजती है। फिर विदूषक का खुश हो जाना स्वाभाविक है। रानी का मन राजा के लिए अनुकूल करने के लिए और नायिका के प्रेम को उसकी अनुमति प्राप्त करने के लिए रानी को स्वस्तिवाचन की अर्थात् मिठाई की भेंट भेजनी चाहिए, ऐसा विदूषक का विचार है। राजा का नायिका से जब विवाह होता है तब विदूषक अपने लिए स्वस्तिवाचन की माँग करता है। पहले उसे राजा के पुराने अलंकार प्राप्त हुए ही हैं।

विदूषक मूर्ख का स्वाँग रचकर वैसे ही बातें करता है। राजा को स्वप्न में एक विद्याधरसुन्दरी दिखायी दी। उसके सौंदर्य पर वह मुग्ध हो गया और प्रेम की ज्योति हृदय में निर्माण हुई, अब तब सुख देने वाली वाटिका उसे पीड़ा देने लगी। जब राजा विदूषक से यह बात कहता है तब विदूषक कहता है, 'क्या वाटिका से तुम्हें इतनी पीड़ा होती है ? फिर उस वाटिका का क्या करना होगा ?' एक बार वह

राजा से पूछता है, 'एकाध सुन्दरी के साथ सरल उसके मुँह की तरफ देखकर बातें करने की अपेक्षा लोग उसकी तिरछी नजर क्यों पसंद करते हैं, कुछ समझ में नहीं आता !'

नायिका अपनी सखी से अपने प्रेम की दशा का वर्णन करके बताती रहती है। उस समय झटसे जाकर उसके सामने खड़े रहने की सलाह विदूषक राजा को देता है। राजा यह जानता है कि यह गलत साहस होगा। इसलिए वह विदूषक के कहने की तरफ ध्यान नहीं देता। विदूषक बच्चों का सा बर्ताव करता है। राजा भावविवश होकर उससे कुछ प्रश्न पूछता है तो विदूषक चुटकियाँ बजाने लगता है। युद्ध में राजा को जय मिलने की वार्ता आती है; तब विदूषक नाचने लगता है। राजा का कथन कि 'विदूषक मूर्ख है' सच है।

लेकिन विदूषक की मूर्खता और नटखटपन ऊपरी है, विदूषक का स्वाँग निभाने के लिए वह ऐसा बर्ताव करता है, इसके प्रमाण हमें नाटक में मिलते हैं। सामान्यतया विदूषक दासी से डरता रहता है और वह उसे जितना हो सके टालने का प्रयत्न करता रहता है। लेकिन यहाँ कदली के पत्ते और कमल के डंठल आँचल में छिपाकर ले जाती हुई दासी सामने विदूषक को देखते ही, चंद्र जैसे राहु को टालने का प्रयत्न करता है, वैसे वह विदूषक को टालकर खिसक जाने का प्रयत्न करती है। विदूषक उससे मिलता है और टोकता है। दासी टालमटोल के उत्तर देती है। विदूषक झट से उसके आँचल से ढकी हुई चीजों को बाहर खींचता है। फिर दासी को चुपके से स्वीकार करना पड़ता है कि कर्णसुन्दरी प्रेमज्वर से पीड़ित है और उसके उपचार के लिए यह शीतल सामग्री लेकर खुद जा रही है। नायिका के प्रेम का रहस्य इस प्रकार विदूषक उससे जान लेता है। अंत में यह रहस्य बनाये रखने की बिनती दासी से विदूषक को करनी पड़ती है।

राजा के सम्बन्ध में विदूषक कभी-कभी मजाक उड़ाता है तो अन्य समय में उसकी मदद करने का प्रयत्न करता है। प्रेम का झंझट छोड़कर रानी को मनाने की चेष्टा करने की सलाह विदूषक राजा को पहले देता है। वह राजा से कहता है, 'तुम्हारा क्या ? तुम रानी से मीठी मीठी बातें करोगे, उसके पैर पकड़ोगे और उसका मन अनुकूल बना लोगे। लेकिन रानी मुझको 'दुष्ट ब्राह्मण' ठहराये भी और सारे झंझटों का श्रेय मेरे मत्थे मढ़ा जायेगा।' बाद में जब पता चलता है कि कर्णसुन्दरी भी राजा से प्रेम करती है और यह वार्ता विदूषक राजा को सुनाता है तब आनन्दातिरेक से राजा को इस वार्ता पर विश्वास नहीं होता। विदूषक कहता है, 'प्रेम में फँसे हुए इन लोगों का सर चकराया हुआ रहता है। प्रत्यक्ष प्रमाण देने पर भी उनको

विश्वास नहीं होता !' राजा को इस वार्ता पर विश्वास दिलाने के लिए बाद में विदूषक जोर देते हुए कहता है 'अपनी ब्राह्मणी की कसम खाकर मै कहता हूँ।'

विदूषक इस प्रकार थोड़ा सा मजाक उड़ाता है फिर भी निश्चित कार्य करके वह राजा की सहायता करता है। वह राजा को वाटिका में ले जाता है। मदनोद्यान और तरंगशाला इन सुन्दर और शीतल स्थानों की ओर ले जाता है। दक्षिण वात, वृक्ष, फूला हुआ बौर आदि का वर्णन करता है। इस प्रकार विरहावस्था में राजा का मन रिझाने के लिए हमेशा जो बातें की जाती हैं उनको वह करता है।

दूसरे अंक में विदूषक राजा को लीलावन में ले आता है। वहाँ सरोवर के पास राजा की और कर्णसुन्दरी की भेंट होती है। तीसरे अंक में विदूषक राजा को संकेत स्थान की ओर ले जाता है।

विदूषक सजगता से रानी के आगमन की ओर ध्यान देता है और उसे आती हुई देखकर राजा को धोखे की सूचना देता है। रानी के आगमन का इसे ब्राह्मणबन्धु का अमंगल भविष्य सच होता हुआ देखकर, नायिका से बातें करने वाला राजा मन से चिढ़ता है, पर इसमें कोई शक नहीं कि विदूषक के ठीक समय पर सूचित करने से बाद का अप्रिय प्रसंग टल चुका है। लेकिन तीसरे अंक में राजा और कर्णसुन्दरी एकान्त में रहते हैं तभी रानी अचानक आकर खड़ी हो जाती है। राजा या विदूषक ने सोचा भी नहीं था कि ऐसा कुछ होगा। लेकिन अंतिम अंक में रानी ने राजा के विवाह का जो विचार तय किया रहता है उसके सामने चुपके से सिर झुकाने की सलाह विदूषक राजा को देता है। रानी की बहन का लड़का दिखने में कर्णसुन्दरी जैसा है। उसको कर्णसुन्दरी का वेश पहना कर राजा का विवाह उससे लगाकर राजा को धोखा देने की योजना रानी बनातो है। विदूषक इस बात को जान गया है। लेकिन इसकी व्यवस्था कैसे की जाय वह निश्चित होने से राजा को शांत रहने की सलाह विदूषक ने दी है; और वह ठीक भी है।

विदूषक राजा के लिए छोटे मोटे काम भी करता है। दासी की ओर से कर्ण-सुन्दरी के प्रेमज्वर की हकीकत उसने युक्ति से निकाली है। बाद में कर्णसुन्दरी का लिखा हुआ प्रेमपत्र राजा को पहुँचाने का कार्य भी वह करता है।

इस प्रकार प्रेम के मार्ग में राजा को प्रोत्साहन देकर प्रेमदशा का काव्यमय वर्णन करने में या निसर्ग शोभा की सुन्दरता का वर्णन करने में राजा के साथ हाथ बँटाकर और राजा के छोटे मोटे काम करके यह विदूषक अपेक्षित रूप से राजा की सहायता करता है।

लेकिन राजा और कर्णसुन्दरी का प्रेम सफल होकर अंत में उनका विवाह होता है। इन घटना का श्रेय विदूषक को नहीं दिया जा सकता। राजा और कर्ण-

सुन्दरी का जो मिलन होता है उसमें विदूषक का हाथ नहीं है। वह संयोग से हुआ है। यद्यपि रानी ने इस प्रेम का उलट-फेर करने की जिम्मेदारी विदूषक पर छोड़ दी है फिर भी यह बात सच नहीं है। राजा को धोखा देकर उसका विवाह अपने भानजे से रचने का रानी का षड्यंत्र असफल होता है बल्कि उल्टे उसकी फजीहत होती है। इसका श्रेय भी विदूषक को नहीं है क्योंकि उस लड़के को ला रखने का प्रबंध महामंत्री ने किया है। विदूषक इतना ही जान जाता है कि रानी का दाँव उस पर ही उलटने वाला है।

इसलिए प्रेमप्रकरण में इस विदूषक ने कुछ दाँव पेच किये हो या कुछ विशेष कार्य किया हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। विदूषक होने पर भी उसके चाल-चलन में अधिक विदूषकी विनोद नहीं मिलता। वास्तव में नाममात्र का विदूषक होने पर भी राजा का हमेशा के 'सहायक' के रूप में ही यह पात्र आया हुआ दिखता है। वह काव्यमय वर्णन करता है। संस्कृत भी बोलता है (अंक १, श्लोक ५०)। राजा से बातचीत करते समम अन्य विदूषकों की तरह 'वयस्य' ऐसी मैत्री की भाषा का उपयोग न करके दो एक बार राजा को 'देव' कहकर पुकारता है, अर्थात् सेवक स्वामी से जैसे बातचीत करता है वैसे वह करता है। यह देखने पर ऐसा लगता है कि विदूषक की अपेक्षा विट, चेट आदि राजा के जो सहायक होते हैं उनमें से ही यह एक है। रानी उसका वर्णन 'ब्राह्मण विट' के रूप में करती है। वह भी इस संदर्भ में ध्यान में रखने योग्य है।

● ● ●

१५. | चकोर

अहो विदग्धतायाः विलासः।

—चन्द्रलेखा, १

राजशेखर के कर्पूरमंजरी की तरह रुद्रदास का लिखा हुआ 'चन्द्रलेखा' प्राकृत सट्टक है। इसका विदूषक चकोर 'ब्राह्मण' के नाम से जाना जाता है।

ब्राह्मण होने से चकोर का पेटू होना आश्चर्यकारक नहीं। उसकी इस विशेषता का काफी वर्णन नाटक में आया है। चकोर की बातों में खाने का विषय हमेशा आता रहता है। चन्द्रिका नामक दासी के साथ काव्य की स्पर्धा करते समय वह जब महानगरी का वर्णन करता है तब वह जान-बूझ कर खाने से सम्बन्धित उपमाओं का प्रयोग करता है। इस वर्णन के अनुसार कोकिल का पंचम, खाकर मोटे हुए ब्राह्मण की आवाज की तरह है; उड़ने वाले भ्रमरों की पंक्ति रसोई घर से बाहर आने वाले धूम्र-रेखा की तरह है; और फूलों का सुगन्ध घी में तले सरसों की बास की तरह है। चिन्तामणि रत्न की सहायता से नायिका जैसे सुन्दर युवती राजा को देखने को मिली है, रत्न का इतना उपयोग काफी हो गया इसलिए तन्दुल के दाने निकाल लेने पर उसके छिलके फेंक देते हैं वैसे रत्न भी फेंक देने की सलाह चकोर राजा को देता है। राजा नायिका से मिलन के लिए तड़प रहा है। चकोर की जानकारी के अनुसार वह राजा की वाटिका के कूप के पास है। यह समझने पर वह राजा से कहता है, 'शक्कर डाले हुए दूध में पकाये चावल का मीठा पक्वान्न (खीर) अच्छी तरह तुम्हारे सामने परोसा गया है; फिर तुम रो धोकर ऐसा व्यर्थ समय क्यों बिताते हो?' नायिका का वर्णन करते हुए वह कहता है कि उसके शब्द कान को अमृत का 'पान' कराते हैं और उसकी मूर्ति आंखों के लिए 'दावत' है। कालिदास ने ऐसा जो कहा है कि पेटू को खाने के अलावा दूसरा सूझता नहीं वह कुछ झूठ नहीं।

चकोर डींग हांकने वाला भी है। चकोर ऐसा मत प्रगट करता है कि दासी का नगर वर्णन (अंक १) जूँठन पर टूट पड़ने के जैसा है। उसे सुझाना है कि खाद्य पदार्थों की उपमाओं का प्रयोग करके उसने जो वर्णन किया है वह मौलिक है। राजा की दायीं आँख फड़कती है; झट से ब्राह्मण के गर्व को दिखाते हुए चकोर कहता है कि यह सार्वभौमत्व का शकुन है। चकोर राजा से कवित्व शक्ति उधार लेने के लिए तैयार है। लेकिन चन्द्रिका अपनी काव्य-शक्ति उसे देने के लिए तैयार होने पर भी उससे उधार लेने के लिए चकोर तैयार नहीं है क्योंकि वह एक नीच जाति की दासी है। वह कहता है, 'पारिजात को छोड़कर एरंड की ओर कौन जायेगा ?' चकोर का विदग्धविलास देखकर एक बार राजा गौरव के शब्द कहता है। झट से चकोर गर्व से कहता है, 'व्यास का लिपिविन्यास, वाल्मीकि का पदबन्ध और बृहस्पति का षाड्गुण्यदर्शन देखकर अचरज होने का क्या कारण है ?' अर्थात् उनके गुण जिस तरह स्वाभाविक हैं उसी तरह चकोर की विदग्धता भी स्वाभाविक है।' इसीलिए जब रानी पान देकर चकोर का सत्कार करती है तब उसके बारे में राजा गौरव के साथ बोलने लगता है। उस वक्त उसे रोक कर राजा कहता है, 'नारद के आगमन पर इन्द्र की पटरानी भी क्या धन्य नहीं होती ? वसिष्ठ के उपस्थित होते ही क्या लक्ष्मी उनकी स्तुति नहीं करती ?' खुद की तुलना वसिष्ठ-नारद से करने वाले चकोर का डींग हाँकना निराला ही है।

चकोर विदूषक है; इसलिए वह कुछ विदूषकी ढंग से बर्ताव करता है। ऊपर महानगरी का उसने जो वर्णन किया है उसमें मूर्खता झाँकती है। चिन्तामणि रत्न में मन की इच्छा पूरी करने की शक्ति होगी इस पर उसका विश्वास नहीं बैठता। एकाध अचेतन पाषाण किसका दान करेगा ? नायिका के प्रकट हो जाने पर मणि का कुछ उपयोग बाकी न रहने से उसे फेंक देने के लिए वह राजा से कहता है। मगर राजा 'बैल' के रूप में चकोर को संबोधन करता है और चिन्तामणि देवगृह में पूजा के लिए भेज देता है। जब चकोर रानी के महल में रहता है तब वह और एक मूर्खता कर बैठता है। नींद में वह बड़बड़ाता है और इससे राजा की और नायिका की भेंट होने की बात का पता रानी को चलता है और वह नायिका पर और कड़ा पहरा रखती है।

इस प्रकार की मूर्खता या पागलपन चकोर के हाथ से क्यों होता है इसका उसने ही स्पष्टीकरण दिया है। चकोर कहता है, 'मैंने अपनी परम्परागत विद्वत्ता और कवित्वशक्ति को पेटी में बन्द करके रखा है। पेटी को ताला लगाकर ऊपर मुद्रा (सील) रखी है; और वह पेटी मेरी पत्नी के बिछौने के पास रख दी गयी है। हाँ, रास्ते के लुटेरों का कौन भरोसा रखे ?' दूसरों से अक्ल उधार माँगने की जो बारी चकोर पर आती है उसका कारण इस प्रकार का है।

चकोर का यह स्पष्टीकरण सुनकर हँसी आये बगैर नहीं रहती। अर्थात् यह केवल विनोद है, ऐसा चकोर के बारे में तो कहना पड़ता है, क्योंकि मूर्खता के ठीक उल्टे छोर पर होने वाली विद्वत्ता और चालाकी भी चकोर में है और उसका सबूत हमें नाटक में मिलता है। दासी की और उसकी काव्यस्पर्धा शुरू होती है तब कवित्व की शर्त बताते समय चकोर कहता है, 'श्लोक में यमक हो, वह स्रग्धरा वृत्त में हो और मलयानिल उसका विषय होना चाहिए।' काव्य रचना का चकोर का यह ज्ञान शुद्ध है। चिन्तामणि रत्न के अद्‌भुत सामर्थ्य में अविश्वास प्रकट करते हुए वह कहता है कि 'एकाध अचेतन मणि अपनी कामना पूरी करेगा ऐसा मानना खरगोश के सींग, आकाश-कुसुम और मृगजल को सत्य मानने जैसा है।' राजा को नायिका की जानकारी की जरूरत रहती है, लेकिन वह छुपकर रानी के बारे में ही पूछता है। चकोर कहता है, 'जिसको जड़ मालूम है उसे पत्ते दिखाने में क्या फायदा है? रत्नवाले के घर में माणिक के बदले कोई काँच बेचता है क्या? जिसने ब्रह्मानन्द का अनुभव किया है उसके सामने इन्द्रजाल क्यों फैलाया जाय?' बाद में राजा जब पूछता है कि क्या नायिका के बारे में कुछ वार्ता मिल गयी, तब चकोर बताता है, 'क्या कस्तूरी कभी देहात में बेची जाती है? क्या यज्ञ का प्रसाद (पुरोडाश) भिल्लों को दिया जाता है? क्या कभी पंचगव्य कौवे के सामने रखा जाता है?' अपना कथन प्रस्तुत करते समय ठीक दृष्टांत का भवन खड़ा करने का चकोर का यह सामर्थ्य देखकर और उसकी विदग्धता का यह काव्यमय विलास देखकर राजा दाँतों तले उंगली दबाता हैं। लेकिन चकोर कहता है' व्यास का लेखन-कौशल्य, वाल्मीकि की काव्य-प्रतिभा और बृहस्पति की नीतिविद्या का नैपुण्य इन बातों की जैसे आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं, वैसे चकोर की विदग्धता से भी आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए।'

राजा के सहचर के नाते चकोर यथाशक्ति उसकी सहायता करता है। चकोर ने ही ढ़के चिन्तमणि को खोलने की सूचना दी है। उसके जानबूझ कर प्रगट किये गये अविश्वास के कारण ही सब के मन में मणि की परीक्षा लेने की बात आती है। मणि की शक्ति देखने के लिए राजा के लिए जो इच्छा चकोर प्रगट करता है वह है कि स्त्री रत्नों में से सुन्दर रत्न राजा को प्राप्त हो जाय। अप्रत्यक्ष रीति से क्यों न हो राजा के सामने नायिका की उपस्थिति के लिए चकोर ही जिम्मेदार है।

राजा का मन नायिका की ओर आकृष्ट होने की बात चकोर के ध्यान में आने के लिए देर नहीं लगती। राजा को क्षीण होते हुए देखकर चकोर मन से सहानुभूति रखने लगता है। राजा के दु:खी मन को आराम दिलाने के लिए चकोर उसे निसर्गसौंदर्ययुक्त स्थानों की ओर ले जाता है, नायिका का वर्णन करता है और राजा को उसका वर्णन करने के लिए प्रोत्साहन देता है। राजा और नायिका इनकी भेंट हो जाने पर वे क्या बातचीत करते हैं यह जानने के लिए एक गुड़िया के गले में सजीव

मैना को बिठाकर वह उनके पास रखने की युक्ति रानी ने की है। मैना सब सुनती है और जैसे के वैसे रानी को सुनाती है। वह प्रेमसंवाद सुनकर रानी चिढ़ जाती है। लेकिन चकोर राजा को धीरज देकर उसे सांत्वना देता है। नायिका के बारे में राजा को समय समय पर वार्ता देने का कार्य चकोर करता है। नायिका का खत वह राजा को लाकर देता है। वाटिका के कुएँ के पास दोनों की भेंट कराने के लिए वह राजा को वहीं ले आता है। प्रथम भेंट में रानी को आते हुए देखकर वह ठीक समय पर इशारा देता है और उसके कारण रानी, राजा और नायिका को एक ही जगह नहीं देख पाती। यद्यपि एक बार नींद में बड़बड़ाकर राजा का रहस्य प्रकट करने की भूल चकोर के हाथ से होती है, लेकिन सुदैव से इस भूल का भयंकर परिणाम नहीं हो पाता।

नायिका के शरीर पर सामुद्रिक चिह्न देखकर चकोर ने जो भविष्य बताया था कि वह साम्राज्ञी होगी ज्योतिषशास्त्र के अनुसार योग्य है। चन्द्रिका नायिका का विश्वास कैसे प्राप्त करे यह चकोर द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण ठीक है। केवल नूपुरों की ध्वनि से चकोर रानी का आगमन ठीक जानता है। नायिका के महल में वीणा देखकर उसका यह अनुमान भी ठीक है कि वह संगीतकला जानती है। इसका मतलब यह हुआ कि राजा की यथाशक्ति सहायता करने के साथ ऊपरी उदाहरणों में चकोर की ठीक अवलोकन और ठीक तर्क करने की जो शक्ति प्रकट हुई हैं उसे देखने पर चकोर की चपलता के बारे में शक नहीं होता।

वास्तव में यह दिखता है कि चकोर का विदूषकत्व सत्य नहीं है। निसर्ग दृश्यों का वर्णन करते समय संस्कृत नाटकों की परम्परा के अनुसार वह बोलता है फिर भी उसकी यहाँ की समासघटित भाषा और काव्यालंकार ऐसे नेपथ्य-वर्णन के लिए सीमित नहीं। चकोर हमेशा अलंकारप्रचुर भाषा में बोलता है। जान-बूझकर विनोद निर्माण करना हो तो हास्यकर उपमा-दृष्टांतों की योजना करता है, अन्यथा नहीं। उसने महानगरी का लम्बा सा वर्णन किया है। चन्द्रोदय का वर्णन करते समय ऐसा लगता है कि वह वैतालिकों से और दासी के साथ मानो कवित्वशक्ति की होड लगा रहा है। नायिका ने उसकी ओर कैसे देखा इसका किया हुआ वर्णन (अंक २. ९. ५७-५९) 'पर्यायोक्ति' अलंकार का सुन्दर उदाहरण है। नायिका का वर्णन करने में वह राजा की मदद करता है (अंक २. २४-३२) और दोनों मिलकर बारी बारी से छंदोबद्ध श्लोक कहकर यह वर्णन कहते हैं। राजा द्वारा उल्लिखित 'विदग्धता का विलास' पांडित्य का मनोरम विलास चकोर में हमें सचमुच ही दीख पड़ता है। ये लक्षण असली विदूषक के नहीं है बल्कि विदूषक का धन्धा करने वाले ब्राह्मण के हैं।

● ● ●

१६.

महोदर

कथं अद्य नर्तितव्यम् । अथवा ईदृशी एव दुर्जीविका शैलूषोपजीवकानाम् ।

—अद्भुतदर्पण, प्रस्तावना (विदूषक)

न केवलं मम कामतन्त्रेण सचिवः अपितु महाराज्यतन्त्रेषु अपि ।

अद्भुतदर्पण, ६.

महादेव कवि के उत्तरकालीन संस्कृत नाटक 'अद्भुतदर्पण'—जो रामायण की कथा पर आधारित है—में विदूषक नट और नाटकीय सूत्रधार और विदूषक का संवाद है। नट विदूषक का नाम रोमन्थक है। नाटक में उसकी ओर रावण के महोदर नाम के नर्मसचिव की भूमिका है। सूत्रधार को ब्राह्मण के स्वभाव की पूरी कल्पना है और उसने विदूषक को खूब मोदक खिलाकर नाटक का काम करने के लिए पहले से ही तैयार करके रखा है। विदूषक इतने भरके लिए खुश है; क्योंकि नाटक का पूर्वरंग प्रारंभ होने के पहले ही ब्राह्मण के रूप में उसकी पेट पूजा हुई है और इस तरह अग्र पूजा का मान उसे मिला है। फिर भी उसकी भिन-भिन है ही। पेट भर जाने पर नाचने की कल्पना उसे अधिक सुखकारक नहीं लगती। शरीर को पीड़ा देने वाले और स्वास्थ्य खराब करने वाले नट के इस धंधे पर उसे गुस्सा आता है। सूत्रधार को वह ऐसा टोकता है कि उसे ही नाचने का शौक है। चिढ़े हुए विदूषक को समझाने के लिए सूत्रधार उससे कहता है कि पाँचवें अंक में रावण के प्रवेश होने तक विदूषक को कोई काम नहीं है। इसके अलावा, ब्राह्मण होने के कारण उसकी ओर 'अंगहार' अर्थात् नर्तन का कोई कार्य न होकर केवल भाषण करने का कार्य है। इतना आश्वासन मिल जाने पर विदूषक छुटकारे की साँस लेता है और अपने अभिनय की बारी आने तक झपकी लेने के लिए वह चला जाता है।

प्रस्तावना में भी नट की भूमिका में पेटूपन, सम्मान की इच्छा, शरीर को पीड़ा

न देने की वृत्ति, ऐसे विदूषक की विशेषताएँ दिखाई देती हैं। पाँचवें अंक में महोदर की भूमिका में वह दोनों हाथों से अपनी तोंद सँभालते हुए ही प्रवेश करता है। अपने मज्जा, चरबी, पक्व मांस और मोदक जैसे मिष्टान्न को अपने पेट में हजम किया है, लालची की तरह ठूँस ठूँस कर खाने से उसका मुँह बिगड़ गया है। वह अच्छी तरह साँस भी ले नहीं सकता। अर्थात् अत्यंत धीरे से और व्याकुल अवस्था में वह आहिस्ता-आहिस्ता रंगमंच पर आता है। विदूषक का यह दृश्य परंपरा के अनुकूल है। उसका महोदर अर्थात् बड़े पेटवाला यह नाम भी उसके हास्यकर अभिनय को शोभा देने वाला है।

नाटक की कथा में एक 'मायानाटिका' दिखायी गयी है। उसमें लक्ष्मण लंका को घेर लेने का आदेश बंदरों को देते हैं। वह सुनकर महोदर घबड़ाता है। पास ही बैठा रावण जब उससे कहता है कि यह नाटक है जिसमें अतीत की घटना दिखायी गयी है, तब कहीं जाकर महोदर का डर कम होता है। इस प्रसंग से विदूषक का हमेशा का डरपोक स्वभाव व्यक्त हुआ है।

रावण का विद्युज्जिह्व नामक एक मंत्री है। उसको अशोक बन की सीता की वार्ता लाने का कार्य सौंपा गया है। अब अशोकवन में पुरुषों को जाने के लिए मना होने के कारण विद्युज्जिह्व महोदर से मिलता है और उससे यह देखकर आने के लिए कहता है कि सीता क्या कर रही है? पुरुष को मना होने पर भी अपने को जाने के लिए कहा है जिसका मतलब यह है कि खुद 'पुरुष' नहीं है ऐसा गलत समझकर महोदर झट से विद्युज्जिह्व पर चिढ़ता है और गुस्से से उससे पूछता है, 'क्या तुम्हें ऐसा लगता है कि मैं पुरुष नहीं हूँ? हर साल प्रसूता होने वाली मेरी पत्नी-ब्रह्म-राक्षसी कुंडोदरी मेरा पौरुष अच्छी तरह जानती है। समझे!' महोदर के इन अनावश्यक शब्दों में उसकी जड़ता, डींग हाँकना और वाहियात विनोद आदि विदूषक के गुण सहज ही प्रकट हुए हैं।

लेकिन ऐसा लगता है कि महोदर को सांकेतिक विदूषक बनाने के लिए ही ऊपरी गुणों के दर्शन कराये गये हैं। विदूषक का अपना नाम होने पर भी नाट्यलेखन में उसका उल्लेख विदूषक इस सामान्य नाम से ही अधिकतर हुआ है। लेकिन महोदर को जान-बूझकर कहीं भी विषदूक नहीं कहा है। इसके अलावा परंपरा के अनुसार विदूषक नायक का सहचर रहता है; लेकिन यहाँ वह प्रतिनायक का अर्थात् रावण का सहचर है और ऐसा भी है कि महोदर को 'नर्ममित्र' 'नर्मसुहृद' ऐसा पुकारने पर भी विनोद की अपेक्षा उसकी चातुरी का, सूज्ञता का चित्रण नाटक में प्रमुख रूप से हुआ है। जिस ब्राह्मण राक्षस कुल में रावण का जन्म हुआ है उस कुल का पुरोहित महोदर है। काम-शास्त्र में वह प्रवीण है; 'कामतंत्र सचिव' शब्द से रावण ने उसको संबोधित किया है। रावण युद्ध में जिन स्त्रियों को जीतकर या पकड़कर ले आया है उन्हें रावण के अनुकूल

बनाने में अब तक महोदर को पूर्णतः यश मिला है। महोदर की शक्ति देखकर, विद्युज्जिह्व की सहायता लेकर या अपनी जिम्मेदारी पर सीता को अनुकूल बनाने का कार्य रावण ने उस पर सौंपा है।

रावण सीता के लिए व्याकुल हुआ रहता है और उसके सहचर के रूप में महोदर उसके साथ घूमता रहता है। अपनी यह भूमिका करते समय महोदर की व्यावहारिक सूझता अच्छी तरह से दीखती है। अगर रावण उसकी सुनता तो शायद उसका नाश टल जाता। क्योंकि महोदर का ध्यान सीता को अनुकूल बना लेने के तात्कालिक उद्देश्य को साथ करने की अपेक्षा इस ओर अधिक है कि रावण की इस काम प्रेरणा का अंत क्या होगा? उसे ऐसा लगता है कि रावण का सीता से मिलन की इच्छा, अँधेरा और चांदनी के संयोग की इच्छा करने जैसा है। वह रावण से स्पष्ट कहता है कि उसकी यह इच्छा 'दुर्मनोरथ' अर्थात् बुरी, दुष्ट इच्छा है।

इस बात पर महोदर ने रावण के साथ जो वादविवाद किया है उसमें उसकी चातुरी, तर्ककुशलता और ज्ञान स्पष्ट दिखता है। वह रावण को ऐसी सलाह देता है कि सच्ची सीता को या उसकी माया की प्रकृति को राम की ओर वापस भेजकर युद्ध टाल दे। लेकिर रावण को डर लगता है कि राम से संधि करने पर शर्त के रूप में लंका का आधा राज्य विभीषण को देना पड़ेगा। इस पर महोदर कहता है कि संधि की शर्त की पूर्ति करते समय विभीषण को कुछ दूर का प्रदेश देने पर लंका विभाजन का प्रसंग नहीं आयेगा। लेकिन रावण को लगता है कि विभीषण दूर होने पर भी वहाँ से वह उसे सता सकता है। तब महोदर रावण से विश्वास के साथ कहता है कि राम या काम में से एक को जीते बगैर शांति स्थापित करना रावण को असंभव है। राम को जीतने की संभावना करीब करीब नहीं है; इसलिए काम को जीतकर रावण का अपने नाश को रोकना ही ठीक है। रावण की इस उलझन को महोदर तर्क उपस्थित कर स्पष्ट करता है। वह कहता है; राम जब तक जिंदा हैं तब तक सीता का प्रेम तुम्हें मिलना असंभव है। और अगर राम मर गये तो सीता भी जिंदा रहने वाली नहीं है। तात्पर्य, राम 'रहें या न रहें', सीताप्राप्ति तुम्हारा दुष्ट मनोरथ कभी भी सफल होने वाला नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि महोदर का यह तर्कशास्त्र अत्यंत योग्य है।

सीता को धोखा देने के लिए रावण ने जिस कपट नाटक की योजना की है उसका अभिनय चालू रहते समय महोदर का और उसका उपर्युक्त संभाषण होता है। राम के पास 'अद्भुतदर्पण' अर्थात् जादू का आइना होने के कारण उन्हें और लक्ष्मण को मायानाटिका जैसे प्रत्यक्ष दीखती है वैसे यह संभाषण भी सुनायी देता है। राम और लक्ष्मण दोनों ही महोदर की प्रशंसा करते हैं।' लक्ष्मण कहते हैं, 'रावण की अपेक्षा महो-

दर अधिक बुद्धिमान है ।' लेकिन रावण काम के बाणवेग से विद्ध हुआ है । सीता के बारे में उसकी इच्छा सीता से परे जा चुकी है । वह कुल-पुरोहित के रूप में महोदर के पैर छूता है और सीता को अनुकूल कर लेने का कोई उपाय ढूँढ़ निकालने के लिए आर्त बिनती महोदर से करता है ।

रावण को ठीक रास्ते पर लाने का उपाय समाप्त हो जाने पर महोदर, उसके कामतंत्र सचिव के रूप में और सहचर के रूप में, उसकी सहायता करने के लिए और धीरज देने के लिए जो कुछ करते बनता है वह करने का प्रयत्न करता है । उसको ऐसा लगता है कि राम को पकड़कर लाना ही ठीक हो जाता । लेकिन सीता नाराज न हो इसलिए रावण उस दृष्टि से कुछ प्रयत्न नहीं करता । रावण के पास अद्भुत शक्ति है; उसकी सहायता से मायावी सीता निर्माण करके उसे राम की ओर वापस भेजना रावण को कठिन नहीं था । लेकिन यह कल्पना भी रावण को अच्छी नहीं लगती क्योंकि उससे सीता अनुकूल होगी ही इसकी निश्चिति नहीं है । तब महोदर ऐसा सुझाता है कि बलात्कार का उपयोग किया जाय । रावण इस सूचना का भी विरोध करता है । उसके पितामह ब्रह्मा ने उसे आदेश दिया था कि किसी स्त्री पर उसकी इच्छा के बगैर बलात्कार करना ठीक नहीं । राम का रूप लेकर सीता को वश कर लेना भी व्यर्थ होता है; क्योंकि सीता के सामने रावण का यह षड्यंत्र नहीं चलता । युद्ध लंका के द्वार तक आ जाने पर ऐसे समय रावण की इच्छा रहती है बंदिनी सीता आनंदित रहे । सीता के मुख पर केवल आनंद का भाव दिखने पर भी उतने से संतुष्ट होकर उत्साह से युद्ध में कूदने के लिए रावण तैयार है ।

रावण की यह मनःस्थिति देखकर महोदर उसे क्रीडापर्वत के छोर तक ले जाता है । वहाँ त्रिजटा और सरमा ने मायानाटिका का प्रयोग सिद्ध किया है और उसमें युद्धभूमि का प्रसंग कपट रूप से सीता को दिखाने की योजना की है ।

जब यह कपट नाटक शुरू रहता है तब महोदर रावण का मन रिझाने का प्रयत्न करता है । सीता के बारे में कई अभिलाषाएँ रावण के हृदय में नाचने लगती हैं । उसका ध्यान नाटक के दृश्य की ओर महोदर आकृष्ट कर लेता है । वृक्षों में से आते समय टहनियों में लट अटक कर रावण का मुकुट नीचे गिरा था । यह मानकर कि मर्कट का उपद्रव है रावण चिढ़ गया था । वास्तविक कारण समझा कर महोदर रावण का मन शांत करता है । नाटक के एक दृश्य में मायावी लक्ष्मण एक वाक्य ऐसा कहता है कि, 'रावण अंतःपुर में छिपकर युद्ध टाल देना चाहता है, इसमें उसका डरपोकपन दिखायी देता है ।' रावण वह सुनकर चिढ़ता है; लेकिन महोदर उससे कहता हैं, 'तुम्हारे जैसे त्रैलोक्य वीर का प्रभाव एक मर्त्य मानव का लड़का क्या जाने ?' केवल इतना ही नहीं कि वह रावण को सांत्वना देता है मगर उसकी प्रशंसा

भी करता है कि रावण के पराक्रमों का वर्णन सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार महोदर का प्रयत्न है कि रावण को आनन्द मिले।

लेकिन नाट्याभिनय का साधारणतया रुख रावण को सुख देने वाला नहीं है। रावण का आहिस्ता आहिस्ता होने वाला अधःपात और उसकी सेना का नाश मायानाटक में दिखाया है। रावण, त्रिजटा और सरमा पर चिढ़ता है और उन्होंने अपनी वंचना की है इसलिए उनको मार डालने के लिए प्रवृत्त होता है। रावण का ध्यान किसी में भी उलझा कर रखने की महोदर पूरी चेष्टा करता है। लेकिन यह कितनी देर तक चलेगा ? उस दिन त्रिजटा और सरमा के ग्रह अच्छे नहीं थे। लेकिन माया नाटक में कुंभकर्ण और इन्द्रजित का वध देखकर उस धक्के से रावण को मूर्च्छा आती है और इन दोनों की मृत्यु टल जाती है। महोदर रावण को धीरज देता है। इसके बाद रावण झट से युद्ध भूमि की ओर जाता है।

समर भूमि में प्रवेश करने के पहले रावण का अभीष्टचिंतन किया जाता है और उस निमित्त ब्राह्मणों को स्वस्तिवाचन दिया जाता है। अपने हिस्से के स्वस्ति-वाचन के मोदक खाकर फिर से लौट आने का आश्वासन महोदर ने दिया है लेकिन रंगमंच पर फिर लौट आने का मौका महोदर को मिला नहीं है। युद्ध में रावण का पराजय होता हैं। राम सब राक्षसों का संहार करते हैं। नाटक में ऐसा कहा है कि केवल ब्राह्मण होने से या पुरोहित होने से महोदर या उसके जैसे थोड़े लोग बच गये हैं। उन्हें ऐसा कड़ा आदेश दिया गया है कि वे अपने बर्ताव की नीति बदल दें। महोदर को फिर आने का कुछ कारण नहीं रहा है।

वास्तव में, महोदर मूलतः कामतंत्रसचिव है। उसे राजनीति का अच्छा ज्ञान है। उसकी विदूषक की भूमिका उधार ली गयी सी लगती है। परम्परा के अनुसार उसे विदूषक बनाने पर भी उसमें कुछ सजीवता नहीं है।

●●●

अनुक्रमणिका

अंक पृष्ठसंख्या के सूचक हैं।

(र)

(ल)

(व)

(श)

———

संदर्भ-साहित्य

(अ) मूल नाटक

अश्वघोष : ब्रुखस्टुके बुद्धिस्टिचेर ड्रामेन, लुडर्स, १९११।

कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तल; एम० आर० काले, सातवीं आवृत्ति, बम्बई १९३४;

—ए० बी० गजेन्द्रगडकर, चौथी आवृत्ति, सूरत, १९५०;

—शारदारंजन रे, पाँचवी आवृत्ति, कलकत्ता, १९२०।

मालविकाग्निमित्र; एम० आर० काले, तीसरी आवृत्ति, बम्बई, १९३३।

विक्रमोर्वशीय; एस० पी० पंडित, बम्बई, १८७९।

—निर्णयसागर, बम्बई, १९१४;

—आर० डी० करमरकर, दूसरी आवृत्ति, पूना, १९३२।

क्षेमीश्वर, आर्य : चण्डकौशिक, कलकत्ता, १८८४।

जगन्नाथ पंडित : रतिमन्मथ, गोपाल नारायण, बम्बई, (?)

बिल्हण : कर्णसुन्दरी, काव्यमाला ७, बम्बई, १८८८।

भवभूति : मालतीमाधव, एम० आर० काले, (अंग्रेजी) दूसरी आवृत्ति, बम्बई १९२८ (पहली आवृत्ति, १९१३)।

उत्तररामचरित; एस० के० बेलवलकर, (मराठी, अनुवाद का व टिप्पणी) पूना १९१५, जी० के० भट, अंग्रेजी संपादन, सूरत, १९५३।

भास : भासनाटकचक्र, संपादन, सी० आर० देवधर, ओरिएन्टल बुक एजन्सी, पूना १९३७।

अविमारक; कर्णभार; चारुदत्त; प्रतिज्ञायौगन्धरायण; बालचरित; स्वप्नवासवदत्त; जी० के० भट, (अंग्रेजी) सूरत, १९५२; (मराठी) बम्बई, १९५७।

महादेव : अद्भुतदर्पण, काव्यमाला, क्र० ५५; बम्बई, १८९६।

राजशेखर : कर्पूरमञ्जरी, स्टेन कोनोव; अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणी, सी० आर० लान्मन्, हारवर्ड ओरिएन्टल सीरीज, कैंब्रिज, मॅसॅच्युस्टेटस, १९०१;

—काव्यमाला, क्र० ४, बम्बई, १८८७।

विद्धशालभञ्जिका, कलकत्ता, १८७३, १८८३।

रुद्रदास : चंद्रलेखा, ए० एन० उपाध्ये, भारतीय विद्या सीरीज, पु० ६, बम्बई, १९४५।

विजयभट्टारिका : कौमुदीमहोत्सव, शकुन्तला राव शास्त्री; बम्बई, १९५२।

शूद्रक : मृच्छकटिक, आर० डी० करमरकर, पहली आवृत्ति, पूना, १९३७।

हर्ष : नागानन्द, आर० डी० करमरकर; दूसरी आवृत्ति, बम्बई, १९२३।

प्रियदर्शिका, एम० आर० काले, पहली आवृत्ति, बम्बई, १९२८।

रत्नावली, एम० आर० काले, दूसरी आवृत्ति, बम्बई, १९२५, (पहली आवृत्ति, १९२१)।

(आ) मूल शास्त्र-ग्रन्थ

—अग्निपुराण, आनंदाश्रम, पूना, १९००।

धनञ्जय : दशरूपक, हास, न्यूयॉर्क, १९१२।

भरत : नाट्यशास्त्र, गायकवाड्स ओरिएन्टल सीरीज, खण्ड १, १९२६ (दूसरी आवृत्ति, १९५६); खण्ड २, १९३४; खण्ड ३, १९५४, बडौदा;

—काव्यमाला, क्र० ४२, बम्बई १८९४;

—काशी संस्कृत सीरीज, क्र० ६०, बनारस, १९२९;

—अंग्रेजी अनुवाद, मनोमोहन घोष, बिब्लिओथिका इंडिका, अंक १५५९; कलकत्ता, १९५१।

मम्मट : काव्यप्रकाश, झलकीकर की टीका, पांचवी आवृत्ति, पूना, १९३३।

रामचन्द्र, गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण, गायकवाड्स ओरिएन्टल सीरीज, क्र० ४८, बडौदा, १९२९।

रुद्रभट्ट : शृङ्गारतिलक, काव्यमाला, क्र० ३, बम्बई, १८८७।

वात्स्यायन : कामसूत्र, काशी संस्कृत सीरीज, क्र० २९; बनारस, १९२९;

—सम्पादन, अंग्रेजी अनुवाद, डॉ० बी० एन० वसु (संशोधक) एस० एल० घोष, पहली आवृत्ति, १९४३, सहावी, १९४५, कलकत्ता।

विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, निर्णयसागर, बम्बई १९२२;

– पी० व्ही० काणे, बम्बई, १९२३।

शारदातनय : भावप्रकाशन; गायकवाड्स, ओरिएन्टल सीरीज, क्र० ४५, बडौदा, १९३०।

शिङ्गभूपाल : रसार्णवसुधाकर; त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, क्र० ५०, त्रिवेन्द्रम, १९१६।

सागरनन्दी : नाटक लक्षणरत्नकोश, खण्ड १, माइल्स डिल्लन्, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १९३७।

(इ) संदर्भान्तर्गत मूल ग्रन्थ

ऋग्वेदसंहिता; वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३–१९४१।

कथासरित्सागर, सोमदेव; बम्बई १८८९, आवृत्ति, १९३०।

काठक संहिता; सम्पा० श्रॉडर, लिपत्सिग्, १९००–१९१२ ।
कात्यायन श्रौत्रसूत्र; चौखम्बा संस्कृत सीरीज, ४१५, बनारस, १९३३ ।
कुमारसम्भव; **कालिदास**; निर्णयसागर प्रेस, दूसरी आवृत्ति, बम्बई, १८८६ ।
कौतुकसर्वस्व; (निर्दिष्ट, कीथ, संस्कृत ड्रामा) ।
धूर्तसमागम; **ज्योतिरीश्वर**; अन्थॉलॉजिआ संस्कृतिका, सम्पा० लासेन्, बॉन्, १८३८ ।
निरुक्त; **यास्क**; सम्पा० भडकमकर, बम्बई, १९४२ ।
पउमचरिय; **विमलसूरि**; सम्पा० एच० याकोबी, भावनगर, १९१४ ।
पद्मचरित; **रविषेण**, सम्पा० दरबारीलाल, बम्बई, १९२८ ।
मनुस्मृति; बम्बई, १९५० ।
मेघदूत; **कालिदास**; निर्णयसागर प्रेस, आठवीं आवृत्ति, बम्बई, १९१२ ।
लटकमेलक; **शंखधर**; काव्यमाला, क्र० २०, बम्बई, १८८९ ।
लाट्यायन श्रौतसूत्र; बिब्लिओथिका इंडिका, न्यू सीरीज, क्र० १८१, कलकत्ता, १८७०
व्याकरण-महाभाष्य; **पतञ्जलि**, सम्पा० कीलहॉर्न, बम्बई, १८८०, १८८३ ।
हास्यार्णव; **जगदीश्वर भट्टाचार्य**, दूसरी आवृत्ति, कलकत्ता, १८८६ ।

(ई) विवेचन : संस्कृत नाट्य और रंगभूमि

Ghosh, Manomohan : *The Natyashastra*, Translated into English, Bibliotheca Indica, No. 1559, Calcutta, 1951; *Contributions to the History of Hindu Drama : Its Origin and Diffusion*, Calcutta, 1957.

Jagirdar, R. V. : *Drama in Sanskrit Literature*, Bombay, 1947.

Keith, A. B. : *The Sanskrit Drama*, Oxford 1924.

केतकर, कु० गोदावरी वासुदेव : भारतीय नाट्यशास्त्र, चिपलूण, १९२८ ।

Koparkar, D. G. : *Prachya, the Dialect of the Vidushaka*, Bulletin of the Deccan College Research Institute, Vol. IV, Poona, 1943;
Were the Vidushakas of Kalidasa Non-vegetarian ?
M. G. E. S. Girls's College Magazine, Vol. II, Poona, March 1948.

I acote : *Essay on Gunadhya and the Brihatkatha;* English Translation by T. A. Bard, Bangalore, 1923.

Parikh, J. T. : *Sanskrit Comic Characters,* Surat 1952;

The Vidushaka : Theory and Practice, Surat, 1953.

The Brahamacharin in the first act of the Svapnavasava datta- : Bulletin of the Chunnilal Gandhi Vidyabhavan, No. 2, Surat, August 1955.

Pisharoti, Rama K. : *Kerala Theatre,* Journal of the Annamalai University, Vol. III, No. 2, Oct. 1934.

Ramanujaswami, P. V. : *Humour in Sanskrit Plays,* Journal of Sri Venkateshvara Oriental Institute, Vol. V, No. 1, Tirupati, Jan.-June, 1944.

Rao U, Venkata Krishna : *Bhasa's Vidushakas,* poona Orientalist, Vol. XVIII, Jan.-Oct. 1953.

Schuyler, M. : *The origin of the Vidushaka and the employment of this character in the plays of Harshadeva,* Journal of the American Oriental Society, No. XX, Yale University Press, New Haven, 1899.

Upadhye, A. N. : *Chandralekha,* Introduction; Bombay, 1945.

Vidushaka's Ears, Indian Historical Quarterly, Vol, VIII, No. 4, Dec. 1932.

(उ) विवेचन : सामान्य

Agrawal, V. S. : *Gupta Art,* U. P. Historical Society, Lucknow, 1947;

Journal of the India Society of Oriental Art, Vol. X, Calcutta, 1942.

Aristotle : *The Poetics of Aristotle,* ed. by S. H. Butcher, London, 1898; 4th Ed. 1929.

Bhandarkar, R. G. : *Wilson Philological Lectures*, Bombay, 1914.

Bradley, A. C. : *Oxford Lectures on Poetry*, London, 1934; 1950,

Butcher, S. H. : *Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art*,(first ed. Edinburgh, 1894); Fourth edition, Dover, New York, 1951 (Reprint).

Chambers, E, K. : *The Mideaval Stage*, Vol. I and II, London, 1925.

Cornford, F. M. : *The Origin of Attic Comedy*, Cambridge, 1934.

Dowden, Edward : *Shakespeare, His Mind and Art*, London, 1880; 16th Ed.

Eastman, Max : *The Enjoyment of Laughter*, London, 1937,

Elliot, Sir Walter : *On the Characteristics of the Population of Central India*, Journal of the Ethnological Society of London, N. S. i. 94; 1869.

Feibleman, James : *In Praise of Comedy*, London, 1939.

Gordon, George : *Shakespearian Comedy and other Studies*; London 1944.

Leacock, Stephen : *Humour and Humanity*, London, 1937.

Menon, V. K. Krishna : *A Theory of Laughter*, London, 1931.

Meredith, George : *An Essay on Comedy* Mickleham Edition, London, 1927; Reprint, 1934,

Morgan, Maurice : *An Essay on the Dramatic, character of Sir John Falstaff*, The world's Classics, CCXII, Shakespeare Criticism, A Selection; Oxford Un. Press; First ed. 1916.

Plato : *Philebus*, The Works of plato, translated by George Burgess, London, 1883.

Priestley, J. B. : *The English Comic Characters,* London, 1928.

Shakespeare : *As You Like It.* The Arden Shakespeare, London, 1920.

Shaw, Bernard : *Back to Methuselah,* Preface; London, 1949.

Thorndike, Ashley H. : *English Comedy,* New York, 1920.

Velankar, H. D. : *Hymns to Indra in Mandala X.* Journal of the University of Bombay, Vol, XXII, Part 2, Seyt. 1953.

Wells, Carolyn : *An Outline of Humour,* New York, 1923.
